राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी एच. डी. के लिए स्वीकृत

तथा

प्रकाशन-सहायता-प्राप्त थीसिस

संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास

लेखक —

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा एम ए., एल एल. बी , पी एच डी

प्राध्यापक सस्कृत विभाग

गवर्नमेण्ट कालेज

अजमेर

प्रकाशकः—
ब्रह्मानन्द शर्मा
प्राध्यापक सस्कृत विभाग
गवर्नमेण्ट कालेज
अजमेर

मुद्रकः
वैदिक यन्त्रालय,
अजमेर

श्रद्धेय गुरुवर

श्री विद्याधरजी शास्त्री

को

सादर समर्पित



प्राक्कथन

परम हर्ष है कि साहित्यक्षेत्र मे भारत के मूर्धन्य आचार्यो द्वारा हृदय से स्वागतीकृत यह शास्त्रीय प्रबन्ध अब एक मुद्रित ग्रन्थ के रूप मे सब विद्याकेन्द्रो के लिए सुलभ हो रहा है। यह प्रबन्ध कोई सामान्य प्रबन्ध नही अपितु चिन्तनजन्य सूक्ष्म विवेचन से सम्पन्न अलकारशास्त्रसम्बन्धी एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके प्रकाशन से साहित्य ससार मे एक अभिनव साहित्य-दर्शन का अभ्युदय होगा और अमरभारती के प्राचीन महाचार्यो की सूक्ष्म प्रतिपादन शैली एव उनकी अगाध विवेचन शक्ति के ज्ञान से वर्तमान हिन्दी क्षेत्र सर्वथा सुसमृद्ध एव कृतार्थ होगा।

आचार्य श्री ब्रह्मानन्द की यह विशेषता है कि वे पूर्वाचार्यो के मतो की आलोचना मे अनेक स्थलो पर अपने स्वतन्त्र विवेचन को प्रस्तुत करते है और अपनी सूक्ष्मेक्षिका के कारण गतानुगतिक गति के अनुगामी न बनकर महान् से महान् आचार्यो की आलोचना मे भी किसी प्रकार का अनौचित्य नही देखते। यह ठीक है कि स्थान स्थान पर पूर्वाचार्यो ने भी इन मतो की स्थापना के प्रसगो को उठाया है परन्तु इतना विशाल और व्यापक विवेचन सामान्यतया अन्यत्र सुलभ नही होता।

मेरा यह दृढ विश्वास है कि अलकारशास्त्र की ग्रन्थसूची मे यह ग्रन्थ सम्माननीय स्थान प्राप्त करेगा और अलकारो के आन्तरिक तत्त्व को समझने मे परम सहायक सिद्ध होगा। विद्वत्ससार मे इसके द्वारा अलकारसम्बन्धी आलोचना के एक नए अध्याय का सूत्रपात होगा और पारस्परिक विमर्श के द्वारा अलकारशास्त्र का और भी अधिकाधिक सद्विकास होगा।

विद्याधर शास्त्री
डायरेक्टर हिन्दी विश्वभारती
बीकानेर

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मे यद्यपि प्रधानतया सादृश्यमूलक अलङ्कारो का विवेचन है। परन्तु क्योकि ये सादृश्यमूलक अलङ्कार सादृश्य तत्त्व पर आश्रित है, अत इनके विवेचन से पूर्व सादृश्य तत्त्व के स्वरूप तथा क्षेत्र का भी इसमे विवेचन किया गया है। सादृश्यतत्त्व निरूपण के प्रसग मे मै ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सादृश्य समस्त कलाओ, लौकिक व्यवहारो एव प्राकृतिक जगत् मे किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहता है। साहित्य का ललित कलाओ मे प्रमुख स्थान है। इसलिए कला सम्बन्धी सादृश्य के विवेचन मे साहित्यसम्बन्धी सादृश्य का विवेचन विशेष रूप से किया गया है। ललितकलाशिरोमणि इस साहित्य का क्या स्वरूप है इस विषय को लेकर आलङ्कारिको ने औचित्य, रस, ध्वनि आदि को उसका स्वरूप माना है। मै ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि साहित्य के ये विभिन्न स्वरूप इस सादृश्य तत्त्व से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित है।

अलङ्कारो की सादृश्यमूलकता के विवेचन के समय इस सादृश्यमूलकता की गहराई मे जाने के लिए अलङ्कारो के अन्वय व्यतिरेकभाव एव आश्रयाश्रयिभाव आदि अलङ्कारस्वरूपनिर्णयकारी अभिमतो का भी इसमे पूर्ण विवेचन किया गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शब्दालकारो के मूल मे उच्चारण-सादृश्य स्थित है। इस उच्चारण-सादृश्य के अतिरिक्त शब्दालकारो के लिए एक और तत्त्व की अपेक्षा है और वह है वर्णो तथा अर्थ का सादृश्य। इस प्रकार अर्थानुकूलता शब्दालकारो का आवश्यक अग है। ध्वनिवादियो का इससे विरोध है। वे अलङ्कारो को हारादि के समान बाह्य आभूषण मानकर उन्हे अर्थ का नियत रूप से उपकारक नही मानते। अत इस प्रसग मे उनके इस मत का खण्डन किया है।

शब्दालङ्कारो की सादृश्यमूलकता का निरूपण करते समय प्रसगवश उनके अन्य विशेषाधायक हेतुओ का भी विवेचन किया है। उदाहरणत यमक का निरूपण करते समय रुय्यक तथा मम्मटादि के मत का खण्डन

करते हुए चमत्कारी अर्थ-वैषम्य को यमक का आवश्यक अग सिद्ध किया है।

लाटानुप्रास के प्रकरण मे अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का निरूपण करके यह बताया है कि पूर्व मत के अनुसार ही लाटानुप्रास का पृथक् अलकार होना सम्भव है। इसके बाद इन दोनो वादो मे अभिहितान्वयवाद की समीचीनता सिद्ध करके लाटानुप्रास को पृथक् मानने का औचित्य सिद्ध किया है।

सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारो का विवेचन उनके मूल मे विद्यमान सादृश्यसम्बन्धी चित्तवृत्ति के आधार पर किया है। इस चित्तवृत्ति के भेद को ही अलङ्कार-विभाजन का आधार माना हे। चित्तवृत्ति मे भेद न होने पर भाषा के साधारण अन्तर को अलकार-विभाजन का हेतु नही माना है। इसी दृष्टि से रुय्यक तथा विद्यानाथ के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए इन अलङ्कारो के वर्गीकरण का प्रयास किया है।

उपर्युक्त दृष्टि से विवेचन के फलस्वरूप अन्य आलङ्कारिको के अनेक सादृश्यमूलक अलङ्कार अथवा उनके भेद इस श्रेणी से बाहिर चले जाते हे। कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारो अथवा उनके भेदो का अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कारो मे अन्तर्भाव हो जाता है तथा कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारो के पृथक् भेदो की पृथक्ता नष्ट हो जाती है। उदाहरणत उल्लेख के शुद्ध भेद, कारक दीपक, मालादीपक, प्रस्तुताँकुर, तथा रुद्रट के उत्तर अर्थान्तरन्याम आक्षेप प्रत्यनीक एव पूर्व का सादृश्य-मूलक अलकारो से बहिर्भाव हो जाता है। शब्दश्लेष पर आश्रित उपमा तथा रूपक आदि के भेद भी सादृश्यमूलक अलकारो के अन्तर्गत नही आते।

उदाहरणालङ्कार का अन्तर्भाव उपमा मे हो जाता है। प्रतीप के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भेद उपमा मे तथा चतुर्थ एव पञ्चम भेद व्यतिरेक के अन्तर्गत चले जाते हे। परिणाम, निदर्शना तथा ललित का अन्तर्भाव रूपक मे हो जाता है। सकीर्ण उल्लेख विभिन्न सादृश्यमूलक अलकारो मे अन्तर्भूत हो जाता है। निश्चयालकार तथा अतिशयोक्ति के 'अभेदे भेद' एव 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' भेद क्रमश भ्रान्तिमान्, असम एवं उपमा मे सन्निविष्ट हो जाते है। रुद्रट के मत, उभयन्यास, समुच्चय तथा साम्य क्रमश उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा दीपक एव उपमा के अन्तर्गत चले

जाते हैं। दीक्षित की पर्यस्तापह्नुति तथा भ्रान्तापह्नुति का अन्तर्भाव क्रमश दृढारोपरूपक एव भ्रान्तिमान् मे हो जाता है।

अतिशयोक्ति के 'असम्बन्धे सम्बन्ध' तथा 'कार्यकारणयो पौर्वापर्य-विपर्यय' नामक भेदो, परम्परितोपमा, परम्परितरूपक एव व्याकरण-मूलक उपमाप्रभेदो की पृथक्ता नष्ट हो जाती है।

अलङ्कारनिरूपण के समय आलङ्कारिको के परस्पर-विरोधी मतो का विवेचन करके उनमे से किसी एक की समीचीनता सिद्ध की है अथवा दोनो मतो के असमीचीन प्रतीत होने पर अपना स्वतन्त्र मत उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणत व्यतिरेक मे वैधर्म्यप्रतीति के स्वरूप के विषय मे आलङ्कारिको मे मतभेद है। मम्मट तथा जगन्नाथ के अनुसार यह वैधर्म्य-प्रतीति उपमेय के उत्कर्ष के रूप मे होती है तथा रुय्यक, विश्वनाथ आदि के अनुसार यह उपमेय के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष इन दोनो मे से किसी भी रूप मे सम्भव है। इस प्रसग मे उत्कर्षापकर्ष का अर्थ स्थिर करके रुय्यक एव विश्वनाथ आदि के मत की स्थापना की है।

रूपक मे ताद्रूप्यप्रतीति की प्रक्रिया के विषय मे प्राचीन तथा नवीन आलकारिको मे मतभेद है। प्राचीनो के अनुसार यह प्रक्रिया लक्षणा के द्वारा होती है तथा नवीनो के अनुसार यह अभेदसंसर्ग से होती है। अत दोनो मतो का विवेचन करके नवीनो के मत का औचित्य स्थापित किया है।

उत्प्रेक्षा मे विषयोपादान आवश्यक है अथवा नही, इस विषय को लेकर आलकारिको मे मतभेद है। रुय्यक के अनुसार विषय का उपादान आवश्यक है, परन्तु मम्मट एव विश्वनाथ के अनुसार इसका उपादान आवश्यक नही। इस प्रसग मे दोनो मतो का विवेचन करके द्वितीय मत की समीचीनता सिद्ध की है।

सम्भावना केवल अभेदसमर्ग के द्वारा होती है अथवा समवायादि अन्य सम्बन्धो के द्वारा भी वह सम्भव है इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य आलकारिको मे मतभेद है। प्राचीन प्रथम मत के पक्षपाती है तथा नव्य द्वितीय मत के। इस प्रसग मे दोनो मतो का विवेचन करके द्वितीय मत को असमीचीन सिद्ध किया है।

पृथक् पृथक् अलकारो का निरूपण करते समय उस अलकारविशेष

के मूल मे विद्यमान सादृश्यविषयक चित्तवृत्ति का स्वरूप निश्चित किया है तथा अलकारो की परिभाषा एवं भेदोपभेद सादृश्यतत्त्व को लक्ष्य करके किए हैं।

सादृश्य के आधार पर अलकारो का उपर्युक्त विवेचन करते हुए अलकारो के विकास का भी विवेचन किया है।

रस, ध्वनि, औचित्य, अलकारादि साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तो मे सादृश्यतत्त्व के इस प्रकार लक्षित होने के कारण यह प्रश्न उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि सादृश्यतत्त्व की इस व्यापकता का क्या कारण है। अत विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणो से यह सिद्ध किया है कि विश्व के पदार्थों मे एक साम्य है।

मैं अपने प्रयास मे कहा तक सफल हुआ हूँ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानक्षेत्र की अभिवृद्धि मे कहा तक योग देगा इसका निर्णय विद्वान् ही करेगे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ राजस्थान विश्वविद्यालय ने आर्थिक सहायता देकर मुझे अनुगृहीत किया है। इसके लिए मैं उसका अत्यन्त आभारी हू। मैं अपने गुरुवर श्रद्धेय श्री विद्याधर जी शास्त्री का अत्यन्त आभारी हू जिनकी प्रखर ज्ञानज्योति अलकारशास्त्र तथा दर्शन के दुर्गम क्षेत्र मे मेरा सतत मार्गदर्शन कर रही थी। श्री नरोत्तमदास जी स्वामी तथा डा० फतहसिह जी का भी मैं आभारी हू जिनसे मुझे परामर्श मिलता रहता था। अन्त मे मैं भारत के उन प्राचीन एव महान् आलकारिको का अत्यन्त आभारी हू जिनके विचारो से लाभ उठाकर एव प्रेरणा प्राप्त कर मैं यह ग्रन्थ विद्वानो के सम्मुख रखने मे समर्थ हुआ हूँ।

ब्रह्मानन्द शर्मा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

पृष्ठ संख्या

चतुर्थ अध्याय

प्रथम अध्याय

सादृश्य-निरूपण की आवश्यकता

सादृश्यमूलक अलङ्कारो के विवेचन के लिए यह परम आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम सादृश्य के स्वरूप को पूर्ण रूप से समझ ले तथा उसके क्षेत्र पर विचार कर ले ।

सादृश्य

सादृश्य की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है —

"तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्"—काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ५४२

इस परिभाषा के अनुसार भिन्न वस्तुओ मे धर्म अथवा धर्मो की साधारणता के आधार पर सादृश्य होता है। उदाहरण के लिए मुख तथा चन्द्र को ले तो उनके सादृश्य को इस प्रकार व्यक्त कर सकते है—

"चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वम् मुखे चन्द्रसादृश्यम्" ।

यहा मुख तथा चन्द्र भिन्न है, परन्तु आह्लादकता उन दोनो मे साधारणधर्म के रूप मे विद्यमान है। अत इन दोनो मे सादृश्य है। इस प्रकार सादृश्य मे दो वस्तुए होती हे—भेद तथा धर्मो की साधारणता। धर्मो की साधारणता को हम अभेद कह सकते है। इस प्रकार सादृश्य मे भेद तथा अभेद दोनो होते हैं। अभेद जिस प्रकार धर्मो के रूप मे होता है, उस प्रकार भेद भी धर्मों के रूप मे ही सम्भव है। इसका कारण यह है कि वस्तुओ की सत्ता धर्मो के रूप मे होती है। अतः उनका भेद उनमे विद्यमान धर्मो के रूप मे ही सम्भव है। इस प्रकार सादृश्य मे कुछ धर्म साधारण होते है तथा कुछ धर्म असाधारण होते है। धर्मो की साधारणता से सामान्य तत्त्व बनता है तथा उनकी असाधारणता से विशेष तत्त्व बनता है। सादृश्य मे सामान्य तथा विशेष ये दोनो तत्त्व होते है। निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है —

"यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः"—

सर्वस्व पृ० २४

सामान्य तत्त्व का दूसरा नाम साधर्म्य है तथा विशेष तत्त्व का दूसरा

नाम वैधर्म्य है। अतः साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनो के मिलने से सादृश्य का जन्म होता है।

नैयायिको ने उपमान प्रमाण के प्रकरण मे सादृश्य का विवेचन किया है। इनके अनुसार "गौरिव गवय."[१] सादृश्य का प्रसिद्ध उदाहरण है।

यहा गौ तथा गवय मे कुछ धर्मो के कारण साधर्म्य है तथा कुछ के कारण वैधर्म्य है। इस प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनो के मिलने से यहा सादृश्य है।

सादृश्य के लिए जो साधर्म्य अपेक्षित है उस मे धर्मों की सख्या का कोई विधान नही, परन्तु इतना अवश्य है कि इस साधर्म्य का क्षेत्र इतना विस्तृत न होना चाहिए कि वह वस्तुओ के समस्त धर्मो को अपने अन्तर्गत कर ले, क्योकि इस दशा मे कोई ऐसा धर्म न रह जाएगा जिसके आधार पर वैधर्म्य हो सके। वैधर्म्य तत्त्व का सर्वथा लोप होने के कारण वह सादृश्य भी सम्भव नही जिसके लिए साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य तत्त्व की भी अपेक्षा है। वैधर्म्य तत्त्व से रहित इस अवस्था को हम ताद्रूप्य कहेगे। ताद्रूप्य साधर्म्य की परम विस्तृत अवस्था होती है। इस अवस्था मे वस्तुओ के समस्त धर्म साधर्म्य की परिधि मे आ जाते है। "मुख कमलमस्ति" मे यही बात है। यहा मुख कमल के तद्रूप है। तद्रूप के लिए भी प्राय समान शब्द का प्रयोग होता है।

द्रव्यो के सादृश्य से गुणादि के सादृश्य मे अन्तर है। द्रव्य की परिभाषा 'गुणवद्द द्रव्यम्'[२] की गई है। अत द्रव्यो मे तो उनमे विद्यमान गुणो की साधारणता के आधार पर सादृश्य सम्भव है। गुणो मे यह बात नही होती। गुणो मे गुणो की सत्ता नही होती जिनके आधार पर उनका सादृश्य हो। अत गुणो का सादृश्य गुण-साधारणता के आधार पर न होकर तारताम्य अथवा मात्राभेद के आधार पर होता है। उदाहरणतः दो वस्तुओ के वर्णो का सादृश्य उन वर्णो के तारतम्य के आधार पर होता

---

१. तथा हि गवयमजानन्नपि नागरिको यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकपुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात्" तर्कभाषा पृ० ४७

२. "क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"—वैशेषिक दर्शन—१।१५

है। यदि वे वस्तुएं श्वेत है तो उनमे से एक मे अन्य की अपेक्षा श्वेत वर्ण की अधिकता होगी। इस प्रकार उन दोनो श्वेत वर्णों मे तारतम्य के कारण वैधर्म्य होगा और फलत उनमे सादृश्य होगा। गुणों के इस तारतम्य को गुणसम्मिश्रण का परिणाम कहा जा सकता है। दो श्वेत वर्णो मे से एक मे अन्य की अपेक्षा जो न्यूनता होती है वह उसमे कृष्ण गुण के किञ्चित् सम्मिश्रण के फलस्वरूप होती है। यह भी सम्भव है कि इन दोनो वर्णो मे कृष्ण गुण का सम्मिश्रण हो। इस दशा मे उनमे तारतम्य का कारण उनमे मिश्रित कृष्ण गुणो का तारताम्य होगा। इसी प्रकार दो मधुर रसो मे सादृश्य उनमे विद्यमान माधुर्य तथा इस माधुर्य के मात्राभेद के फलस्वरूप होता है।

नव्य नैयायिक सादृश्य को साधर्म्य के अतिरिक्त और कुछ नही मानते। इनके अनुसार सादृश्य तथा साधर्म्य एक ही वस्तु है। अत सादृश्य को पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नही। निम्न लिखित उक्ति इसकी समर्थक है—

नव्यतार्किकास्तु सादृश्यस्यातिरिक्तपदार्थत्वेऽष्टमपदार्थापत्त्या 'द्रव्यगुण-कर्मसामान्यविशेषससमवायाभावा' सप्तैव पदार्था इति स्वसिद्धान्त-हानिं मन्यमाना· "सादृश्य न पदार्थान्तरं किन्तु साधर्म्यं सादृश्यञ्चैकमेवेति ··" वदन्ति काव्य प्रकाश टीका पृ० ५४२।

सादृश्य तथा साधर्म्य के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होगा कि नव्यतार्किको का उपर्युक्त मत उचित नही। साधर्म्य मे केवल अवयव-सामान्य का ध्यान रखा जाता है परन्तु सादृश्य मे इसके अतिरिक्त अवयव-विशेष का भी ध्यान रखा जाता है। प्रथम मे केवल साधारणता की प्रतीति होती है परन्तु द्वितीय मे इसके साथ साथ असाधारणता की भी प्रतीति होती है। अत दोनो मे भेद स्पष्ट है।

सादृश्य मे हमारी दृष्टि एक वस्तु के दूसरी वस्तु से सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। साधर्म्य मे यह दोनो वस्तुओ के एक धर्म से सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। इस प्रकार सादृश्य में उपमेय अनुयोगी होता है तथा उपमान प्रतियोगी होता है। साधर्म्य मे उपमेय तथा उपमान दोनो अनुयोगी होते है तथा साधारणधर्म प्रतियोगी होता है। वामनाचार्य की निम्न लिखित उक्ति का यही आशय है —

"तथा चात्र साधर्म्याख्यसम्बन्धस्य"""" "साधारणधर्म' प्रतियोगी उपमानमुपमेयश्चेति द्वावप्यनुयोगिनौ । सादृश्यस्य प्रतियोगी उपमानम् अनुयोगी उपमेयम् । बालबोधिनी पृ० ५४१

सादृश्य को साधर्म्य से भिन्न न मानने वाले इसके विरुद्ध कहते है कि साधर्म्य मे भी सम्बन्ध उपमेय का उपमान से होता है, उपमेय तथा उपमान का सम्बन्ध साधारणधर्म से नही होता। इसके समर्थन मे इन विद्वानो ने अनेक युक्तिया दी है। इन विद्वानो का यह मत भी सादृश्य तथा साधर्म्य को एक सिद्ध कर सके ऐसी बात नही। वस्तुतः मुख्य प्रश्न यह नही है कि सादृश्य तथा साधर्म्य मे सम्बन्धो का प्रकार क्या है अपितु प्रश्न यह है कि सादृश्य तथा साधर्म्य के स्वरूप क्या है। सादृश्य के स्वरूप का कुछ विवेचन हो चुका है। अत अब साधर्म्य को भली भाति समझना आवश्यक है। वामनाचार्य ने मम्मट के शब्दो की व्याख्या करते हुए साधर्म्य की परिभाषा इस प्रकार की है —

"समान एक तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययो (अर्थादुपमानो-पमेययो) तौ सधर्माणौ तयोर्भावः साधर्म्यम् ।"—बालबोधिनी पृ० ५४०

इसे स्वीकार करने मे किसी को आपत्ति नही हो सकती। इस पंक्ति के ठीक बाद वामनाचार्य कहते है—

"उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सह सम्बन्ध इत्यर्थ ।"—बालबोधिनी पृ० ५४१। यहा "सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९) इति पाणिनिसूत्रेण तृतीयेयम्" ऐसा कहकर वे 'समानेन धर्मेण सह' का अर्थ समान धर्म के साथ लेते है। सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वानो का इससे मतभेद है। वैसे 'उपमानोपमेययो' समानेन धर्मेण सम्बन्धः' को तो ये भी स्वीकार करते है। और स्वय मम्मट ने भी इन शब्दो का उल्लेख किया है।[1] परन्तु 'समानेन धर्मेण' का अर्थ ये विद्वान् 'समान धर्म के साथ' न लेकर 'समान धर्म के कारण' लेते है।[2] हम परिभाषा के इस विवादग्रस्त

---

१. "उपमानोपमेययोरेव—साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।"—काव्य प्रकाश पृष्ठ ५४४

2. They understand Mammata's Words उपमानोपमेय-योरेव " साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा in the sense that Upama is the relation of connection (सबंध)

अंग को छोडकर शेष अग को लेकर चलते है जिसके सम्बन्ध मे किसी को मतभेद न होना चाहिए। इस अश के अनुसार साधर्म्य का अर्थ होता है—दो वस्तुओ मे समान[१] अथवा साधारण धर्म का होना।

सादृश्य तथा साधर्म्य की इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सादृश्य तथा साधर्म्य के द्वारा उपस्थित चित्रो मे भेद है। सादृश्य का चित्र साधर्म्य की अपेक्षा विस्तृत है। साधर्म्य मे हमे वस्तुओ मे केवल साधारणधर्म दिखाई देते है। परन्तु सादृश्य मे इन साधारणधर्मों के अतिरिक्त अन्य धर्म भी मिले रहते है। इस प्रकार सादृश्य मे वस्तुओ का एक सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र होता है। हम जब दो वस्तुओ को देखते है तब सर्वप्रथम कोई साधारणधर्म हमे उन वस्तुओ मे दिखाई देता है। हम देखते है कि प्रथम वस्तु मे यह धर्म है तथा द्वितीय मे भी यह धर्म है। यह साधर्म्य का चित्र हुआ। इसके बाद उस धर्म से युक्त दोनो वस्तुओ का सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र हमारे सामने आता है। इस दशा मे उस धर्म का पृथक् ज्ञान नही होता अपितु वस्तुओ के अन्य गुणो के साथ वह घुला मिला होता है। इन घुले मिले चित्रो मे हमे सादृश्य दिखाई देता है। यह सादृश्य का चित्र हुआ। "गौरिव गवय" सादृश्य के इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। यहा प्रथम हमे गौ तथा गवय के कतिपय

Which exists between उपमान and उपमेय (only) and is brought out through a property—common to both. They understand the instrumental in 'समानेन धर्मेण' in the sense of 'Karana' 'by means of'—'through' and not of 'Sahartha'—'accompanying with' That is why some authors use such expressions as 'धर्मतः सादृश्यम्' or साम्यम्।

Journal of the University of Bombay, September, 57. Vol XXVI (New series) Part 2, Arts No. 32 Page—144

१ समानेनेति—एकत्वबुद्धिविषयेणेत्यर्थ —उद्योत । साधर्म्यपद हि योगेनैकधर्मवत्त्वामात्रबोधकम्-प्रभा। इन व्याख्याओं के अनुसार इस समान का अर्थ एक अथवा साधारण निकलता है।

साधारण अवयव दिखाई देते है। इसके बाद गौ तथा गवय के सामूहिक चित्र हमारे सामने आते है जिनमे साधारणधर्म पृथक् रूप से प्रतीत न होकर अन्य धर्मो से घुले मिले रहते है।

'गौरिव गवय.' के उपर्युक्त उदाहरण मे सादृश्य का चित्र नेत्रेन्द्रिय का विषय है। कभी कभी सादृश्य का चित्र नेत्र का विषय न होकर अन्य इन्द्रियो मे से किसी एक का विषय होता है। सदृश वस्तुओ का स्वरूप जिस इन्द्रिय का विषय होता है अथवा वस्तुओ का सादृश्याधायक साधारणधर्म जिस इन्द्रिय का विषय होता है उन वस्तुओ का सादृश्य भी उसी इन्द्रिय का विषय होता है। उदाहरणात' जब किसी की वाणी को कोकिल की वाणी के समान कहा जाता है तब सादृश्य कर्ण का विषय होता है। इसका कारण यह है कि वाणी कर्ण का विषय है। अत इसका सादृश्यसम्बन्धी चित्र इसी इन्द्रिय का विषय हो सकता है। सादृश्य की अवस्था मे इन वाणियो के जो चित्र हमारे सम्मुख आते है उनमे साधारण धर्म माधुर्य भी जुडा रहता है। जब भुजाओ को वज्र के समान कहा जाता है तब सादृश्य त्वगिन्द्रिय का विषय होता है। यहा भुजाए तथा वज्र यद्यपि नेत्र के विषय हो सकते है, परन्तु इनमे सादृश्य कठोरता आदि मे से जिस किसी धर्म को लक्ष्य करके दिखाया गया है वह 'त्वगिन्द्रिय का विषय है। अत सादृश्य के समय इनके त्वगिन्द्रियगम्य चित्र ही हमारे सम्मुख आते है। सादृश्य का चित्र किसी इन्द्रिय का विषय हो यह निश्चित है कि यह चित्र साधर्म्य के चित्र से कुछ भिन्न अवश्य होता है।

विरोधी प्रश्न कर सकते हैं कि सादृश्य के उपर्युक्त उदाहरणो मे साधारणधर्म का उपादान नही। अत: ऐसी दशा मे सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रो मे आशिक भेद हो सकता है। परन्तु जहा साधारणधर्म का उपादान होगा वहा इन चित्रो मे भेद किस प्रकार सम्भव है। उदाहरणात' 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' इस उदाहरण मे 'सुन्दरम्' शब्द का उपादान है। अत सादृश्य के समय मुख तथा कमल के सौन्दर्यसम्बन्धी चित्र हमारे सामने आएगे। इनका सादृश्य इनके सौन्दर्य के रूप मे होगा और इनका साधर्म्य भी इसी सौन्दर्य के रूप मे है। अत यहा सादृश्य तथा साधर्म्य मे अन्तर प्रतीत नही होता।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है कि उपर्युक्त दशा मे मुख तथा कमल के जो सौन्दर्य-सम्बन्धी चित्र हमारे सामने आते है उनमे कुछ अन्तर

अवश्य है। सौन्दर्यों मे सामान्य तत्त्व के साथ विशेष तत्त्व भी मिला रहता है। मुख तथा कमल के सौन्दर्य एक अथवा सर्वथा समान न होकर केवल सजातीय है। इस प्रकार यहा सौन्दर्य-सामान्य की दृष्टि से साधारणता हे, परन्तु सौन्दर्य के प्रकार की दृष्टि से भेद है। इस प्रकार यहा सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रो मे अन्तर अवश्य है।

विरोधी प्रश्न कर सकते है कि मुख तथा कमल के सौन्दर्यो मे वस्तुत भेद भले ही हो कवि तथा पाठक को अपनी कल्पनास्थिति मे इस भेद की प्रतीति नही होती। उन्हे एक अथवा सर्वथा समान सौन्दर्य मुख तथा कमल मे दिखाई देता है। अत कवि तथा पाठक के सम्मुख उपस्थित सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रो मे उन्हे भेद लक्षित नही होता। विरोधी का यह कथन सर्वथा उचित है। ऐसी दशा मे सादृश्य तथा साधर्म्य की सीमारेखाए मिलती सी प्रतीत होती है। परन्तु इससे इस बात मे कोई अन्तर नही आता कि सादृश्य तथा साधर्म्य मे सैद्धान्तिक दृष्टि से भेद हे।

साधर्म्य सादृश्य का कारण अवश्य है, परन्तु साधर्म्य-ज्ञान की स्थिति सादृश्य-ज्ञान की स्थिति से भिन्न है। सादृश्य-ज्ञान की स्थिति साधर्म्य-ज्ञान की स्थिति के बाद होती है। इसमे साधर्म्य-ज्ञान के अतिरिक्त वैधर्म्य-ज्ञान की प्रतीति होती है।

अनेक अलंकारो मे सादृश्य वाच्य न होकर व्यग्य होता हे। रूपकादि अलंकारो मे यही बात है। यदि सादृश्य को साधर्म्य के अतिरिक्त न माना जाए तो साधारणधर्म के उपादान की दशा मे इन अलकारो के सादृश्य का व्यग्यत्व असमीचीन सिद्ध हो जाता है। इन अलकारो मे अनेक बार साधारणधर्म का तो निर्देश होता है, परन्तु सादृश्य फिर भी व्यग्य माना जाता है। यह सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने की अवस्था मे सम्भव नही। क्योकि जहा साधारणधर्म का निर्देश होगा वहा साधर्म्य वाच्य होगा और यदि सादृश्य तथा साधर्म्य को एक माना जाता है तो सादृश्य भी वहा वाच्य होना चाहिए। परन्तु उपर्युक्त अलकारो मे यह बात नही होती। अत. सादृश्य को साधर्म्य से भिन्न मानना ही उचित होगा। विश्वेश्वर का यही मत है—

"अत्र सर्वत्र सादृश्यं व्यंग्यमिति सिद्धान्त । एवं च सादृश्य पदार्थान्तर-मेवालंकारिकाभिमतम् । अन्यथा धर्मस्योपादाने तदात्मकत्वे च सादृश्यस्य व्यंग्यत्वानुपपत्तिरिति केचित् ।" अलंकार कौस्तुभ पृ० २९६

प्रश्न उठ सकता है कि यदि सादृश्य साधर्म्य से भिन्न है तथा साधर्म्य सादृश्य का कारण है तो अलकारो को साधर्म्यमूलक न कहकर सादृश्यमूलक क्यो कहा गया। इसका उत्तर यह हो सकता है कि काव्य मे प्रधानतया वस्तुओ का सामूहिक तथा सश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जाता है, वस्तुओ के एक आध धर्म का नही। सादृश्य का इस प्रकार के चित्र से निकट सम्बन्ध है। अत. अलकारो को सादृश्यमूलक कहा गया है।

अब हमे यह देखना है कि प्राचीन मान्य आलकारिको का इस विषय मे क्या मत है। इन आलकारिको ने न तो सादृश्य तथा साधर्म्य मे से किसी की परिभाषा की है और न ही इनके भेद अथवा अभेद का कही स्पष्ट उल्लेख किया है। इन लोगो ने केवल अपनी उपमा की परिभाषाओ मे सादृश्य तथा साधर्म्य मे से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है। कुछ आलकारिक सादृश्य शब्द का प्रयोग करते है तथा कुछ साधर्म्य का।[1] इस पर डा० वी० एम० कुलकर्णी कहते हे कि प्राचीन आलकारिक सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानते थे।[2] डा० कुलकर्णी के इस अनुमान

---

१ भरत, दण्डी, वाग्भट, अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्द) जगन्नाथ आदि ने सादृश्य शब्द का प्रयोग किया है तथा उद्भट मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र अप्पय-दीक्षित (चित्रमीमासा) विद्याभूषण आदि ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है।

२ Chronologically speaking this discussion of the distinction between साधर्म्य and सादृश्य is of very late origin and the early alankarikas were not aware of any such distinction as is clear from their use of the words सादृश्य, साम्य and साधर्म्य as synonyms It is उद्भट who first uses the word साधर्म्य instead of सादृश्य employed by his eminent predecessors भरत, भामह and दण्डिन् If he had in mind the supposed distinction he would have definitely expressed it in his वृत्ति Even Mammata who borrows that word from उद्भट nowhere gives any clue to assume any such distinction On the contrary he employes the words साधर्म्य, साम्य, सादृश्य synonymously. It simply means by usage the words साम्य, सादृश्य, साधर्म्य,

के लिए पर्याप्त आधार नही। हमारे उपर्युक्त विवेचेन से स्पष्ट है कि साधर्म्य सादृश्य का कारण है तथा साधर्म्य तथा वैधर्म्य के सम्मिश्रण से बने हुए सादृश्य मे उस के एक प्रमुख तत्त्व के रूप मे यह साधर्म्य वहा रहता ही है। अत सादृश्य तथा साधर्म्य को भिन्न मानने की अवस्था मे भी यह सम्भव है कि कुछ आलकारिक उपमा मे सादृश्य शब्द का सन्निवेश करे तो कुछ साधर्म्य का। दूसरे साधर्म्य शब्द का सन्निवेश करने वाले अनेक मान्य आलकारिको ने परिभाषा मे भेद शब्द का उल्लेख किया है। उद्भट मे तो इस ओर केवल सकेतमात्र है।[१] परन्तु मम्मट तथा रुय्यक[२] मे इसका स्पष्ट उल्लेख है। 'साधर्म्यमुपमा भेदे'[३] उपमा की इस परिभाषा मे मम्मट ने भेद का स्पष्ट उल्लेख किया है। यहा कुछ लोग यह शका कर सकते हैं कि यहा भेद का सन्निवेश उपमा की अनन्वय से पृथक्ता सिद्ध करने के लिए है। और यह बात मम्मट ने स्वय कही है —

भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय'—काव्य प्रकाश पृ० ५४६। ठीक है भेद शब्द उपमा की अनन्वय से पृथक्ता सिद्ध करता है। परन्तु इसके साथ ही साथ उपमा की परिभाषा मे इसका स्पष्ट उल्लेख भेदप्रतीति को उपमा के स्वरूप का आवश्यक अग भी बना देता है। इस प्रकार उपमा मे साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनो प्रतीत होते हे।।

औपम्य, were treated as synonymous. We cannot lightly set aside the usage of the best alankarikas

Journal of the University of Bombay, September, XXXVI (New series) Part 2, Art No. 32 1957

१. "यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययो.।

मिथो विभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्।"—अलकारसारसग्रह

इस परिभाषा के अनुसार भिन्न वस्तुओ का साधर्म्य उपमा है। यहा वस्तुओ के भिन्न होने के कारण उनमे साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य की प्रतीति होना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। इस प्रकार उपमा मे साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनो की प्रतीति होगी। यह प्रतीति सादृश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

२. 'उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा।'—अलंकार सर्वस्व यहा परिभाषा में अभेद के साथ साथ भेद का भी सन्निवेश है। अतः उपमा मे साधर्म्य के साथ वैधर्म्य की भी प्रतीति होती है।

३. काव्य प्रकाश १०—१२५

मम्मट ने इन साधर्म्य तथा तुल्य आदि शब्दों का प्रयोग कतिपय ऐसे स्थलो पर भी किया है जिनको देखकर सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वान् कह सकते है कि ये स्थल इस बात के प्रमाण है कि मम्मट को साधर्म्य तथा सादृश्य पर्यायवाची शब्दो के रूप मे अभिप्रेत हे। परन्तु अन्य विद्वान् इसके विपरीत उतने ही औचित्य के साथ कह सकते है कि ये स्थल साधर्म्य तथा सादृश्य को पृथक् मानने की अवस्था मे भी पूर्णत ठीक बैठते हे। मेरे विचार से ये स्थल स्वत दोनो मे से किसी मत के निर्णायक नही कहे जा सकते। ये स्थल इस प्रकार हैं—

"असादृश्यासभवावप्युपमायाम् अनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यत ।

यथा—'ग्रथ्नामि काव्यशशिन विततार्थरश्मिम् ।'

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानाॅ च रश्मिभि साधर्म्य कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम् ।" काव्य प्रकाश पृ० ७८३

सादृश्य तथा साधर्म्य की एकता के समर्थक कहते है कि उपर्युक्त श्लोक उपमा मे असादृश्य दोष के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इस श्लोक मे मम्मट यह दिखाना चाहते हे कि यहा वस्तुओ मे सादृश्य नही है। श्लोक की व्याख्या मे मम्मट कहते है कि यहा काव्य का शशी से तथा अर्थो का रश्मि से कोई साधर्म्य नही। अत. यह निष्कर्ष निकला कि मम्मट सादृश्यतथा साधर्म्य को पर्यायवाची शब्दो के रूप मे ग्रहण करते है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि उपर्युक्त निष्कर्ष आवश्यक नही। यह तो ठीक है कि मम्मट यहा असादृश्य दिखाना चाहते है। परन्तु असादृश्य का ज्ञान तभी हो सकता है जब हमे साधर्म्य न दिखाई दे। अत असादृश्य दिखाने के लिए यह आवश्यक है कि सादृश्य के कारणभूत साधर्म्य का अभाव दिखाया जाए और यही बात यहा दिखाई गई है। इसीलिए वामनाचार्य कहते है.—

"एवं च काव्यशशिनोरर्थरश्म्योश्च साधर्म्यस्यैवाभावेन साधर्म्यप्रयोज्यस्य सादृश्यस्य सुतरामभावः—।" बालबोधिनी पृ० ७८३

दूसरा स्थल इस प्रकार है—

'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दाना विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी ।" काव्य प्रकाश पृ० ५५२

यहां भी तुल्यता आदि तथा साधर्म्य को एक मानना आवश्यक नही। यहा यह कहा गया है कि जब तुल्य आदि शब्दो का प्रयोग होता है तब उन दो वस्तुओ मे तुल्यता बताई जाती है। परन्तु वस्तुओ को तुल्य कहने से ही हमे उनकी तुल्यता का ज्ञान नही होता। हमे तुल्यता का ज्ञान तभी होता है जब हम साम्य पर विचार करते है। साम्य पर विचार करने से तुल्यता के मूल मे स्थित इस साधर्म्य का ज्ञान हमे हो जाता है। इस प्रकार साधर्म्य यहाँ अर्थगम्य होता है। इसीलिए वामनचार्य कहते है —

इत्यत्रोभयत्रापि सामान्यत सादृश्य बोधयित्वा विरतव्यापारेषु तुल्य-सदृशादिशब्देषु धर्मविशेष विना कथमनयो सादृश्यमिति सादृश्यस्य (तुल्यादिशब्देनाभिहितस्य) अनुपपत्त्या धर्मविशेषसम्बन्धप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वादुपमाया आर्थत्वमिति।" —बालबोधिनी पृ० ५५२।

मम्मट आदि कतिपय आलङ्कारिको ने उपमा के श्रौती तथा आर्थी दो विभाग किए है।[1] उपमा का यह विभाजन इन आलङ्कारिको के अनुसार इव आदि तथा तुल्य आदि शब्दो के भेद पर आश्रित है। इव आदि के प्रयोग पर ये उपमा को श्रौती मानते है तथा तुल्यादि के प्रयोग पर उपमा को आर्थी मानते है।[2] इव आदि तथा तुल्य आदि के इस भेद के लिए यह आवश्यक है कि इन शब्दो के अर्थ मे भेद स्वीकार किया जाए। सादृश्य तथा साधर्म्य को पृथक् मानने वाले विद्वानो ने ऐसा स्वीकार करके इव आदि का अर्थ साधर्म्य लिया है तथा तुल्य आदि का अर्थ सादृश्य लिया है।[3] इव आदि का प्रयोग करने पर साधर्म्य शाब्द होगा तथा सादृश्य आर्थ होगा। तुल्यादि का प्रयोग करने पर सादृश्य शाब्द होगा तथा साधर्म्य आर्थ

---

१. 'श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा'—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५४८।

२. यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यै तत्सद्भावे श्रौती—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५४६
साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५५२।

३ यथेवादिशब्दाना सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धरूपे साधर्म्ये एव शक्ततया यथेवादिप्रयोगस्थले साधारणधर्मसम्बन्धरूप साधर्म्य वाच्य सादृश्यप्रतीति-स्त्वार्थी। तुल्यादिशब्दाना सादृश्यवति शक्ते. तुल्यसदृशादिशब्दप्रयोगस्थले सादृश्य वाच्य साधारणधर्मसम्बन्धरूप साधर्म्य त्वार्थमिति सम्बन्धबोधे विशेषादुपपद्यते एव श्रौत्यार्थी चेती विभागः। —बालबोधिनी पृष्ठ ५४६।

होगा। पूर्व दशा मे उपमा शाब्दी होगी तथा द्वितीय दशा मे उपमा आर्थी होगी। इस प्रकार इन आलङ्कारिको को श्रौती तथा आर्थी नामक उपमाविभाजन का एक आधार मिल जाता है।[1] सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वानो के पास तो इस विभाजन का कोई आधार ही नही रह जाता। इन विद्वानो ने इस विभाजन का आधार ढूढने का प्रयत्न अवश्य किया है परन्तु वह सफल नही कहा जा सकता। इन विद्वानो के अनुसार इवादि का अर्थ सादृश्य होता है तथा तुल्यादि का अर्थ सदृश होता है। इस प्रकार दोनो शब्दो के अर्थो मे अन्तर है।[2]

प्रश्न उठता है कि सादृश्य तथा सदृश मे क्या अन्तर है। इवादि के प्रयोग की दशा मे वस्तुओ मे सादृश्य होता है तथा तुल्यादि के प्रयोग की दशा मे वस्तुए सदृश होती है। वस्तुओ के सदृश होने के ज्ञान मे तथा उनके सादृश्यज्ञान मे वस्तुतः कोई अन्तर प्रतीत नही होता। ये विद्वान् कहते है कि इवादि के द्वारा साक्षात् सादृश्य का ज्ञान होता है तथा तुल्यादि के द्वारा धर्मी के व्यवधान से सादृश्य का ज्ञान होता है—

"साक्षात्सादृश्यप्रतिपादकेवादिशब्दाना प्रयोगे श्रौती।

धर्मिव्यवधानेनसादृश्यप्रतिपादकाना सदृशशब्दाना प्रयोगे आर्थी।

—प्रतापरुद्रयशोभूषण

"साक्षात्सादृश्यप्रतिपादका इवयथाशब्दा तत्प्रयोगे श्रौती।

धर्मिव्यवधानेन सादृश्यप्रतिपादकास्तुल्यादिशब्दा· तत्प्रयोगे तु आर्थी।"

—एकावली पर मल्लिनाथ की तरला

यह मत उचित नही। हमे जब वस्तुओ मे सादृश्य का ज्ञान होता है तभी हम उन्हे सदृश समझते है। अत जब वस्तुओ को सदृश समझा जाता है

---

१. वैसे साधर्म्य तथा सादृश्य को पृथक् मानकर भी उपमा के इस विभाजन का खण्डन किया जा सकता है परन्तु उसके कारण अन्य हैं (इसका निरूपण उपमा के प्रकरण में किया जाएगा)। इससे कम से कम इवादि तथा तुल्यादि का भेद तो स्पष्ट हो गया।

२ "इवादीनामपि अर्थात् सदृशपर्यवसान श्रुत्या तु सादृश्यगमकत्वमेव इति तत्प्रयोगे श्रौतीत्यर्थ। तुल्यादिशब्दाना तु श्रुत्या सदृशपरत्वम् अर्थात्तु सादृश्यपर्यवसानमिति तेषा प्रयोगे तु आर्थी।" —एकावली पर मल्लिनाथ की तरला।

तब निश्चित है कि उनमे सादृश्य का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाता है कि सदृश के प्रयोग से वस्तुओ के सदृश होने का ज्ञान नही हो सकता तो हमारा उत्तर है कि केवल इव के प्रयोग से भी सादृश्य का ज्ञान नही हो सकता। वस्तुत सादृश्यज्ञान हमे साधर्म्य के आधार पर होता है। उसे तो ये विद्वान् मानते नही और वस्तुओ के सादृश्यज्ञान तथा सदृश वस्तुओ के ज्ञान मे भेद करने का प्रयत्न करते है।

सदृश वस्तुओ के ज्ञान की स्थिति मे ये विद्वान् उन वस्तुओ के सादृश्य-ज्ञान का निराकरण कर सके हो ऐसी बात नही। उन्हे इस सादृश्यज्ञान को स्वीकार करना ही पडा। परन्तु इन्होने कहा कि तुल्यादि शब्दो के प्रयोग की दशा मे सादृश्यज्ञान होता तो है, परन्तु वह विशेष्यत्वेन न होकर विशेषणत्वेन होता है। इवादि के प्रयोग की दशा मे इसके विपरीत वह विशेष्यत्वेन होता है —

"यथादिना सादृश्यरूपः सम्बन्ध एव साक्षादभिधीयते (साक्षाद्विशेष्यतया-प्रभा) षष्ठीवत् तुल्यादिभिस्तु (सादृश्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकैस्तुल्यादिभिस्तु-प्रभा) धर्म्यपि (विशेषणतया सादृश्याभिधानादार्थीत्वमित्यर्थ· प्रभा) ।"—Sukthankar K P X P 9

यह मत भी उचित नही। यहा ज्ञान का विभाजन वाक्य-रचना के स्वरूपभेद के आधार पर किया गया है। परन्तु ज्ञान का विभाजन ज्ञान के स्वरूपभेद के अ.धार पर ही होना चाहिए, वाक्य रचना के स्वरूप तथा व्याकरण के आधार पर नही। यदि केवल वाक्य-रचना के आधार पर भेद किया जाता है तो 'इद फल मधुरम्' और 'अस्मिन् फले माधुर्यम्' इन दोनो वाक्यो से उत्पन्न माधुर्य के ज्ञान मे अन्तर होना चाहिए। परन्तु हमे इस प्रकार के किसी अन्तर की प्रतीति नही होती।

दूसरे यदि वाक्य-रचना के आधार पर सादृश्य मे भेद करना ही है तो यह आवश्यक नही कि इवादि के प्रयोग की दशा मे सादृश्य विशेष्यत्वेन ही हो। वह विशेषणत्वेन भी सम्भव है। उदाहरणतः 'मुख चन्द्र इव आह्लादकम्' इस वाक्य मे इस सिद्धान्त के अनुसार सादृश्य विशेषणत्वेन

होना है विशेष्यत्वेन नही ।[1] इस वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार है —

आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नमाह्लादकमुपमेय मुखम् ।'

यहा साधारणधर्म विशेषण के रूप मे है। अत उस पर आश्रित सादृश्य भी इसी रूप मे होगा।

अत इवादि तथा तुल्यादि का भेद उनका क्रमश साधर्म्य तथा सादृश्य अर्थ लेने पर ही सम्भव है।

सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले कह सकते है कि इवादि का अर्थ साधर्म्य न होकर सादृश्य होता है। अनेक स्थलो पर इसी अर्थ मे इसका प्रयोग मिलता है —

"यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणो" —भामह २–३१

"यथा सादृश्ये"—पाणिनि २-१-७

हमे इसे स्वीकार करने मे कोई आपति नही। हमारा यह आग्रह नही कि इवादि का अर्थ साधर्म्य लिया जाय तथा तुल्यादि का अर्थ सादृश्य लिया जाय। हमारा तो केवल इतना ही मन्तव्य है कि यदि इवादि तथा तुल्यादि मे भेद किया जाता है तो वह केवल इनके क्रमश साधर्म्य तथा सादृश्य अर्थ लेने पर ही सम्भव है। परन्तु यदि इनके अर्थ मे भेद नही किया जाता है तो इससे हमारे इस सिद्धान्त को हानि नही पहुँचती कि सादृश्य तथा साधर्म्य मे भेद है। हमारा साध्य सादृश्य तथा साधर्म्य का यह भेद ही है, इवादि तथा तुल्यादि का भेद हमारा साध्य नही। इवादि तथा तुल्यादि के अर्थ मे भेद न रहने पर भी सादृश्य तथा साधर्म्य का यह भेद बना रहेगा। उपमा मे हमे सादृश्य की प्रतीति होगी तथा दीपक, तुल्ययोगिता आदि मे साधर्म्य की।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सादृश्य तथा साधर्म्य एक न होकर भिन्न भिन्न है।

---

१ "एव च चन्द्र इवेत्यत आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नमाह्लादकमुपमेय मुखमिति बोध ।–साधारणधर्मसबन्धश्च क्वचिद्विशेषणतया यथा चन्द्र इव मुखमाह्लादकमित्यादौ। क्वचिद्विशेष्यतया यथा मुखमाह्लादयतीत्यादौ। अत्र हि उपमानचन्द्रकर्तृकाह्लादाभिन्न उपमेयमुखकर्तृकाह्लाद इति बोधः। .. ।" Sukthankar KPX P. 11.

सादृश्य का क्षेत्र

सादृश्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समस्त सृष्टि मे हमे सादृश्य किसी न किसी रूप मे देखने को मिलता है। क्षेत्र की दृष्टि से इस रूप के हम तीन भेद कर सकते हैं—चेतन, अचेतन तथा चेतन एव अचेतन का सम्मिश्रण। जहा सादृश्य विचारो अथवा भावो के क्षेत्र मे होता है वहा सादृश्य का स्वरूप चेतन होता है। विचार अथवा भाव चेतनस्वरूप होते है। अत: उनमे विद्यमान सादृश्य भी उसी रूप मे सम्भव है। यह सादृश्य प्राय लोक अथवा समाज मे होता है। समाज मे जहा व्यवहारसादृश्य के दर्शन होते है वहा सादश्य का यही रूप विद्यमान रहता है।

स दृश्य का अचेतन रूप हमे पदार्थो के भौतिक स्वरूप मे दिखाई देता है। प्रकृति मे विद्यमान सादृश्य के कतिपय रूप इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते है। प्रकृति मे सादृश्य के अचेतन स्वरूप के अतिरिक्त सादृश्य के चेतन स्वरूप भी सम्भव हे।

सादृश्यसम्बन्धी चेतन तथा अचेतन का मिश्रित स्वरूप सप्राण वस्तुओ मे दिखाई देता है। सप्राण वस्तुओ मे उनके भौतिक अशो को लेकर जो सादृश्य होता हे वह सादृश्य का अचेतन रूप होता है तथा उन भौतिक अशो से अभिव्यक्त चेतनाशों मे साम्य होने पर सादृश्य का चेतन रूप होता है। उदाहरणत कान्ता, बालक आदि के विभिन्न शारीरिक अवयवो मे कोमलता आदि की दृष्टि से जो सादृश्य है वह सादृश्य का अचेतन रूप है। अवयवो मे विद्यमान ये कोमलता आदि स्थूल शरीर के धर्म है। अत इनसे सम्बन्धित सादृश्य अचेतनता की कोटि मे आता है। इसके अतिरिक्त इन प्राणियो के विभिन्न अगो से अभिव्यक्त होने वाले प्रसन्नता एव क्रोधादिक भावो मे भी साम्य सम्भव है। यह साम्य चेतनता की श्रेणी मे आता है। इस प्रकार सप्राण वस्तुओ मे सादृश्य के चेतन एव अचेतन दोनो रूप सम्भव है।

विधाता की सृष्टि के अतिरिक्त कलासृष्टि मे भी सादृश्य के दर्शन होते है। कलासृष्टि मनुष्य की सृष्टि है। मनुष्य की सृष्टि होने के नाते हमारा इससे निकट सम्बन्ध है। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारा सम्बन्ध समस्त सृष्टि से है। समस्त सृष्टि एक ही चेतन शक्ति का प्रकाश है और

उसी शक्ति का प्रकाश हममे है। इस प्रकार समस्त सृष्टि के साथ हमारा सम्बन्ध है। परन्तु इस सम्बन्ध का ज्ञान एक विचारक को ही हो सकता है। कलासृष्टि के साथ सम्बन्ध का अनुभव प्रत्येक सहृदय को होता है। कलासृष्टि कलाकार की अनुभूति की व्यञ्जना है। यह सत्य है कि कलाकार प्राय किसी बाह्य वस्तु को आधार बनाकर कलासर्जन मे प्रवृत्त होता है, परन्तु कलासर्जन के समय यह बाह्य वस्तु उसकी चेतना अथवा अनुभूति का अग बन जाती है। इस प्रकार कला मे कलाकार किसी बाह्य वस्तु का तटस्थ रूप से निर्माण अथवा वर्णन न करके अपनी ही अनुभूति को रूप प्रदान करता है। शिल्प तथा कला मे यही अन्तर है कि शिल्प मे शिल्पकार तटस्थ रूप से किसी वस्तु का निर्माण करता है, परन्तु कला मे कलाकार वस्तु को आत्मसात् करके अपनी अनुभूति को साकार बनाता है। इस प्रकार एक मानवीय अनुभूति की अभिव्यञ्जना होने के नाते कला से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अब हमे यह देखना है कि समाज, प्रकृति तथा कला मे यह सादृश्य किस प्रकार होता है।



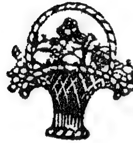
समाज में सादृश्य

समाज मे इस सादृश्य के पद पद पर दर्शन होते हे। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि समाज की व्यावहारिक स्थिति सादृश्य पर अवलम्बित है। समाज का निर्माण पारस्परिक सम्बन्धो के आधार पर होता है। समाज मे अनेक प्रकार के सम्बन्ध है। पिता-पुत्र का, गुरु शिष्य का भाई-बहिन का, पति-पत्नी का, ये सब सम्बन्ध समाज के अन्तर्गत आते हे और इन्ही के सम्यक् निर्वाह पर समाज की व्यावहारिक स्थिति निर्भर है। इन सम्बन्धो का सम्यक् निर्वाह सम्बन्धित व्यक्तियो के उचित आचरण पर निर्भर करता है और इस आचरण का औचित्य प्रस्तुत सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाले अन्य व्यक्तियो के पारस्परिक आचरण के साथ प्रस्तुत आचरण के सादृश्य रखने मे निहित है। यदि प्रस्तुत आचरण प्रस्तुत सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाले अन्य व्यक्तियो के पारस्परिक आचरणो से मेल खाता है तब तो वह उचित कहा जाएगा अन्यथा अनुचित। उदाहरणत पिना एव पुत्र के पारस्परिक आचरण को ले। यदि प्रस्तुत पिता और पुत्र का आचरण पिता एव पुत्र के सामान्य आचरण से मेल खाता है तब तो वह उचित कहा जाएगा अन्यथा अनुचित। इस प्रकार आचरण अथवा व्यवहार का औचित्य सादृश्य पर ही अवलम्बित है और इस व्यवहार के औचित्य पर समाज की व्यावहारिक स्थिति अवलम्बित है।

समाज मे विद्यमान सम्बन्धो मे सादृश्य पर आश्रित इस आचरण का प्रमुख स्थान है। हम प्रत्येक सम्बन्ध के दो भाग कर सकते हे—स्थूल तथा सूक्ष्म अथवा भौतिक एव मानसिक। आचरण सम्बन्ध का सूक्ष्म अथवा मानसिक अग है। सम्बन्ध की सार्थकता इसी अग के निर्वाह मे है। उदाहरणत पिता एव पुत्र के सम्बन्ध को ले। इस सम्बन्ध का स्थूल अश जन्यजनकभाव है तथा सूक्ष्म अश पिता तथा पुत्र का क्रमश स्नेह तथा श्रद्धा-प्रदर्शन है। प्रस्तुत सम्बन्ध की सार्थकता इसी द्वितीय अश के निर्वाह मे है। इस अश के अभाव मे स्थूल सम्बन्ध का कोई मूल्य नही रहता। पिता एव पुत्र के उदाहरण मे मानसिक अश के अभाव मे भौतिक सम्बन्ध बना तो रहता है, कभी कभी तो मानसिक अश के अभाव मे भौतिक सम्बन्ध का उच्छेद भी हो सकता है। पति तथा पत्नी का सम्बन्ध इसी प्रकार का है।

समाज की व्यावहारिक स्थिति मे मानसिक पक्ष पर आश्रित आचरण के इस सादृश्य का महत्त्व इसलिए है क्योकि व्यवहार से सम्बन्ध इसी अश का है। व्यवहार मे व्यक्ति को अपनी ओर से कुछ प्रयत्न करना पडता है। व्यवहार एक साध्य वस्तु है सिद्ध वस्तु नही। सम्बन्ध का यह मानसिक अश भी सम्बन्ध के साध्य अश को लक्ष्य करके प्रवृत्त होता है। सम्बन्ध के इस अश मे व्यक्ति को अपनी ओर से प्रयत्न करना पडता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आभ्यन्तर। पुत्र के उदाहरण को ले तो ज्ञात होगा कि पिता के प्रति उसके आचरण के दो प्रकार हो सकते है—पहले प्रकार मे पिता के आगमन पर पुत्र का आसन से खडे हो जाना, पिता को प्रणाम करना आदि चेष्टाए आती हे। इन चेष्टाओ का शरीर से सम्बन्ध हे। अत ये बाह्य प्रकार के अन्तर्गत आती हे। दूसरे प्रकार के अन्तर्गत पुत्र का पिता के प्रति श्रद्धाप्रदर्शन आदि हे। इनका सम्बन्ध मन से है। अत ये आभ्यन्तर प्रकार के अन्तर्गत हे। वस्तुत देखा जाए तो आचरण का प्रथम प्रकार भी मानसिक ही है। शरीर की बाह्य चेष्टाए हृदय के भाव की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र हे। हृदय का यह भाव उन बाह्य अभिव्यक्तियो के मूल मे रहता है तथा उनके सद्भाव के समय उसका भी सद्भाव रहता है। अत समस्त आचरण को मानसिक अथवा मन प्रधान कहना अधिक उपयुक्त होगा। व्यावहारिक जगत् मे सम्बन्ध का यही मानसिक अश क्रियाशील रहता है। अत यह व्यावहारिक जगत् का मूल है। सम्बन्ध के स्थूल अश के साथ यह बात नही। स्थूल अश पूर्वसिद्ध होता है। अत व्यावहारिक क्षेत्र से उसका बहिर्भाव हो जाता है। उदाहरणत हम "मातृदेवो भव" इस नियम को ले। यहा पुत्र के लिए माता को देवतुल्य समझने का विधान है। माता का जन्मदात्रीत्व अश तो पुत्र के लिए पूर्व-सिद्ध है। अत पुत्र के व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नही। परन्तु 'माता को देवतुल्य' समझना यह अश पुत्र के लिए साध्य है। अत इसके लिए पुत्र के आचरण की अपेक्षा है। पुत्र का जो आचरण इस नियम से मेल खाएगा वह उचित होगा तथा अन्य अनुचित होगा। इसी प्रकार समाज मे अन्य अनेक नियम है जैसे 'पितृदेवो भव' 'आचार्यदेवो' आदि। इन्ही के सम्यक् निर्वाह पर समाज की व्यावहारिक स्थिति अवलम्बित है। इनके सम्यक् निर्वाह के लिए आवश्यक है कि सम्बन्धित व्यक्ति का आचरण इन नियमो से मेल खाए।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ समाज मे विद्यमान सम्बन्धों एव नियमो के स्वरूप मे परिवर्तन होता रहता है। अत यह कहना कहाँ तक उचित है कि समाज की स्थिति सदा सम्बन्धो तथा नियमो के समान रूप से निर्वाह पर अवलम्बित है। इसका उत्तर यह हो सकता है कि समाज का प्रत्येक नियम तथा सम्बन्ध परिवर्तनशील नही । दूसरे जो सम्बन्ध अथवा नियम परिस्थितिवश परिवर्तित होते भी है उनके स्वरूप का निर्धारण परिवर्तित परिस्थिति से साम्य अथवा मेल के आधार पर ही होता है और जब तक वह परिवर्तित परिस्थिति बनी रहती हे तबतक तदनुसार परिवर्तित सम्बन्ध अथवा नियम के स्वरूप का समान रूप से निर्वाह नितान्त अपेक्षित है। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का सादृश्य समाज की व्यावहारिक स्थिति के लिए आवश्यक है।



प्रकृति में सादृश्य

इस सादृश्य के दर्शन हमे प्रकृति मे भी होते है। प्रकृति मे विद्यमान यह सादृश्य अनेक प्रकार का होता है। इस सादृश्य का एक प्रकार तो सम्मुख विद्यमान प्राकृतिक वस्तुओ तथा तत्समान पूर्वदृष्ट प्राकृतिक वस्तुओ का सादृश्य है। यह सादृश्य यद्यपि सम्मुख विद्यमान प्रकृति के अन्तर्गत नही आता, + परन्तु सम्मुख विद्यमान प्रकृति के सम्पर्क मे आने पर अथवा वहाँ जाने पर इसका ज्ञान होता है। इसी दृष्टि से इसे प्रकृति मे सादृश्य कहा है।

प्रकृति के साथ हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण प्राकृतिक वस्तुओ के दर्शन से उत्पन्न सस्कार हमारे मन मे अकित हो जाते हे। हम कालान्तर मे जब ऐसी ही वस्तुओ को देखते है तब इनसे साम्य के आधार पर पूर्वदृष्ट प्राकृतिक वस्तुओ का स्मरण करके आनन्द का अनुभव करते हे। इस दशा मे सादृश्य का ज्ञान थोडी देर के लिए ही होता है। इसके बाद हमारा ध्यान स्मर्यमाण वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है और हम उस वस्तु से सम्बन्धित अपने पूर्व कार्य कलापो पर विचार करने लगते है।

वैसे तो किसी भी वस्तु को देखकर तत्समान पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण हो आता है, परन्तु प्राकृतिक वस्तुओ मे ऐसा विशेष रूप से होता है। प्रकृति का वातावरण शान्त होता है। अत उसमे मस्तिष्क के शान्त होने के कारण स्मृति के लिए पूर्ण अवकाश रहता है।

प्रकृति मे विद्यमान दूसरा सादृश्य प्रकृति मे विद्यमान शान्ति तथा बुद्धि मे निहित शान्ति का सादृश्य है। हम प्रकृति मे एक अपूर्व शान्ति देखते है। हमारी चेतना के मूल मे भी शान्ति विद्यमान है। चेतना के मूल मे स्थित इस शान्ति का प्रकृति मे विद्यमान शान्ति से साम्य होने से हमे आनन्द की अनुभूति होती है। इस साम्य का ज्ञान व्यक्ति को प्राय होता नही। परन्तु उसकी सत्ता अवश्य होती है और इसी से आनन्दानुभूति होती है।

भावुक तथा कविहृदय व्यक्तियो को प्रकृति मे इस शान्त भावना ही का साम्य नही मिलता, अपितु अपने अन्य भावो का भी साम्य मिलता है।

कवि प्रकृति को चेतन के रूप मे देखता है तथा उस पर अपने भावो का आरोप करता है। अपने उल्लास मे प्रकृति उसे उल्लसित तथा अपने विषाद मे वह उसे विषरण्ण दिखाई देती है। इस भाव-साम्य के कारण कवि को आनन्द की अनुभूति होती है।

अब तक प्रकृति मे जिस सादृश्य का विवेचन हुआ है वह सम्मुख स्थित प्रकृति का साम्य अन्य वस्तुओ से लक्ष्य करके हुआ है। ये वस्तुए चाहे पूर्वदृष्ट प्राकृतिक पदार्थ हो अथवा भाव हो, है ये अन्य ही। इसके अतिरिक्त सम्मुख स्थित प्राकृतिक वस्तुओ मे परस्पर भी एक सादृश्य होता है। सम्मुख स्थित प्राकृतिक वस्तुए दो प्रकार की होती हे—मनुष्य के प्रयास से निर्मित तथा सर्वथा नैसर्गिक अवस्था मे विद्यमान। प्रथम कोटि मे उद्यान आदि आते हैं तथा द्वितीय कोटि मे वन, सरिता आदि आते है। उद्यान आदि मे सादृश्य-विधान स्पष्ट ही है। उद्यान मे यद्यपि वृक्षो, पादपो, पुष्पो आदि की विविधता होती है परन्तु उनकी व्यवस्था वहा सादृश्य को ध्यान मे रखकर की जाती है और प्रधानत' इसी से दर्शक के मन मे सौन्दर्य-भावना की उत्पत्ति होती है।

नैसर्गिक अवस्था मे विद्यमान प्रकृति मे भी हमे सादृश्य के दर्शन होते है। इस अवस्था मे प्रकृति मे अनेक विविधताए होती हे। दर्शक उनमे से सदृश वस्तुओ का चयन कर लेता है तथा इस चयन से उत्पन्न प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता है। सदृश वस्तुओ का यह चयन प्रकृति की विशेषता के कारण स्वत हो जाता है। Alexander की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है—

"We find nature beautiful not because she is beautiful herself but because we select from nature and combine as the artist does more plainly when he works with pigments" —Page 30

"The man makes nature beautiful by selection and if need be by imaginative addition" Page 33

Beauty and other forms of Value

उदाहरणत यदि एक वन का दृश्य हमारे सम्मुख है और हमारी दृष्टि एक झुके हुए वृक्ष की ओर जाती हे तो वह दृष्टि उसी वृक्ष तक सीमित

नही रहती, अपितु उस जैसे अन्य वृक्षो को भी अपना विषय बनाती है। फलत उन वृक्षो मे सादृश्यदर्शन के कारण हमे सौन्दर्य की अनुभूति होती है। इसी प्रकार एक सीधे वृक्ष के दृष्टिगत होने पर अनेक इसी जैसे वृक्ष हमारी दृष्टि के विषय बनकर अपनी पारस्परिक समानता के फलस्वरूप हमारे हृदय मे सौन्दर्य की भावना उत्पन्न करते हे। यह सादृश्य प्रकृति मे अनेक प्रकार से सम्भव ह। प्रकृति विविधताओ का विशाल समुदाय हे, परन्तु इस समुदाय मे चयन के फलस्वरूप सादृश्य-विधान कोई कठिन कार्य नही। जहा इस सादृश्य-विधान मे अभाव के कारण कोई कठिनता आती है वहा दर्शक अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे उस अभाव की पूर्ति कर लेता है।

प्रकृति मे अब तक जिस सादृश्य का विवेचन किया गया है वह रूप-साम्य के आधार पर हुआ है। इस साम्य के अतिरिक्त ध्वनि-साम्य के आधार पर भी प्रकृति मे सादृश्य होता है। प्रकृति मे श्रोता को अनेक स्वर सुनाई देते हे। इन स्वरो मे विविधता होती है। परन्तु श्रोता उनके श्रवण मे तल्लीन होकर विविधता के जनक स्वर-वैशिष्ट्य को नही सुनता अपितु स्वर-सामान्य को अपना विषय बनाता है तथा निरन्तर एक समरस ध्वनि की गुञ्जार उसके कानो मे होती रहती है। जहा श्रोता अपना ध्यान स्वरो के इस सामान्य अश पर केन्द्रित न करके उनके विशेष अश को अपना लक्ष्य बनाता है वहा भी विभिन्न स्वरो मे वह सहज ही एक क्रम तथा व्यवस्था स्थापित कर लेता है। उदाहरणत श्रोता वृक्षो पर पक्षियो के विभिन्न शब्दो को सुनता है। इनमे कुछ का स्वर मन्द होता है तथा कुछ का ऊचा। वृक्षो के नीचे वह सरिता की गम्भीर ध्वनि सुनता है। इन विभिन्न ध्वनियो मे श्रोता सहज ही समन्वय स्थापित कर लेता है और इस समन्वित रूप मे वह इन ध्वनियो को निरन्तर सुनता रहता है। इस प्रकार प्रकृति मे व्यक्ति को रूप-साम्य तथा ध्वनि-साम्य दोनो मिलते है और इन दोनो का ज्ञान लगभग साथ साथ सा चलता रहता है। इससे उसे एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।



"कला में सादृश्य"

कला को हम भावो की अभिव्यक्ति कह मकते है। भाव अमूर्त होते हे। इन्हे मूर्त रूप देना ही कला है। इनके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता है। विभिन्न कलाओ मे ये माध्यम भिन्न भिन्न प्रकार के होते हे। साहित्य मे शब्द, सगीत मे स्वर, चित्र मे रेखा एव रग, मूर्ति मे प्रस्तर आदि तथा वास्तु कला मे ईट, चूना आदि माध्यम का काम करते है। इन माध्यमो को कला का भोग तत्त्व कहा जाता है। इस तत्त्व के द्वारा भावो को मूर्त बनाने के लिए आवश्यक है कि इस तत्त्व को एक व्यवस्थित रूप दिया जाए। स्वत भोग तत्त्व भावो की अभिव्यक्ति मे समर्थ नही अपितु उसका व्यवस्थित रूप ही ऐमा करने मे समर्थ है। यह व्यवस्थित रूप कला का रूपतत्त्व कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानो ने इस रूप का सम्बन्ध केवल भोग तत्त्व से जोडा है और इस प्रकार रूप को भोग अथवा माध्यम का रूप कहा है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह रूप भोग अथवा माध्यम का ही रूप नही होता अपितु भावो का भी रूप बन जाता है। इतना अवश्य है कि भावो का अमूर्त रूप इस अवस्था मे मूर्तता को प्राप्त कर लेता है। यह रूपतत्त्व समस्त कलाओ का आवश्यक अङ्ग है। इतना अवश्य है कि किसी कला मे माध्यम से सम्बन्धित रूपतत्त्व सर्वथा गौण अथवा नगण्य होता है तथा भावो से सम्बन्धित रूपतत्त्व ही आनन्द का प्रधान कारण होता है। साहित्य कला इसी प्रकार की कला है। इसके माध्यम शब्द हे। उच्चारण की दृष्टि से ये ध्वनि स्वरूप है। साहित्य-जन्य आनन्द मे शब्दो के इस स्वरूप का महत्त्व नगण्य है। दूसरे शब्दो का यह रूप तो सगीत के अन्तर्गत चला जाता है। अत वह साहित्य को स्वतन्त्र कला सिद्ध करने का हेतु नही। अन्य कलाओ से साहित्य के इस भेद के कारण हम सर्वप्रथम साहित्य के अतिरिक्त अन्य कलाओ मे ही रूपतत्त्व का विवेचन करेंगे। रूप-तत्त्व के विवेचन मे हम प्रथम उसके माध्यम से सम्बन्धित स्वरूप को लेकर चलते है।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र मे रूपतत्त्व के चार गुण माने गए है—सापेक्षता (Proportion) समता (Symmetry) सगति (harmony) तथा सन्तुलन (balance)। अत यह स्पष्ट है कि समता रूपतत्त्व का आवश्यक अग है तथा ऐसा होने के नाते वह कला के

आधारो मे से एक आधार है। इतना ही नही रूपतत्त्व के अन्य गुणो के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि उनके निर्वाह के लिए किसी न किसी रूप मे समानता का ध्यान रखना अपेक्षित है। हम सर्वप्रथम सापेक्षता को लेते है । सापेक्षता का अर्थ है एक दूसरे की अपेक्षा रखना । इस सिद्धान्त के अनुसार कला मे प्रत्येक अवयव की सृष्टि अन्य अवयव अथवा अवयवो को ध्यान मे रखकर होती है। उदाहरणत एक मनुष्य के चित्र मे सिर के आकार का निर्धारण शरीर के अन्य अवयवो को लक्ष्य करके होता है। यदि अन्य अवयव विशाल है तो सिर भी विशाल होगा और यदि अन्य अवयव लघु है तो सिर भी लघु होगा। इतना ही नही, सिर की इस विशालता तथा लघुता की मात्रा का निश्चय भी अन्य अवयवो की विशालता अथवा लघुता की मात्रा के आधार पर होगा। यदि ऐसा नही होता है और फलत एक लघु शरीर पर विशाल सिर की योजना की जाती है तो वह व्यवस्थित रूपतत्त्व के लिए हानिकर होगा और कुरूपता का जनक होगा। वस्तुत शरीर के अवयवो के आधार का अनुपात पूर्वदृष्ट शरीरो के आधार पर हमारे मस्तिष्क मे अकित रहता है। अत हम जब किसी मनुष्य का चित्र देखते है तो अज्ञातरूपेण यह चाहते है कि इस चित्र के अवयवो के अनुपात का साम्य हमारे मन मे पहले से अकित अवयवो के अनुपात से हो। सापेक्षता के सिद्धान्त का स्वत कोई अर्थ नही। जब तक हमे यह ज्ञात नही कि अमुक वस्तु के अवयवो के आकार का अमुक अनुपात लोक मे निश्चित है तब तक यह कहना कि इस वस्तु के अवयवो की रचना उनके आकारसम्बन्धी पारस्परिक अनुपात को लक्ष्य करके की जानी चाहिए कोई अर्थ नही रखता । सापेक्षता का सिद्धान्त वस्तुत पूर्व निश्चित अनुपात को मानकर चलता है तथा उस अनुपात से साम्य के निर्वाह का निर्देश करता है। इस प्रकार सापेक्षता के लिए समता अपेक्षित है। इतना अवश्य है कि सामान्य समता अवयवो की पारस्परिक समानता का निर्देश करती है तथा सापेक्षता पूर्व-निश्चित अनुपात से साम्य का निर्देश करती है।

सगति का अर्थ है अवयवो मे सामञ्जस्य का होना। किसी वस्तु मे अनेक अवयव होते है। इस अनेकता के कारण वस्तु मे विविधता होती है। परन्तु वस्तु के व्यवस्थित रूपतत्त्व के लिए आवश्यक है कि इस विविधता मे एकता की प्रतीति हो। अनेकता मे एकता की यह प्रतीति

अवयवों के मामञ्जस्य के कारण होती है । सामञ्जस्य से अवयव पृथक् पृथक् प्रतीत न होकर एक व्यवस्थित एव सश्लिष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करते है जो प्रत्येक कलाकृति के लिए आवश्यक है। अत यह स्पष्ट है कि सगति अथवा सामञ्जस्य कला के रूपतत्व का प्राण है। यहा यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह संगति अवयवो मे किस प्रकार आती है। अवश्य ही सगति के लिए कुछ ऐसे नियमो की आवश्यकता है जिनके फलस्वरूप सगति उत्पन्न हो। बिना किसी अन्य नियम को अपनाए अवयवो मे स्वत सगति नही लाई जा सकती। अवयवो मे स्वत सगति तो तभी लाई जा सकती है जब सगति का कोई पूर्व-निर्दिष्ट सामान्य स्वरूप कलाकार के सम्मुख हो। परन्तु ऐसा नही होता । सगति का ज्ञान कलाकार को तभी होता है जब सगति कलाकृति मे आ चुकती है, इससे पूर्व नही। जब कलाकार कलाकृति के एक अवयव का निर्माण कर लेता है तथा एक अन्य अवयव का निर्माण करना चाहता है जिसकी पूर्व अवयव से सगति बैठे तब स्वत सगति का कोई निश्चित स्वरूप उसके सामने नही होता जिसका तटस्थता से अनुसरण करके वह दूसरे अवयव का निर्माण कर सके। इसलिऐं स्पष्टत अथवा अस्पष्टत वह समानता आदि के सिद्धान्त अपनाता है जिनके फलस्वरूप कलाकृति मे सगति आती है । अत यह सिद्ध है कि सगति के निर्वाह के लिए समानता, सापेक्षता आदि का निर्वाह आवश्यक है। सापेक्षता के लिए समानता आवश्यक है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। अत.संगति के निर्वाह मे समानता का प्रमुख स्थान है।

सन्तुलन का अर्थ है एक अवयव के द्वारा अन्य अवयव अथवा अवयवो के प्रभाव मे वृद्धि करना। सगति के समान इस गुण का भी कोई पूर्वनिश्चित स्वरूप कलाकार के सम्मुख नही रहता परन्तु समता के विभिन्न स्वरूपो को अपनाकर ही वह कलाकृति मे इस गुण को जन्म देता है । रूपतत्त्व मे सन्तुलन गुण के निर्देश का उद्देश्य कलाकृति मे सन्तुलन लाना ही नही अपितु इस गुण के अभाव से उत्पन्न रूपविघातक प्रभाव से बचना भी है। इसका कारण यह है कि इस गुण के अभाव मे अवयव विशेष का ही सन्तुलन नष्ट नही होता अपितु वह अन्य अवयवो को भी प्रभावित करता है तथा उनके सन्तुलन को नष्ट कर देता है । इस प्रकार अवयव-विशेष का

असन्तुलन उसी अवयव तक सीमित न रहकर समस्त अवयवसमुदाय को अपने क्षेत्र मे ले आता हे । सगति के अभाव मे ऐसा नही होता। अवयव-विशेष की असगति उसी अवयव तक सीमित रहती है । इस दशा मे केवल इतना होता है कि असगत अवयव का अन्य अवयवो से मेल नही बैठता । अन्य अवयवो का पारस्परिक मेल वैसा बना रहता है । परन्तु असन्तुलन मे अवयव-विशेष इतना विपम अथवा बेमेल होता है कि उसका यह विषम स्वरूप समस्त चित्र को ही अस्त-व्यस्त कर देता है । इस प्रकार असन्तुलन असगति का बढा हुआ रूप है। अत व्यवस्थित रूप-निर्माण के लिए इससे बचना परम आवश्यक है ।

कलाकृति के स्वरूप मे बाह्य आकार अथवा रूप की दृष्टि से ही साम्य नही अपितु भाव की दृष्टि से भी साम्य होता है । हम भाव को कलाकृति के रूप से सर्वथा पृथक् नही कर सकते। वस्तुत हम जब कलाकृति का दर्शन करते है तब उसका स्थूल आकार ही हमारी दृष्टि का विषय नही बनता, परन्तु वे भाव भी हमारी दृष्टि के विषय बनते है जो उस आकार से व्यक्त हो रहे हे । इस प्रकार हम बाह्य आकारमात्र को न देखकर भावो से ओतप्रोत आकार को देखते है । यदि भगवान् शकर की मूर्ति हमारे सामने है तो हम उस शान्त भावना को देखे बिना नही रह सकते जो उस मूर्ति के प्रत्येक अवयव से झलक रही है । यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि ऐसी दशा मे हम एक जड मूर्ति का आकार न देखकर शान्त भावना का मूर्त रूप देखते है । इस शान्त भावना के लिए भी साम्य का निर्वाह अपेक्षित है । हम यह शान्त भावना मूर्ति के एक आध अवयव मे प्रतिबिम्बित न देखकर समस्त अवयवो मे प्रतिबिम्बित देखते है । इस भावना मे शरीर के प्रत्येक अवयव की एक विशेष स्थिति होती है । नेत्र, मुख, हस्त आदि समस्त अवयव इस भावना के समय एक विशेष आकार धारण करते है । अत. हम इन सब अवयवो के इस विशेष आकार को देखकर इन सब अवयवो मे एक समान शान्त भावना के दर्शन करते है। और फलत एक शान्त मुद्रा हमारे सामने नाचने लगती है । यदि भाव के अभिव्यञ्जक किसी एक शारीरिक अवयव से शान्त भावना की अभिव्यक्ति न होकर अन्य किसी भाव की अभिव्यक्ति होती है तो सब अवयवो से समान भाव के अभिव्यक्त न होने के कारण शान्त भावना

की अभिव्यक्ति नही हो सकती । इस प्रकार स्पष्ट है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए साम्य का निर्वाह अपेक्षित है ।

चित्रकला मे चित्र के विभिन्न अवयवो से ही नही अपितु उसके वर्णों से भी भावो की अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न वर्ण विभिन्न भावनाओ के अभिव्यञ्जक माने गए है, जैसे हरा रग शीतलता का, नीला रग गम्भीरता का तथा श्वेत वर्ण स्वच्छता का अभिव्यञ्जक माना गया है । इस प्रकार चित्र के समस्त अवयवो एव वर्णो से एक समान भाव की अभिव्यक्ति होने के कारण हमे वह चित्र उस भाव का मूर्त रूप प्रतीत होता है ।

भावाभिव्यक्ति के इस विषय को लेकर वास्तुकला मे बाधा अवश्य उपस्थित होती है, परन्तु इसका कारण यह नही कि वास्तुकला मे भावो की अभिव्यक्ति का लेश भी नही होता अपितु इसका कारण यह है कि इस कला मे भावो की अभिव्यक्ति अत्यन्त अस्पष्ट होती है । दूसरे इस कला मे प्रधानत जीवन के भावो की अभिव्यक्ति न होकर सनातन तथा चिरन्तन भावो की अभिव्यक्ति होती है । इन भावो का हमारे जीवन से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण तथा प्रस्तुत कला मे बाह्य आकार के अत्यन्त विशाल होने के कारण हमारा ध्यान आकार से आगे बहुत कम बढता है ।

कुछ विद्वानो के अनुसार भावाभिव्यक्ति का यह सिद्धान्त संगीत पर भी लागू नही होता । इनके अनुसार सगीत मे केवल स्वर के आरोहावरोह का चमत्कार होता है किसी भावविशेष का नही । इन विद्वानो का यह मत पूर्णत सत्य नही । हम भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से सगीत के दो भेद कर सकते है—शुद्ध तथा मिश्रित । शुद्ध संगीत मे वाद्यसगीत आदि आते है । इस संगीत मे भावो की सत्ता नही होती परन्तु मिश्रित सगीत मे भावो की सत्ता होती है । इस सगीत मे श्रोता स्वरो के आरोहावरोह का ही आनन्द नही लेता अपितु उससे अभिव्यक्त होने वाले भावो का भी आनन्द लेता है । यह सम्भव है कि सगीत प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति न कर सके परन्तु हर्ष, विषाद आदि परस्पर सर्वथा भिन्न भावो की अभिव्यक्ति वह सरलता से कर सकता है और जहा ऐसे भावो की अभिव्यक्ति होती है, वहा वह अत्यन्त तीव्र होती है । ऐसे भावो की अभिव्यक्ति के लिए भी साम्य का निर्वाह आवश्यक है ।

उपर्युक्त कलाओ के द्वारा कलाकार जिस भाव को अभिव्यक्त करता है उसकी अनुभूति प्राय पहले से विद्यमान रहती है। पूर्व विद्यमान अपनी इस अनुभूति को वह कला के माध्यम द्वारा व्यक्त करता है। कभी कभी यह भी सम्भव है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का अस्तित्व समकालीन हो तथा अभिव्यक्ति का रूप धारण करने पर ही कलाकार को अनुभूति का ज्ञान हो। परन्तु ऐसी दशाओ मे भी अनुभूति का कोई न कोई अश अभिव्यक्ति से पूर्व अवश्य रहता है तथा अभिव्यक्ति के समय अस्तित्व मे आने वाली अनुभूति इसी पूर्व अनुभूति का विकसित स्वरूप होती है। ऐसा प्राय. बहुत कम होता है कि बिना किसी प्रकार की पूर्व अनुभूति के कलाकार सहसा अभिव्यक्ति का रूप खडा कर सके। अत अनुभूति अथवा इस अनुभूति के किसी अश के पूर्व से विद्यमान रहने के कारण यह आवश्यक है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति मे साम्य हो। कला की सफलता साम्य के इसी निर्वाह मे निहित है।

कला मे सादृश्य की यह सिद्धि विवेचक की दृष्टि से की गई है। जहा तक दर्शक का सम्बन्ध है उसे कला मे सादृश्य की प्रतीति कुछ ही अशो मे होती है। जहा उसे कला मे सापेक्षता, सगति आदि तत्त्वो के दर्शन होते है वहा उसकी दृष्टि उन्ही तत्त्वो तक सीमित रहती है। इन तत्त्वो के निर्वाह के लिए समानता का ध्यान अपेक्षित अवश्य है परन्तु दर्शक उस समानता तक नही जाता।



"काव्य में सादृश्य"

कवि की दृष्टि से —

काव्य मे भी इस सादृश्य का निर्वाह अपेक्षित है। काव्य का निर्माण शब्द के माध्यम से होता है। इस माध्यम के द्वारा काव्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। अभिव्यक्ति से पूर्व यह अर्थ कवि के हृदय मे अनुभूति के रूप मे रहता है। इस अनुभूति को अभिव्यक्ति मे परिणत करना ही काव्य का उद्देश्य है। अत काव्य के लिए अनुभूति तथा अभिव्यक्ति मे साम्य होना नितान्त आवश्यक है। कवि जिस वस्तु की अनुभूति करता है उसे ही वह भाषा द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है। अत उसकी इस अभिव्यञ्जना की सफलता इसी मे है कि यह अनुभूति का ही एक बाह्य रूप हो। वस्तुत अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के मूल मे तत्त्व एक ही है। अन्तर है तो केवल इसके स्वरूप मे है। कालिदास के निम्न लिखित श्लोक का यही आशय है —

"तामभ्यगच्छद्र रुदितानुसारी मुनि कुशेध्माहरणाय यात ।

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक ॥

इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकि के शोक ने ही श्लोक का रूप धारण किया। अत श्लोक के रूप मे जो वस्तु अभिव्यक्त हुई वह कोई नवीन वस्तु नही थी अपितु जो वस्तु पहले अव्यक्त थी उसी ने अब व्यक्त भाषा का रूप धारण किया। "क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत"[१] इस उक्ति का यही तात्पर्य है। दण्डी की काव्य की परिभाषा "शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"[२] भी शब्द तथा अर्थ के साम्य की द्योतक है।

यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि जब अनुभूति ही अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है तथा उसके साथ अविच्छेद्य रूप से लिपटी रहती है तो दोनो को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। क्रोचे ने ऐसा ही किया है। इनके अनुसार अभिव्यक्ति ही कला का सर्वस्व है। यह अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति के रूप

---

१. ध्वन्यालोक १ । ५   २. काव्यदर्श १ । १०

मे होती है। बाह्य अभिव्यक्ति की इस आन्तरिक अनुभूति से कोई पृथक् सत्ता नही। कलाकार के हृदय मे आन्तरिक अनुभूति उत्पन्न होते ही अभिव्यक्ति वस्तुत' पूर्णता को प्राप्त कर चुकती है। अत उसे शब्दादि के द्वारा बाह्य रूप देना विशेष महत्त्व का नही,—

"When we have mastered the ınternal woıd, when we have vıvıdly and clearly conceıved a fıguıe oı statue, when we have found a musıcal theme, expıessı-on ıs boın and ıs complete, nothıng more ıs needed What we then do ıs to say aloud what we have already saıd wıthın, sıng aloud what we have alıeady sung wıthın"[1]

क्रोचे का यह मत समीचीन नही। क्रोचे के अनुसार आन्तरिक अनुभूति ही कला अथवा काव्य के लिए पर्याप्त है। परन्तु हमारे विचार से उसका शब्दादि बाह्य रूप मे अभिव्यक्त होना अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए आवश्यक है। आन्तरिक अनुभूति कवि की व्यक्तिगत वस्तु है। अत वह सहृदयो के आस्वादन का विषय नही बन सकती। काव्य के लिए आवश्यक है कि वह कवि की व्यक्तिगत चेतना तक सीमित न रहे अपितु सहृदयो के आस्वादन का विषय बने। अतः आन्तरिक अनुभूति के लिए बाह्य अभिव्यक्ति का रूप धारण करना आवश्यक है। दूसरे अनुभूति उत्पन्न होते ही स्वतः अभिव्यक्ति का रूप धारण नही कर लेती। इसके लिए कवि को शब्दादि जुटाने की क्रिया का आश्रय लेना पडता है। अतः इन दोनो मे कुछ अन्तर मानना आवश्यक है।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का अन्तर दोनो के स्वरूपभेद पर आश्रित है। अभिव्यक्ति का स्वरूप भाषा होता है तथा अनुभूति का स्वरूप भाव अथवा भावो की तीव्रता। भाषा के दो अश किए जा सकते है—उसका उच्चारणाश तथा विचारॉश अथवा भावाश। पूर्व अश श्रोत्रगम्य होता है तथा द्वितीय अश बुद्धिगम्य अथवा हृदयगम्य। जहा तक भाषा के इस श्रोत्रगम्य अश का सम्बन्ध है भावो से इसकी पृथक्ता स्पष्ट है। अनुभूति

१ साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ४५२ fn.

के समय इस अंश की उपस्थिति नही होती। हा इतना अवश्य है कि इस अश का भावो से साम्य होता है। भाषा मे उच्चारण की कठोरता तथा कोमलता भावो की कठोरता तथा कोमलता को लक्ष्य करके होती है (इसका निरूपण रस-प्रकरण मे किया जाएगा)। भाषा के द्वितीय अश का भी अनुभूति के समय उपस्थिन भावो से आशिक अन्तर है। भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति के समय प्रत्येक भाव भाषा का रूप ग्रहण कर चुका होता है। परन्तु अनुभूति के समय प्रत्येक भाव के साथ ऐसी बात नही होती। उस समय कवि के सम्मुख अनेक ऐसे भाव होते है जो भाषा के रूप मे उसके सम्मुख उपस्थित न होकर केवल भावरूप मे उपस्थित होते है और फलत उसके लिए उन्हे भाषा का रूप देना अवशिष्ट होता है

यदि प्रश्न भावो का न होकर विचारो का हो तब तो हम कह सकते है कि विचारो की उपस्थिति प्राय. भाषा के रूप मे होती है। परन्तु भावो के साथ ऐसी बात नही। इसका कारण विचारो तथा भावो का स्वरूप-भेद है। विचार शान्त चेतना के परिणाम है, परन्तु भाव उद्वेलित चेतना के परिणाम हे। निश्चल चेतना जब कोई परिणाम धारण करती है तब ज्ञान की द्योतक भाषा भी प्राय उपस्थित हो जाती है। परन्तु इस ज्ञान के फलस्वरूप जब भावना जागृत होती है तब वह भाषा के रूप मे नही होती। उदाहरणत कवि जब किसी के प्रसन्न मुख को देखता है और उसे मुख की प्रसन्नता का ज्ञान होता है तब इस ज्ञान के साथ साथ इस ज्ञान की द्योतक भाषा का ज्ञान भी चलता रहता हे। कवि जब मुख की आकृति देखता है ओर उसमे प्रसन्नता के भाव का दर्शन करता है तब उसे यह ज्ञात होता है कि मेरे सम्मुख जो यह आकृति विद्यमान है उसका नाम मुख है तथा इस आकृति मे जो भाव विद्यमान है उसे प्रसन्नता कहते है। परन्तु मुख की प्रसन्नता के दर्शन के फलस्वरूप कवि को जो अनुभूति होती है उसकी उपस्थिति भाषा के रूप मे नही होती। इस अनुभूति मे ज्ञानाश के साथ उसकी तीव्रता का अश भी मिला रहता है। यह तीव्रताश भाषा के रूप मे उपस्थित नही होता। अतः उसे भाषा के रूप मे व्यक्त करना अवशिष्ट रहता है। इसी की पूर्ति के लिए कवि कहता है कि इसका मुख पुष्प के समान विकसित है। इसी प्रकार कवि जब भुजाओ मे कठोरता, विशालता आदि धर्मों को देखता है तब उसके

हृदय मे तदनुरूप भावना जागृत होती है। इस भावना मे कठोरता, विशालता आदि धर्मों के ज्ञान के साथ इन धर्मों के अतिशय का ज्ञान भी मिला रहता है और यह ज्ञान सीधे अतिशयज्ञान के रूप मे न होकर भावो के वेग के रूप मे होता है। इसी की अभिव्यक्ति के लिए कवि कहता है कि ये भुजाए वज्र के समान कठोर हे, अर्गला के समान विशाल हे इत्यादि। इस प्रकार अभिव्यक्ति मे प्रस्तुत विधान के अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान भी रहता है। यह अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत की सफल अभिव्यक्ति के लिए ही होता हे। इस अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत उपर्युक्त उदाहरणो मे पुष्प, वज्र तथा अर्गला आदि के चित्र हे। अप्रस्तुत विधान अलकार-विधान के अन्तर्गत आता है। अभिव्यक्ति के लिए इस अलकार विधान के अतिरिक्त शब्द की लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियो का भी प्रयोग होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति मे अन्तर है। परन्तु इस अन्तर के होते हुए भी इतना निश्चित है कि अभिव्यक्ति को अनुभूति से सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता। अनुभूति अभिव्यक्ति के मूल मे रहनी है तथा इस अभिव्यक्ति के साथ साथ चलती रहती है। इस प्रकार इन दोनो तत्त्वो को हम एक ही अनुभूति की दो स्थितिया कह सकते है जिनमे एक अमूर्त है तथा दूसरी मूर्त है। वह अनुभूति जो पहले अमूर्त होती है अभिव्यक्ति की अवस्था मे मूर्त होकर भाषा का रूप धारण करती है।

व्यवहार से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जब हमारे हृदय मे भाव-सरणि प्रवाहित होती है तो हम उसे तदनुरूप भाषा द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते है। जब तक तदनुरूप भाषा हमे मिलती रहती है हमारी लेखनी अबाध गति से चलती रहती है और हमे एक आनन्द का अनुभव होता रहता है। परन्तु जब भावो के अनुरूप भाषा नही मिलती तब हमारी लेखनी की गति रुक जाती है और वह तभी आगे सरकती है जब भावो के अनुरूप भाषा मिल जाए।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति मे घनिष्ठता अवश्य है परन्तु दोनो मे से हम किसी एक का लोप नही कर सकते। यही कारण है कि भारतीय आलंकारिको ने अपनी काव्य की परिभाषा मे प्रायः शब्द तथा अर्थ दोनो

का सन्निवेश किया है। भामह की काव्य की परिभाषा "शब्दार्थों सहितौ काव्यम्" [1] से यह स्पष्ट है।

काव्य का साहित्य नाम इसी तथ्य का परिचायक है। साहित्य का अर्थ है 'सहितयोर्भाव'। इसमे शब्द तथा अर्थ दोनो की सत्ता आवश्यक है। यह ठीक है कि प्राचीन काल मे साहित्य के लिए काव्य शब्द का ही प्रयोग होता था और साहित्यशास्त्र के लिए अलकारशास्त्र का प्रयोग होता था, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उन लोगो को उपर्युक्त सिद्धान्त का ज्ञान न हो। भामह आदि की काव्य की परिभाषाए जहा इस सिद्धान्त की द्योतक है वहा कालिदास का निम्नलिखित श्लोक इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन करता है—

'वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।"—रघुवश १। १

कवि को दो वस्तुओ की आवश्यकता है—दर्शन की तथा वर्णन की। केवल दर्शन से व्यक्ति दार्शनिक होता है। कवि के लिए आवश्यक है कि दर्शन के अनुरूप वर्णन भी हो। कवि की अनुभूति जब तदनुरून भाषा द्वारा अभिव्यक्त होती है तभी उसकी कवि सज्ञा होती है। कवि के लिए दृष्टि तथा सृष्टि का मञ्जुल सामञ्जस्य अपेक्षित है—

'दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविविश्रुतिः।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥'

इत्यादि उपर्युक्त श्लोक इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक है।

—साहित्यशास्त्र प्र० ख० पृ० २९७, २९८



---

१ भामहालकार—१। १६

सहृदय को लक्ष्य करके काव्य के स्वरूप तथा उसमें सादृश्य का विवेचन

अब तक काव्य मे साम्य का जो विवेचन हुआ है वह कवि को लक्ष्य करके निर्धारित किए हुए काव्य के स्वरूप को सामने रखकर हुआ हे। सस्कृत साहित्यशास्त्र मे काव्य के स्वरूप का विवेचन सहृदय को लक्ष्य करके हुआ है। अत अब हमे इसी दृष्टिकोण से काव्य के विभिन्न स्वरूपो का विवेचन करके उनमे साम्य सिद्ध करना है। सर्वप्रथम हम काव्य के विभिन्न स्वरूपो का विवेचन करते हे।

काव्य के पठन से सहृदय को विविध अनुभूतिया होती है। इन अनुभूतियो तक वह भाषा के माध्यम से पहुँचता है। भाषा के माध्यम से अनुभूतियो तक पहुँचने को हम अनुभूति तक पहुँचने की प्रक्रिया अथवा व्यापार कह सकते है। काव्य के स्वरूप-ज्ञान के लिए अनुभूति के स्वरूप-ज्ञान से पूर्व अनुभूति तक पहुँचने के इस व्यापार का ज्ञान आवश्यक है क्योकि यह व्यापार अनुभूति तक पहुँचने का साधन ही नही अपितु अनुभूति के स्वरूप का निश्चय भी करता है। अनुभूति तक पहुँचने का यह व्यापार शब्द-शक्ति के माध्यम से होता है।

शब्द-शक्तिया तीन प्रकार की मानी गई है—साक्षात् अर्थद्योतन की प्रक्रिया, साक्षात् अर्थ को गौण बनाकर अन्य अर्थ ध्वनित करने की प्रक्रिया तथा साक्षात् अर्थ को बाधित करके अन्य अर्थ लक्षित करने की प्रक्रिया। इनके नाम क्रमश , अभिधा, व्यञ्जना तथा लक्षणा हे।

काव्य के स्वरूप-विवेचन के लिए हम सर्वप्रथम अभिधा व्यापार को लेते है। काव्य मे प्रयुक्त अभिधा व्यापार के लिए आवश्यक है कि उसमे वक्रता हो। लोक-व्यवहार मे दृष्टिगोचर सीधा अभिधा व्यापार वहा अपेक्षित नही। इसका कारण यह है कि काव्य मे चारुता का होना आवश्यक है। यह चारुता लोक मे प्रयुक्त सीधे व्यापार से नही अपितु वक्रतायुक्त अभिधा व्यापार से ही सम्भव है। इसीलिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहा है। काव्य मे प्रयुक्त विभिन्न अलङ्कार इसी वक्रतायुक्त अभिधा व्यापार के परिणाम है। इन अलङ्कारो को हम काव्य

का स्वरूप कह सकते है। अलङ्कार-सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

व्यञ्जना व्यापार चारुता का प्रमुख कारण है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तथा उसका सौन्दर्य इसी व्यापार के कारण है। इस प्रतीयमान अर्थ को ध्वनिकार ने वाच्यार्थ से पृथक् बताकर महाकवियो की वाणी का उत्कृष्ट तत्त्व कहा है तथा इसकी तुलना स्त्री के लावण्य से की है जो उसके प्रसिद्ध अवयवो से भिन्न वस्तु है.—

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवागनासु ।।

ध्वन्यालोक १।४

प्रतीयमान अर्थ की चारुता का रहस्य व्यञ्जना व्यापार मे निहित है। तथ्य यह है कि जो बात सीधे और स्पष्ट रूप से कह दी जाती है उसमे कोई चमत्कार नही होता। परन्तु जो बात छिपाकर कही जाती है वह चमत्कारोत्पादक होती है। इसीलिए कहा गया है कि 'गूढ सत् चमत्करोति।' व्यञ्जना व्यापार मे यही होता है। अत. यह काव्य की आत्मा माना गया है। ध्वनि सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है। व्यञ्जना व्यापार शब्द के अर्थाश को लक्ष्य करके ही प्रवृत्त नही होता अपितु उसके उच्चारणाश को लक्ष्य करके भी प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति मे शब्द अथवा वाक्य के वर्णो से ध्वनि निकलती है। यदि वर्ण कोमल होते है तो कोमल भाव और यदि वर्ण कठोर हो तो कठोर भाव ध्वनित होता है। इसे आलङ्कारिको ने वर्ण-ध्वनि कहा है (इसका निरूपण रस एव अनुप्रास प्रकरण मे किया जायगा)। रीतिसम्प्रदाय के शब्द गुणो का अन्तर्भाव इसी वर्ण-ध्वनि मे किया जा सकता है।

लक्षणा मे रूढि तथा प्रयोजन इन दो हेतुओ मे से किसी हेतु का होना आवश्यक माना गया है। इसीलिए कहा गया है।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्,
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।

—काव्यप्रकाश २।१२

इन दो हेतुओ के अनुसार लक्षणा के दो भेद होते है—रूढि एव प्रयोजनवती । जहा तक काव्य के स्वरूप का सम्बन्ध है लक्षणा का प्रथम भेद रूढि विचारणीय नही । इसका कारण यह है कि काव्य के लिए चारुता की सत्ता आवश्यक है । परन्तु रूढि लक्षणा मे किसी प्रकार का चमत्कार नही होता । उदाहरणत हम रूढि लक्षणा के उदाहरण 'कर्मणि कुशल' को लेते है । इसमे किसी प्रकार का चमत्कार नही । अत यह काव्य का स्वरूप नही हो सकता ।

प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन की सत्ता आवश्यक है । चारुता की प्रतीति इसी प्रयोजन के कारण होती हे । उदाहरणत हम प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण 'गङ्गाया घोष' को लेते हे । यहा प्रयोजन के रूप मे पावनत्वादिधर्म विद्यमान हे । इनसे घोष मे पवित्रता का बोध होता है । चमत्कार की सत्ता इसी पवित्रता के बोध मे है । इस पवित्रता का ज्ञान व्यञ्जना व्यापार से होता है । इसीलिए कहा गया है कि 'प्रयोजन हि व्यञ्जनाव्यापारगम्यम्' ।[1] इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा क उदाहरणो मे व्यञ्जना व्यापार की भी सत्ता रहती है और चमत्कार-प्रतीति इसी व्यञ्जना-व्यापार के कारण होती है । अत काव्यस्वरूप की दृष्टि से प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण व्यञ्जना के उदाहरणो के अन्तर्गत किए जा सकते हे । हम इन उदाहरणो को लक्षणामूला व्यञ्जना के उदाहरण कह सकते है । इसी व्यञ्जना को लक्ष्य करके ध्वनिकाव्य के भेदो मे अविवक्षितवाच्यध्वनि नामक भेद माना गया है । अत प्रयोजनवती लक्षणा के आधार पर काव्य का पृथक् स्वरूप मानने की आवश्यकता नही ।

भाषा के माध्यम से सहृदय जिस अनुभूति तक पहुँचता है वह प्रधानत: दो प्रकार की होती है—भावविषयक तथा अन्यवस्तुविषयक । प्रथम मे अनुभूति का विषय भाव होता है तथा द्वितीय मे भाव के अतिरिक्त अन्य वस्तु । अनुभूति का यह विभाजन उसके विषय के आधार पर किया गया है उसके स्वरूप के आधार पर नही । स्वरूप की दृष्टि से तो समस्त अनुभूति भावनारूप ही होती है । उदाहरणत जब हम भुजाओ मे विशालता धर्म को देखते है और उसके फलस्वरूप हमे विशालता की अनुभूति होती है तब वह अनुभूति एक बाह्य धर्म के तटस्थ ज्ञान के रूप मे न होकर भावना-

---

१- काव्यप्रकाश पृष्ठ ५५ ।

रूप मे होती है। विशालता धर्म का ज्ञान हमारे हृदय को स्पन्दित करके उसमे गति उत्पन्न कर देता है और फलत यह ज्ञान शुष्क ज्ञान न रहकर भावना मे परिवर्तित हो जाता है। इतना होते हुए भी इस प्रकार की भावना का विषय बाह्य ही होता है। अत हृदय का उसके साथ अधिक निकट सम्बन्ध नही होता। भावानुभूति मे इसके विपरीत अनुभूति का विषय चित्त ही की कोई वृत्ति होती है। ये वृत्तिया रति, हास, शोक आदि है। इनका सद्भाव अनुभूति करने वाले के चित्त मे होता है। यद्यपि काव्य मे इनका वर्णन पात्रादि के सम्बन्ध मे होता है तथापि यह निश्चित है कि ये वृत्तिया मनुष्यमात्र की सामान्य वृत्तिया होने के नाते पाठक के हृदय मे भी स्थित रहती है। अत पाठक को अपने ही हृदय मे सामान्य रूप से स्थित इन भावो की अनुभूति होती है। साहित्यशास्त्र मे इसे रस कहा गया है। यह रस काव्य का प्रसिद्ध स्वरूप है। रस सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

रस का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भावो से सम्बन्वित समस्त वर्णन रस के अन्तर्गत आता है। भावो के प्रसग मे किया हुआ अन्य वस्तुओ का वर्णन भी एक प्रकार से भावो का ही वर्णन है। अत वह समस्त रस के अन्तर्गत आता है। काव्य मे रसानुभूति अथवा भावानुभूति सदा व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है। इसका कारण यह है कि रस वाच्य न होकर सदा व्यग्य होता है। यदि रस वाच्य हो तो रसादि शब्दो के प्रयोग से उसकी अनुभूति सम्भव होनी चाहिए। परन्तु ऐसा कदापि नही होता। इसके विपरीत रसादि के वाचक शब्दो के अप्रयोग की दशा मे भी विभावादि के प्रतिपादन से रस की अभिव्यक्ति होती है। इससे यही निश्चय होता है कि रस व्यग्य है।[1] इसीलिए साहित्यशास्त्रियो ने रस को रसध्वनि कहा है।

यहा यह प्रश्न उठता है कि यदि रस की अभिव्यक्ति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है तो रस को व्यञ्जना के अतिरिक्त काव्य का स्वरूप

---

१. रसादिलक्षणस्त्वर्थ स्वप्नेऽपि न वाच्य.। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादि-शब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रति-पत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्या विभावाद्यभिधान-द्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनासौ व्यग्य एव। —काव्यप्रकाश पृष्ठ २१७।

मानने की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है कि रसदशा मे व्यञ्जना व्यापार होता तो अवश्य है, परन्तु इसका क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि वह सहृदय को लक्षित नही होता। सहृदय को ऐसा प्रतीत होता है मानो उसे वाच्यार्थ के ज्ञान के साथ ही रसानुभूति हो रही है । इसका कारण यह नही कि व्यञ्जना व्यापार के क्रम का वहा पर अभाव है, अपितु उस व्यापार का लक्षित न होना ही इसका कारण है। इसी बात को लक्ष्य करके आलकारिको ने रस को अलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि कहा है । इस समस्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि रस दशा मे व्यञ्जना व्यापार की जो सिद्धि हुई है वह केवल विवेचक की विश्लेषण-बुद्धि के आधार पर हुई है। जहा तक सहृदय का सम्बन्ध है उसे इस प्रकार के व्यापार की प्रतीति नही होती अपितु केवल रस की प्रतीति होती है। इसलिए रस को व्यञ्जना के अतिरिक्त काव्य का स्वरूप मानना समीचीन है।

रसानुभूति मे सहृदय को व्यञ्जना की नो प्रतीति नही होती, परन्तु एक अन्य तत्त्व की प्रतीति होती रहती है। यह तत्त्व औचित्य है। रसानुभूति के लिए आस्वादन की समरसता आवश्यक है और इस समरसता के लिए औचित्य का निर्वाह आवश्यक है। जैसे जैसे औचित्य का निर्वाह होता रहता है सहृदय को इसकी प्रतीति होती रहती है और इसके फलस्वरूप उसे रसानुभूति होती रहती है । जैसे ही इस औचित्य के निर्वाह मे कोई बाधा आती है वह तुरन्त सहृदय का ध्यान रस से अन्यत्र आकृष्ट करती है और फलतः रसभग हो जाता है। इसीलिए ध्वनिकार ने कहा है —

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।" ध्वन्यालोक पृ० ३३०

इससे यह स्पष्ट है कि औचित्य रस के लिए अपेक्षित है। अत यह भी काव्य का एक स्वरूप है। औचित्य सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

काव्य मे जहा सहृदय को भाव के अतिरिक्त अन्य वस्तु की अनुभूति होती है वहा व्यञ्जना अथवा अभिधा मे से कोई एक व्यापार कार्य करता है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि वहा व्यञ्जना अथवा अलकारो

मे से किसी एक की सत्ता होती है। यह सत्ता केवल विवेचक की दृष्टि से ही नही होती अपितु सहृदय की दृष्टि से भी होती है। सहृदय को वहा व्यञ्जना अथवा अलकार के चमत्कार की प्रतीति होती रहती है। और यह प्रतीति उसकी अनुभूति का आवश्यक अग होती है। अत ऐसे स्थल व्यञ्जना अथवा अलकार के अन्तर्गत आ जाते हे। इमके लिए काव्य का पृथक् स्व.प मानने की आवश्यकता नही।

इस प्रकार औचित्य, रस, ध्वनि और अलकार ये काव्य के विभिन्न स्वरूप हुए। हमे इनमे से एक एक को लेकर यह देखना है कि उनमें साम्य कहा तक स्थित है।



"औचित्य तथा सादृश्य"

औचित्य की परिभाषा क्षेमेन्द्र ने निम्न प्रकार से की है—

"उचित प्राहुराचार्या सदृश किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते ।"

—औचित्यविचारचर्चा पृ० २ कारिका ७

यहा सदृश से तात्पर्य अनुकूल से है। अत अनुकूलता को औचित्य कहा जा सकता है। अनुकूलता किसी वस्तु की अन्य वस्तु के प्रति होती है। इस प्रकार अनुकूलता मे दो वस्तुए होती है—एक वह जो अनुकूल होती है तथा अन्य वह जिसके प्रति प्रथम वस्तु अनुकूल होती है। उदाहरणत केयूर तथा हाथ इन दो वस्तुओ को ले। इनमे केयूर को हाथ मे धारण करना हाथ के अनुकूल है। यदि केयूर को हाथ मे धारण न करके पैर मे धारण किया जाता है तो वह पैर के अनुकूल न होकर प्रतिकूल होगा। अत ऐसा आचरण हास्य का जनक होगा। क्षेमेन्द्र की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है —

'कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम् ।।"

—औचित्यविचारचर्चा पृ० १, २

यहा यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि केयूर को धारण करना हाथ के लिए अनुकूल क्यो है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि इसके दो हेतु है। प्रथम है हाथ तथा केयूर मे सादृश्य तथा द्वितीय है लोक-व्यवहार ।

हाथ तथा केयूर मे एक धर्म साधारण है। वह है गोलाई की समानता। हाथ मे केयूर का विन्यास दोनो की इसी समान गोलाई के कारण किया जाता है। यदि केयूर तथा हाथ की गोलाई मे यह समानता न होती तो प्रथम का द्वितीय मे विन्यास उचित न होता। उदाहरणत· केयूर तथा

पैर की गोलाई मे समानता नही होती। अत प्रथम का द्वितीय मे विन्यास औचित्य का जनक न होकर अनौचित्य का जनक होता है।

द्वितीय हेतु है लोक-व्यवहार। हम लोक मे सदा केयूर का विन्यास हाथ मे ही देखते है। अत इस प्रकार का आचरण हमे उचित प्रतीत होता है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि औचित्य की लोकव्यवहारमूलकता भी एक प्रकार से सादृश्यमूलकता मे पर्यवसित होती है। लोक मे वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्धविशेष को निरन्तर देखने मे हमारे मस्तिष्क मे उन वस्तुओ के उस सम्बन्ध का एक चित्र अकित हो जाता है। अत हम जब उन वस्तुओ को पुन प्रत्यक्ष रूप मे देखते है तब उन्हे उसी पूर्व रूप मे सम्बद्ध देखना चाहते है। इस प्रकार हमारी यह इच्छा होती है कि प्रत्यक्ष चित्र तथा पूर्व अकित चित्र मे साम्य हो। उदाहरणत हाथ तथा केयूर के सम्बन्ध को हम लोक मे नित्यप्रति देखते है। इससे ऐसा ही चित्र हमारे मस्तिष्क मे अकित हो जाता है। अत हम जब इन्हे पुन लोक मे देखते है तो इस अकित चित्र के समान ही देखना चाहते है। इस अकित चित्र के समान प्रत्यक्ष चित्र को देखकर एक प्रकार से हमारी अज्ञात इच्छा पूर्ण होती है। इससे प्रत्यक्ष चित्र हमे उचित प्रतीत होता है तथा हमे एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है।

औचित्य के द्वितीय हेतु लोक-व्यवहार का पर्यवसान ही सादृश्य मे नही होता अपितु उसकी प्रवृत्ति भी सादृश्य को ध्यान मे रखकर होती है। लोक मे हाथ तथा केयूर का सम्बन्ध स्वत अथवा स्वेच्छा से ही स्थापित नही हो जाता, परन्तु उनकी पारस्परिक समानता ही उनके इस सम्बन्धस्थापन का कारण है। इस सम्बन्धस्थापन से इन वस्तुओ का इस रूप मे सम्बद्ध चित्र हमारे मस्तिष्क मे अंकित होता है तथा इस चित्र से साम्य का निर्वाह प्रस्तुत चित्र के औचित्य का हेतु है। इस प्रकार हाथ तथा केयूर के प्रस्तुत चित्र का औचित्य जिस पूर्व-अकित चित्र के साम्य पर आश्रित है वह पूर्व चित्र स्वय साम्य पर आश्रित है। अत. हाथ तथा केयूर के औचित्य का हेतु लोक व्यवहार स्वय सादृश्य पर आश्रित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हाथ तथा केयूर के औचित्य का हेतु हम चाहे हाथ तथा केयूर के सादृश्य को माने चाहे लोक व्यवहार को यह निश्चित है कि प्रत्येक दशा मे इस औचित्य के मूल मे सादृश्य स्थित है। वस्तुस्थिति यह है कि विश्लेषण की दृष्टि से तो प्रत्येक दशा मे इन दोनो वस्तुओ के औचित्य के मूल मे सादृश्य स्थित है, परन्तु जहा तक दर्शक का सम्बन्ध है उसे इस औचित्य के मूल मे सादृश्य पर आश्रित लोक-व्यवहार की पृथक् रूप से भी प्रतीति होती है। आरम्भ मे दर्शक को इन दोनो वस्तुओ के औचित्य के मूल मे केवल सादृश्य की प्रतीति होती है परन्तु इस सादृश्य के फलस्वरूप दोनो वस्तुओ को अनेक बार इस रूप मे सम्बद्ध देखने के बाद जब वह इनको पुनः इसी रूप मे सम्बन्धित देखता है तब उसे उनके औचित्य के मूल मे उनका इस रूप मे पूर्व भूयोदर्शन भी हेतु के रूप मे प्रतीत होने लगता है। प्रस्तुत रूप का पूर्व भूयोदर्शन ही वस्तुत लोकव्यवहार है।

काव्य के औचित्य के मूल मे भी सादृश्य तथा लोकव्यवहार ये दो हेतु विद्यमान हे। काव्य से सम्बन्धित सादृश्य का अर्थ है काव्य के किसी अश का अन्य अश अथवा अशो से साम्य। यह साम्य काव्य के लिए परम आवश्यक है। काव्य के आत्मभूत रस की निष्पत्ति इसी साम्य के निर्वाह पर आश्रित है। काव्य मे औचित्य का निरूपण रस को लक्ष्य करके किया गया है। अत काव्यगत औचित्य के लिए यह आवश्यक है कि काव्य के समस्त अग प्रस्तुत रस से सम्बद्ध हो। प्रस्तुत रस से सम्बन्धित होने के कारण काव्य के समस्त अङ्गो मे रस-दृष्टि से साम्य होना स्वाभाविक है।

औचित्य का दूसरा हेतु है लोक-व्यवहार। भरतमुनि ने इस लोक-व्यवहार को काव्यगत औचित्य का आधार माना है। उनकी निम्नलिखित उक्तिया इसकी समर्थक है —

"एव लोकस्य या वार्ता नानावस्थान्तरात्मिका।
सा नाट्ये सविधातव्या नाट्यवेदविचक्षणैः ॥" १२६
"यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या क्रिया।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्य प्रकीर्तितम् ॥" १२७

—नाट्यशास्त्र २५। १२६, १२७।

हाथ तथा केयूर के औचित्यसम्बन्धी पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि इस लोक-व्यवहार का पर्यवमान भी सादृश्य मे होता है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वान् काव्यगत औचित्य के प्रथम हेतु सादृश्य को तो स्वीकार करते है परन्तु इमके द्वितीय हेतु लोकव्यवहार को स्वीकार नही करते । इनके अनुसार काव्य के लिए यह आवश्यक नही कि वह लोक-व्यवहार से साम्य का निर्वाह करे। ये विद्वान् काव्य के लिए केवल एक साम्य का निर्वाह आवश्यक समझते है और वह है उमका आन्तरिक साम्य अथवा औचित्य। इसे वे Internal consistency कहते है। इमके अतिरिक्त उमके लिए यह आवश्यक नही कि यथार्थ जगत् से भी उसका साम्य हो। ये विद्वान काव्य के सृजनात्मक सिद्धान्त (Creative theory) को मानने वाले है। इनके अनुसार काव्य का उद्देश्य जगत् का यथार्थ चित्र न खीच कर कल्पना के आधार पर उसका नव निर्माण करना होता है। अत. लोकव्यवहार से साम्य का निर्वाह उसके लिए अपेक्षित नही।

इन विद्वानो का उपर्युक्त सिद्धान्त वस्तुत लोकव्यवहार से साम्य के निर्वाहसम्बन्धी सिद्वान्त पर विशेष प्रभाव नही डालता। लोक व्यवहार के हम प्रधानत दो भेद कर सकते है-भावरूप तथा आचरण-रूप अथवा घटनारूप। भाव रूप लोक-व्यवहार सब मनुष्यो तथा सब कालो मे समान रूप से देखने को मिलता है। देश तथा काल की सीमाए इस पर प्रभाव नही डालती। रति, हास, शोक आदि जो सामान्य भाव आदिम युग मे विद्यमान थे वे अब भी उसी रूप मे दृष्टिगोचर होते है। अत काव्य मे इनका इसी रूप मे वर्णन सम्भव है। इनमे वहा किसी प्रकार का परिवर्तन नही किया जा सकता। हमारे काव्य मे तो भावो के इस निर्वाह की ओर और भी विशेष ध्यान दिया गया है। इसका कारण यह है कि हमारे काव्यो का उद्देश्य प्रधानत रसनिष्पत्ति रहा है जो भावादि के सार्वकालिक रूप के चित्रण पर आश्रित है। रसपरिपूर्ण काव्यो मे Internal consistency भी भावादि के इस सम्यक् निर्वाह के फलस्वरूप ही आती है।

लोक-व्यवहार का दूसरा रूप है आचरण, घटनाए आदि। आचरण, घटनाओ आदि का सम्बन्ध पात्रो से होता है। आचरण तो पात्रो के होते ही है, घटनाओ मे से भी अनेक घटनाए आचरण के अन्तर्गत चली

जाती है। यह आचरण देश-विशेष तथा काल-विशेष मे किया जाता है। इस देश-विशेष तथा काल-विशेष मे पात्र इस प्रकार का आचरण करके भावो को प्रकाशित करते है। काव्य मे वर्णित इस आचरण के लिए लोक-व्यवहार का ध्यान रखना आवश्यक है। इस आचरण के औचित्य का निर्णय पात्रो के स्वरूप तथा देशकालादि की परिस्थितियो को देखकर किया जाता है। पात्रो के स्वरूप पर आश्रित आचरण के औचित्य को सस्कृत साहित्य शास्त्रियो ने प्रकृत्यौचित्य कहा है तथा भावौचित्य के प्रसङ्ग मे इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उदाहरण के लिए क्रोध मनुष्यो का एक सामान्य भाव है, परन्तु पात्रो के भेद से इस भाव को प्रकाशित करने वाले आचरण मे भेद सम्भव है। पात्र दिव्य, अदिव्य, तथा दिव्यादिव्य आदि अनेक प्रकार के माने गए है। एक दिव्य पात्र क्रोध का प्रकाशन जिस आचरण के द्वारा करेगा वह आचरण साधारण पात्र मे सम्भव नही। शिव एक दिव्य पात्र है। वे क्रोध का प्रकाशन बिना किसी भ्रृकुटि आदि विकार के कर सकते है। परन्तु एक साधारण पात्र ऐसा नही कर सकता। अत॰ क्रोधप्रकाशक आचरण का वर्णन करते समय पात्रो के इस स्वरूप को ध्यान मे रखना आवश्यक है।[1]

यदि लोक मे दृष्टिगोचर इस आचरण की काव्य मे वर्णित आचरण के समय उपेक्षा की जाती है तो अनौचित्य का जन्म होगा और हमे काव्य मे वर्णित आचरण असत्य प्रतीत होगा। काव्य के आस्वादन के लिए यह आवश्यक है कि उसके वर्णनो मे हमे पूर्ण विश्वास हो। काव्य के सृजनात्मक सिद्धान्त को मानने वाले कहते है कि काव्य मे विश्वासोत्पादन (Make-believe) की क्षमता होती है। इसके फलस्वरूप हम काव्य के वर्णन-सम्बन्धी समस्त अविश्वासो का परित्याग (Suspension of disbelief) कर देते है। इन विद्वानो का यह मत कुछ ही अशो मे सत्य है। यह ठीक है कि काव्य मे विश्वासोत्पादन की शक्ति होती है। परन्तु इसकी एक सीमा होती है। इस सीमा का उल्लघन करने पर हमे काव्य के वर्णन मे

१॰ प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादि-विकारवर्जित क्रोध॰ सद्य फलद स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लघनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदान प्रसिद्धमुचित वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्।

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ४४१-४४४।

अविश्वास हो जाता है। काव्य उसी घटना अथवा आचरण मे हमारा विश्वास उत्पन्न कर सकता है जो लौकिक दृष्टि से सम्भव है। जो आचरण लोक मे सम्भव नही अथवा जो लोकानुभव द्वारा बाधित है उसे हम सत्य मानने के लिए कदापि तैयार नही हो सकते। यदि काव्य इस लोकानुभव की उपेक्षा करके आश्चर्य एव अतिशयोक्तिपूर्ण अविश्वसनीय घटनाओ एव आचरणो का वर्णन करता है तो उससे हमारी कुतूहल-वृत्ति भले ही जागृत हो हमारे हृदय को वह प्रभावित नही कर सकता और फलत इस दशा मे रस-निष्पत्ति सम्भव नही।

उपर्युक्त आचरण एव घटनाओ का वर्णन जिस देश तथा काल की सीमाओ मे किया जाता है उस देश तथा काल की परिस्थितियो का ध्यान रखना भी आवश्यक है। काव्य को पढते समय सहृदय को यह ज्ञात होता है कि जो घटनाए उसके सामने काव्य मे घट रही है वे अमुक देश तथा अमुक काल मे घट रही है। अत· उस देश एव काल की परिस्थितियो से साम्य का निर्वाह उस काव्य के लिए अपेक्षित है।

देशविशेष तथा कालविशेष की परिस्थितियो से साम्य के निर्वाह का यह अर्थ नही कि कवि उस देश तथा काल मे घटी हुई घटनाओ का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन करे। परन्तु इससे केवल इतना अभिप्राय है कि कवि जिस समय की घटनाओ का वर्णन करे उनका तत्कालीन परिस्थितियो मे घटित होना सम्भव होना चाहिए। यह आवश्यक नही कि वे घटनाए उस काल मे वस्तुत घटित ही हुई हो।

कवि द्वारा अपनाई हुई वस्तु चाहे ऐतिहासिक हो चाहे काल्पनिक कवि उसका वर्णन करते समय इतिहासकार का रूप कभी धारण नही करता। उत्प्रेक्ष्य वस्तु के वर्णन मे तो कवि के लिए इतिहासकार बनने का प्रश्न ही नही उठता ऐतिहासिक वस्तु के वर्णन मे भी कवि कवि के रूप मे ही रहता है। वह ऐतिहासिक तथ्यो का प्रयोग अवश्य करता है परन्तु वही तक जहा तक वे उसके प्रकृत उद्देश्य रस-निरूपण मे सहायक होते हे। जैसे ही कोई ऐतिहासिक घटना अथवा घटनाश प्रकृत रस का पोषक न होकर विरोधी प्रतीत होता है वह उसका परित्याग करने तथा अन्य रसानुकूल घटना के निर्माण मे स्वतन्त्र है। इतना होते हुए भी कवि उस देश तथा काल की परिस्थितियो की उपेक्षा करके मनमाना आचरण नही कर सकता।



रस में साहश्य

रस की परिभाषा भरतमुनि ने इस प्रकार की है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति ।" नाट्यशास्त्र ६ । ९३ इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के उचित सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रत्येक रस के विभावादि भिन्न भिन्न होते हे। अत रसनिष्पत्ति के लिए आवश्यक है कि उन्ही विभावादि का सयोग हो जो प्रस्तुत रम से सम्बद्ध हो। यदि इनमे से कतिपय विभावादिक प्रस्तुत रस से सम्बद्ध न होकर अन्य रस से सम्बद्ध होगे तो उनका उस स्थान पर मन्निवेश अनौचित्य का जनक होगा और फलत रसभग होगा। यही कारण है कि औचित्य का निर्वाह रस के लिए परम आवश्यक माना गया है। आनन्दवर्धन आदि ने रसनिरूपण के समय विभावादिको के औचित्य का विस्तृत वर्णन इमी बात को लक्ष्य करके किया है। आनन्दवर्धन की निम्नलिखित उक्ति रस के लिए औचित्य के महत्त्व की स्पष्ट द्योतक है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।'

ध्वन्यालोक पृ० ३३०

रस मे विद्यमान इस औचित्य का निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है। विवेचक की दृष्टि से तथा सहृदय की दृष्टि से। विवेचक की दृष्टि से रस मे औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसे रस मे सर्वत्र किसी न किसी रूप मे औचित्य दिखाई देता है। परन्तु सहृदय के साथ ऐसी बात नही। उसके औचित्य का क्षेत्र सीमित है। वस्तुत उसके लिए औचित्य वही है जहा उसे उसकी प्रतीति हो। यह आवश्यक नही कि उसे औचित्य उन सब स्थानो पर प्रतीत हो जहा विवेचक उसकी सत्ता सिद्ध कर सकता है। दूसरे सहृदय को जहा औचित्य की प्रतीति होती है वह भी केवल आरम्भिक होती है। उसकी सत्ता रस-प्रवाह मे लीन हो जाती है और केवल रसानुभूति शेष रह जाती है।

हम पहले विवेचक की दृष्टि से इस औचित्य का निरूपण करते है। इस औचित्य के लिए दो तत्त्वो की आवश्यकता है—विभावादि का लोक-व्यवहार से सादृश्य तथा विभावादि मे पारस्परिक सादृश्य। पहला तत्त्व इस प्रकार है —

लोक मे किसी स्थायी भाव के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होते है वे ही उस स्थायी भाव से सम्बद्ध रस मे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी बन जाते है। उदाहरणत लोक मे स्थायी भाव रति के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होगे वे ही काव्य अथवा नाटक मे शृगार रस के विभावादि बन जाएगे। मम्मट की निम्नलिखित उक्ति इसकी समर्थक है —

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटचकाव्ययो ।
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिण ,
व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत ॥'

—काव्य प्रकाश सू० ४३

अतः विभावादि के औचित्य के लिए यह आवश्यक है कि लोक-व्यवहार से उनका साम्य हो।

लोक-व्यवहार से विभावादि के इस साम्य का निर्वाह करते समय यह भी आवश्यक है कि पात्रादि के भेद से लौकिक कारण, कार्य आदि मे जो भेद उत्पन्न होता है उस भेद का भी ध्यान विभावादिको मे रखा जाए। लोक मे पात्र दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य तथा उत्तम, मध्यम, अधम आदि अनेक प्रकार के होते है। पात्रो के इस भेद के अनुसार उनके व्यवहार मे भी भेद होता है। अत काव्य मे विभावादिको का निरूपण करते समय इस भेद का ध्यान रखकर उससे साम्य का निर्वाह भी आवश्यक है। आनन्दवर्धनादि ने प्रकृत्यौचित्य के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है।

अब औचित्य के दूसरे तत्त्व को लेते है। इसके अनुसार सब विभावादिको मे एक साम्य का होना आवश्यक है। प्रथम साम्य विभावादिको तथा लोक-व्यवहार की समानता के रूप मे था। परन्तु यह साम्य विभावादि मे एक समान तत्त्व विद्यमान होने के कारण उन सबके सादृश्य

के रूप मे होता है। विभावादि मे से प्रत्येक का सम्बन्ध एक समान चित्तवृत्ति से होता है। यह चित्तवृत्ति उन सबके मूल मे रहकर उनके सादृश्य का कारण होती है।

विभावादि के प्रतिपादन के लिए कवि को किसी कथासूत्र अथवा वस्तु का अवलम्बन करना पडता है। यह वस्तु प्रधानत दो प्रकार की होती है—प्रसिद्ध तथा कविकल्पित। इन दोनो का अवलम्बन वह विभावादिको मे विद्यामन साम्य को लक्ष्य करके करता है। जहा वस्तु कविकल्पित होती है वहा तो उसका उस रूप मे अवलम्बन स्पष्टत: इस साम्य को लक्ष्य करके होता ही है, प्रसिद्ध वस्तु के अवलम्बन की दशा मे भी यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। यह सम्भव है कि प्रसिद्ध वस्तु का कुछ अश उपर्युक्त साम्य से मेल न खाए। ऐसी दशा मे कवि उस अश का परित्याग करने तथा उसके स्थान पर नए अश की उद्भावना करने मे स्वन्त्र है। आनन्दवर्धन का यही मत है।[1]

रसाभिव्यक्ति के लिए विभावादि का प्रतिपादन प्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत आता है क्योकि इनका रस से सीधा सम्बन्ध होता है। इस प्रस्तुत-विधान के अतिरिक्त रस मे अप्रस्तुत विधान भी रहता है। यह अप्रस्तुत विधान अलकारादि के रूप मे होता है। इसका उद्देश्य प्रस्तुत विधान अथवा विभावादि मे चारुता लाना होता है। उदाहरणत मुख यदि आलम्बन है तो उसका चन्द्र से सादृश्य उसमे चारुता का जनक है। इस अप्रस्तुत विधान के लिए भी यह आवश्यक है कि वह उसी चित्तवृत्ति का परिणाम हो जो चित्तवृत्ति प्रस्तुत विधान के मूल मे है। जहा कवि इस चित्तवृत्ति से हटकर अन्य प्रयत्न को अपनाता है वहा उस प्रयत्न से उत्पन्न अलकार असगत हो जाता है और वह प्रस्तुत का उपकारक नही रहता। यही कारण है कि आलकारिको ने रस मे उन्ही अलकारो का विधान उपयुक्त माना है जो अपृथक् यत्न से उत्पन्न हो।[2]

---

१. इतिवृत्तवशायाता कथञ्चिद्रसाननुगुणा स्थिति त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयो यथा कालिदास—प्रबन्धेषु। कविना सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। न कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित्प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः। ध्वन्यालोक पृ० ३३५

२. "रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यं सोऽलकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्यालोक २। १६

रस की निष्पत्ति के लिए जहा यह आवश्यक है कि समस्त भावो मे साम्य हो वहा यह भी आवश्यक है कि भावो तथा उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त भाषा के उच्चारण मे भी साम्य हो। भाषा के उच्चारण तथा भाव का यह साम्य इन दोनो स्थितियो मे विद्यमान स्नायुमण्डल की अवस्था की समानता के कारण होता है। भावानुभूति तथा उस अनुभूति को भाषा द्वारा अभिव्यक्त करने के समय स्नायुमण्डल की एक ही अवस्था रहती है। अत इन दोनो मे सादृश्य होता है। भावानुभूति के समय चित्त की अवस्थाए प्रधानत दो प्रकार की होती है—द्रुत तथा दीप्त। इन अवस्थाओ मे स्नायुमण्डल भी क्रमश शिथिल तथा उत्तेजित हो जाता है। स्नायुमण्डल की शिथिलता की अवस्था मे भाषण अवयव भी वैसे ही बन जाते है। इस स्थिति मे जो भाषा निकलती है वह कोमल होती है। स्नायुमण्डल की उत्तेजना की अवस्था मे भाषण-अवयवो मे तनाव आ जाता है। इस स्थिति मे जो भाषा निकलती है वह कठोर होती है। इससे यह स्पष्ट है कि कोमल भाषा के उच्चारण तथा चित्त की द्रुत अवस्था के समय स्नायुमण्डल की एक जैसी अवस्था होती है तथा कठोर भाषा के उच्चारण तथा चित्त की दीप्तावस्था के समय भी स्नायुमण्डल की अवस्था एक जैसी होती है। अत इस प्रकार की चित्तवृत्ति तथा इस प्रकार की भाषा मे सादृश्य होता है।

आलकारिको ने भाव तथा भाषा के इसी सादृश्य को लक्ष्य करके वर्णो का रसश्च्युत तथा रसच्युत[१] इन दो भागो मे विभाजन किया है। जहा भाव तथा वर्णो मे सादृश्य होता है वहा वर्ण रसश्च्युतः होते हे तथा जहा इनमे सादृश्य नही होता वहा वर्ण रसच्युत होते है।

अब हम विभावादिको मे औचित्यप्रतीति का निरूपण सहृदय की दृष्टि से करते है। सहृदय को इस औचित्य का ज्ञान इन विभावादिको के लोकव्यवहार से साम्य के कारण होता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

---

१. "शषौ सरेफसयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिन स्युः शृगारे तेन वर्णा रसच्युत ॥
त एव तु निवेश्यन्ते वीभत्सादौ रसे यदा।
तदा त दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसश्च्युत ॥" ध्वन्यालोक २। ३। ४

वाच न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभि
कर्ण ददात्यभिमुख मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननममुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्या ।।

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् १—२७

यहा अनुरागोत्पत्ति की अवस्था मे विद्यमान शकुन्तला की अनुराग-सूचक चेष्टाओ का वर्णन है । उपर्युक्त अवस्था मे विद्यमान स्त्री-सामान्य की चेष्टाओ का चित्र सहृदय के मन मे पहले से अकित रहता है । अत जब वह इस अवस्था मे विद्यमान शकुन्तला की उपर्युक्त चेष्टाओ का वर्णन पढता है तो पूर्व अकित चित्र के साथ पूर्ण समता के कारण प्रस्तुत वर्णन मे उसे औचित्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार यह औचित्यप्रतीति साम्य-प्रतीति के कारण होती है।



ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का पूरक माना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के द्वारा आनन्द ने रस के किसी विरोधी सिद्धान्त की स्थापना नही की परन्तु रस सिद्धान्त के दोषो को दूर करके उसे स्थिरता प्रदान की।[1] ध्वनिवादियो ने रस की सत्ता स्वीकार की तथा इसे ध्वनि का ही एक भेद माना। रस के अतिरिक्त इन्होने ध्वनि के दो भेद और माने। ये वस्तुध्वनि तथा अलकारध्वनि हे।[2] ध्वनि के इन तीनो भेदो मे इन्होने प्रधानता रसध्वनि को ही दी। ध्वनि के जो दो अन्य भेद हे उन्हे केवल गौण स्थान दिया तथा इनका पर्यवसान रसध्वनि मे ही माना। अत यह कहना अनुचित न होगा कि इनके अनुसार रसध्वनि ही वस्तुत काव्य की आत्मा है। अभिनव तथा आनन्द का यही मत है।[3]

समस्त ध्वनियो का पर्यवसान रस मे होने के कारण रस मे विद्यमान सादृश्य का सद्भाव इन ध्वनियो मे मानना सर्वथा उचित है। अत यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार रस मे सादृश्य विद्यमान है उस प्रकार ध्वनि मे भी वह विद्यमान है।

---

1 "By his theory of Dhvani he did not propound any rival doctrine to that of Rasa, but only placed it on a firmer basis by removing its defects".

—Theories of Rasa and Dhvani P 78.

२. "सकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा। व्यग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि। किञ्चिद्वाच्यता सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्र विचित्र चेति। अविचित्र वस्तुमात्र विचित्र त्वलकाररूपम्।'

—काव्य प्रकाश पृ० २१६

३ "तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलकारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ-इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।।"

"प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्।"

—ध्वन्यालोक पृ० ८६, ६०

ध्वनि मे सादृश्य की उपर्युक्त सिद्धि ध्वनि सिद्धान्त तथा रस सिद्धान्त के साम्य को लेकर की गई हे। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि ध्वनि मे सादृश्य विद्यमान है।

ध्वनि मे शब्द अथवा अर्थ से किमी अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। जहा यह अभिव्यक्ति शब्द से होती है वहा शब्द का वाच्यार्थ गौण हो जाता है तथा जहा यह अभिव्यक्ति अर्थ से होती है वहा वह अर्थ स्वय गौण हो जाता है। ध्वनि की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

"यत्रार्थ' शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि· कथित"

—ध्वन्यालोक १—१३

व्यग्यार्थ की इस व्यक्ति की प्रक्रिया मे साम्य का भी स्थान हे। यह अवश्य है कि प्रतिभा की निर्मलता के अभाव मे व्यग्यार्थ का ज्ञान सम्भव नही, परन्तु जहा प्रतिभा की निर्मलता के द्वारा इस व्यग्यार्थ का ज्ञान होता है वहा वह साम्य का भी आश्रय लेत। है। व्यञ्जना के विभिन्न भेदो तथा उनके उदहरणो से यह स्पष्ट हो जाएगा।

व्यञ्जना के दो भेद किए गए है—शाब्दी व्यञ्जना तथा आर्थी व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के पुन दो भेद किए गए हे। ये अभिधामूला व्यञ्जना तथा लक्षणामूला व्यञ्जना हे।

लक्षणामूला व्यञ्जना मे फलविशेष अथवा प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है। उदाहरणत 'गगाया घोष' मे 'गगातटे घोष' लक्ष्यार्थ है तथा घोष मे पावनत्वादिधर्म प्रयोजन के रूप मे है। इन धर्मो का ज्ञान व्यञ्जना के द्वारा होता है।[1] अत ये व्यग्य है। इन धर्मो की प्रतीति पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इनकी यह प्रतीति गगा तथा घोष के गुणो मे आशिक सादृश्यज्ञान का आश्रय अवश्य लेती है। गगा पर स्थित होने के कारण घोष मे गगा के पावनत्वादि धर्मो का सद्भाव प्रतीत होता है। गगा मे पावनत्वादि धर्म अत्यन्त प्रसिद्ध है। अत· घोष मे इन धर्मो का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

---

१ यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥ —काव्यप्रकाश सू० २३

श्लेष के भेद

अभिधामूला व्यञ्जना मे अनेकार्थक शब्दो का वाचकत्व सयोगादि के द्वारा नियन्त्रित हो जाता है। परन्तु फिर भी अवाच्य अर्थ अथवा अर्थों की प्रतीति होती रहती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार का विषय है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

"भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवशोन्नते कृतशिलीमुखसग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगते परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभग सतत करोऽभूत्" ॥

काव्यप्रकाश पृष्ठ ६८

यहा प्रकरण के अनुमार वाच्यार्थ राजा से सम्बद्ध है परन्तु फिर भी हस्ती से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती रहती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार पर आश्रित है। इस व्यग्यार्थ की प्रतीति पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यह प्रतीति शब्दो के द्वयर्थक होने के फलस्वरूप होती है। शब्दो के दो अर्थो मे से एक अर्थ जो वाच्य नही है वही यहा व्यञ्जना के द्वारा व्यक्त होता है। इम प्रकार व्यन्जना के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है वह कोई नवीन अर्थ नही अपितु शब्दो का एक अर्थ ही व्यग्यार्थ का रूप धारण करता है। अत शब्दो का एक अर्थ तथा व्यग्यार्थ यहा एक अथवा सर्वथा समान है।

अप्पयदीक्षित के अनुमार उपर्युक्त उदाहरण मे द्वितीय अर्थ व्यन्जना का विषय न होकर अभिधा का ही विषय है। अत यहा दोनो अर्थ अभिधेय है। अप्पयदीक्षित के अनुसार ऐसे स्थलो मे ध्वनि होती अवश्य है परन्तु वह प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ के सादृश्य को लक्ष्य करके होती है अप्रस्तुत अर्थ को लक्ष्य करके नही होती।[2] इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण मे व्यग्यार्थ राजा तथा हस्ती का सादृश्य है। हस्ती से सम्बद्ध अर्थ को यहा व्यग्यार्थ के अन्तर्गन मानना उचित नही क्योकि वह तो अभिधा का ही विषय है।

---

१ "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
सयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥" काव्यप्रकाश सू० ३२।

२ "यदत्र प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूल ध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चस्तत्तु प्रकृताप्रकृताभिधानमूलस्योपमादेरलङ्कारस्य व्यग्यत्वाभिप्राय न त्वप्रकृतार्थस्यैव व्यग्यत्वाभिप्रायम्।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ७६।

अप्पयदीक्षित के इस व्यग्यार्थ का तो स्वरूप ही सादृश्य है। अत यह अर्थ सादृश्य के व्यग्य रूप के अतिरिक्त और कुछ नही।

आर्थी व्यञ्जना मे वक्ता श्रोता आदि की विशिष्टता के कारण वाच्यार्थ से एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार का विषय है।[१] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

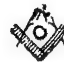
"मातर्गृहोपकरणमद्य नास्तीति साधित त्वया।
तद्भण कि करणीयमेवमेव न वासर स्थायी॥"

काव्यप्रकाश पृष्ठ २८।

यहा व्यग्यार्थ स्वैरविहार की इच्छा है। इसीलिए मम्मट लिखते है —
"अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते।" —काव्यप्रकाश पृष्ठ २९।

यहा वक्ता एक चरित्रहीन स्त्री है। अत उसका आचरण निन्दनीय है। उपर्युक्त व्यग्यार्थ भी ऐसे ही आचरण की ओर सङ्केत करता है। अत चरित्रहीन स्त्री के आचरण तथा उपर्युक्त व्यग्यार्थ मे समानता है। अत यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त व्यग्यार्थ वक्ता के आचरण से साम्य के आधार पर व्यक्त होता है।

ध्वनि मे सादृश्य की उपर्युक्त सिद्धि विवेचक की दृष्टि से की गई है। जहा तक पाठक का सम्बन्ध है उसे भी ध्वनि मे कुछ अशो तक यह सादृश्यप्रतीति होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना की प्रक्रिया का अङ्गमात्र होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना की प्रक्रिया मे लीन हो जाती है और केवल ध्वनिजन्य चमत्कार शेष रह जाता है।



---

१ वक्तृबोद्धव्यकाकूना वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ —काव्यप्रकाश सू० ३७।

द्वितीय अध्याय

अलंकारों के मूल में सादृश्य

अलकारो के मूल मे सादृश्य-ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हमे अलंकारो के आधार अथवा आश्रय का ज्ञान हो। इसका कारण यह है कि सादृश्य इसी आधार मे निवास करके अलकारो का मूल बनता है तथा उसके रूप का निर्माण इसी आधार के अनुसार होता है। स्वत सादृश्य का कोई मूर्त रूप नही होता। इसके मूर्त रूप के लिए उन वस्तुओ के रूप का ज्ञान आवश्यक है जो सादृश्य का आधार बनकर उसे मूर्त रूप प्रदान करती हे। आलकारिको ने इस दृष्टि से अलकारो के मुख्यत दो आधार पृथक् पृथक् बताए हे। ये शब्द तथा अर्थ है। इन पर आश्रित अलकार क्रमश शब्दालकार तथा अर्थालकार होते है। कतिपय आलकारिको ने शब्द तथा अर्थ दोनो को सयुक्त रूप से भी आधारो का एक भेद माना है तथा इस पर आश्रित अलकार को उभयालकार कहा है।[1] परन्तु इसको मानने वाले बहुत कम है। अत हम केवल शब्दालकार तथा अर्थालकार इन दो अलकार-भेदो को मानकर चलते है जो क्रमश शब्द तथा अर्थ पर आश्रित हे।

यहा यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शब्द तथा अर्थ का क्या स्वरूप मानकर आलकारिक इन्हे अलकारो का पृथक पृथक् आधार निश्चित करते हे। शब्द का सामान्य अर्थ लेने पर तो शब्द तथा अर्थ ये दोनो पृथक् पृथक् आधार सम्भव नही। इसका कारण यह है कि शब्द के

---

१ यह हमे अग्निपुराण मे मिलता है—

"शब्दार्थयोरलकारो द्वावलकुरुते समम्।
एकत्र निहितो हार. स्तन ग्रीवामिव स्त्रिया॰ ॥"

—अग्निपुराण ३४५–१

भोज ने अग्निपुराण की परम्परा का अनुसरण करते हुए इसे स्वीकार किया है.—

"शब्दार्थोभयसज्ञाभिरलकारान् कवीश्वरा.।
बाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्याभ्यन्तराश्चानुशासति ॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।१

सामान्य रूप मे अर्थ का भी अन्तर्भाव हो जाता है । शब्द मे दो अश होते है—उच्चारणाश तथा अर्थांश । इस प्रकार शब्द का यह अर्थ लेने पर अर्थ एक पृथक् आधार नही रहता, परन्तु आलकारिको ने इसे पृथक् आधार माना है । अत इस दशा मे हमे शब्द का वही रूप लेना चाहिए जो अर्थ से इसकी पृथक्ता का द्योतक हो । यह रूप उसका उच्चारणाश ही हो सकता है । यह ध्वनि-स्वरूप है तथा कर्ण का विषय है । अर्थ इसके विपरीत बुद्धि का विषय है । आलकारिको ने अलकारो के आधार का विवेचन करते हुए शब्द तथा अर्थ के इस रूप का उल्लेख तो नही किया है परन्तु आधार के विषय मे उनके द्वारा अपनाए हुए शब्द तथा अर्थ के पृथक्ता-सम्बन्धी सिद्धान्त को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उन्हे इनका यही अर्थ गृहीत है और यदि किसी आलकारिक को यह अर्थ गृहीत नही तो उसका वह मत युक्तिसगत नही कहा जा सकता ।

अलकार-विभाजन के लिए शब्द तथा अर्थ का उपर्युक्त अर्थ लेने पर यह स्पष्ट है कि जो अलकार उच्चारण-चमत्कार पर आश्रित होता है वह शब्दालकार होता है तथा जो अलकार अर्थ-चमत्कार पर आश्रित होता है वह अर्थालकार होता है । अलकार-ज्ञान का आधार आश्रयाश्रयिभाव है ।[1] जो अलकार जिस पर आश्रित होता है वह उसी का अलकार कहा जाता है । उद्भट, रुय्यक आदि ने इसी आश्रयाश्रयिभाव को अलकार ज्ञान का आधार माना है । अलकार के आश्रय को जानना सर्वथा सीधा और स्पष्ट है । यदि हमे अलकार-विशेष के स्वरूप का ज्ञान है तो यह निश्चित है कि हमे उसके आधार का भी ज्ञान है । इसका कारण यह है कि अलकार के स्वरूप मे उसके आधार का स्वरूप भी मिला रहता है । उदाहरणत शब्दालकार के स्वरूप मे उसका आधार उच्चारण-स्वरूप शब्द विद्यमान रहता है ।

अलकार के आधार-ज्ञान के इस स्पष्ट सिद्धान्त का निराकरण करते हुए मम्मट ने इसके स्थान पर अन्वयव्यतिरेकभाव की स्थापना की है । "यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वय , यदभावे यदभावो व्यतिरेक" यह अन्वय तथा व्यतिरेक का लक्षण है । अतः यदि कोई वस्तु किसी वस्तु के रहने पर रहे तथा न

---

१. "आश्रयाश्रयिभावेनालकार्यालकारभावस्य लोकवद्व्यवस्थानात्"
सर्वस्व पृ० ११४

रहने पर न रहे तो वह उस अन्य वस्तु पर आश्रित होती है। उदाहरणत दण्डचक्रादि के भाव मे घडे की उत्पत्ति होती है। यह अन्वय है। दण्डचक्रादि के अभाव मे घडे की उत्पत्ति नही होती । यह व्यतिरेक है। इस प्रकार घट का भाव दण्डचक्रादि के भाव पर आश्रित है। दण्डचक्रादि घट के कारण है तथा घट उनका कार्य है। अलकारो के आधार का ज्ञान भी इसी प्रकार होता है। यदि शब्द विशेष के भाव मे अलकार रहे तथा उसके अभाव मे न रहे तो वह अलकार उस शब्द पर आश्रित होता है तथा शब्दालकार कहलाता है। परन्तु यदि शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी अलकार बना रहे तो वह शब्द पर आश्रित न होकर अर्थ पर आश्रित होता है तथा अर्थालकार कहलाता है।[1]

मम्मटादि का उपर्युक्त मत उचित नही। उन्होने अलकार का आधार जानने के लिए एक तर्कप्रणाली को अपनाया है। परन्तु अलकार से चमत्कारोत्पत्ति की मानसिक दशा मन की तार्किक दशा से भिन्न होती है। उस समय मन चमत्कार की दशा से तर्क की दशा को प्राप्त नही होता और व्यक्ति अन्वय-व्यतिरेक के तर्क का आश्रय नही लेता। अमुक अलकार किस पर आश्रित है यह ज्ञान अलकार से उत्पन्न चमत्कार ज्ञान के साथ ही हो जाता है। उसके ज्ञान की कोई विभिन्न प्रक्रिया नही होती। उसके ज्ञान को हम उसी प्रक्रिया का अङ्ग मान सकते है। चमत्कारप्रतीति के साथ चमत्कार का आधार भी जुडा रहता है। अत उस समय हमे यह ज्ञान भी हो जाता है कि अमुक अलङ्कार किस तत्त्व पर आश्रित है अथवा इसमे किस तत्त्व की प्रधानता है। अत अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाने की आवश्यकता नही।

अन्वयव्यतिरेकभाव के सिद्धान्त को अपनाने का प्रश्न तो तब उठता है जब हमे किसी वस्तु के आधार का निर्णय न करके हेतु का निर्णय करना हो। उदाहरणतः हम घट को लेते है। घट का आधार मृत्तिका है

---

१ इह दोषगुणालकाराणा शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथा हि। कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयो व्यर्थत्वादिप्रौढयाद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

—काव्य प्रकाश पृ० ५१८

तथा इसका हेतु दण्डचक्रादि है। मृत्तिका के ज्ञान के लिए अन्वयव्यतिरेक-भाव अपनाने की आवश्यकता नही। मृत्तिका तो हमे घट मे प्रत्यक्ष दिखाई देती है। यदि हमे घट का ज्ञान है तो निश्चित रूप से यह भी ज्ञान है कि घट मृत्तिका का बना हुआ है अथवा इसका आधार मृत्तिका है। अत. इसके ज्ञान के लिए हम अन्वयव्यतिरेकभाव को नही अपनाते। अन्वयव्यतिरेकभाव को तो हम तभी अपनाते हैं जब हमे घट के हेतु दण्डचक्रादि का ज्ञान अपेक्षित हो जो हमे घट के साथ दृष्टिगोचर नही होते। अलङ्कारो के साथ भी यही बात है। अलङ्कारो के लिए हमे जिस वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा है वह उनका आधार है हेतु नही। अत इसे जानने के लिए अन्वयव्यतिरेकभाव का अवलम्बन अपेक्षित नही।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अन्वयव्यतिरेकभाव आश्रयज्ञान के लिए अनावश्यक ही नही अपितु असमीचीन है। उनके अनुसार इससे आश्रय का ज्ञान नही होता। इससे तो केवल हेतु का ज्ञान होता है और इस हेतु का अपने कार्य से उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध घट से दण्डादि का है। दण्डादि घट के आश्रय नही। आश्रय के लिए आवश्यक है कि आश्रित की उसमे सत्ता हो। दण्डादि मे घट की सत्ता नही। शब्द तथा अर्थ मे अलङ्कार की सत्ता रहती है। अत अन्वयव्यतिरेक के द्वारा यह पता नही लग सकता कि अलङ्कार का आधार शब्द है अथवा अर्थ।[1]

आश्रयाश्रयिभाव का खण्डन करते हुए मम्मट तथा उनके अनुयायियो ने जिन तर्को को उपस्थित किया है वे भी निर्मूल है। मम्मटादि कहते है कि आश्रयाश्रयिभाव एक अस्पष्ट सिद्धान्त है। जब तक अलङ्कार के आश्रय को जानने के साधन हमारे पास नही होगे तब तक यह कहना कि आश्रयाश्रयिभाव के द्वारा अलङ्कार का निर्णय हो जायगा उचित नही। आधार का निर्णय किए बिना केवलमात्र इतना कह देने से काम नही चल सकता कि जो अलङ्कार शब्द पर आश्रित होगा वह शब्दालङ्कार होगा तथा जो अर्थ पर आश्रित होगा वह अर्थालङ्कार होगा। ऐसे अलङ्कार जो सर्वथा शब्द पर आश्रित हो अथवा जो सर्वथा अर्थ पर आश्रित हो नही मिलेगे। अलङ्कार

१. "अन्वयव्यतिरेकाभ्या हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु न तु आश्रयत्वावगमः। स तु पुनस्तद्वृत्तित्वज्ञानाधीनः।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ५२६।

का प्रयोजन काव्य मे शोभा अथवा चारुता लाना होता है। काव्य अर्थ के रूप मे होता है। इस प्रकार समस्त शब्दालकारो का किसी न किसी प्रकार अर्थ से सम्बन्ध होगा ही अर्थालकारो का तो शब्द से सम्बन्ध होना स्वाभाविक है क्योकि बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति ही नही होगी। अत आश्रयाश्रयिभाव के कारण शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार बन सकते है तथा अर्थालङ्कार शब्दालङ्कार बन सकते है। अत अन्वयव्यतिरेकभाव को ही अलङ्कार का आधार मानना उचित होगा। इससे अलङ्कारो के निर्णय मे सहायता मिलेगी तथा विरोधी को उत्तर दिया जा सकेगा।[1]

हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आश्रयाश्रयिभाव के द्वारा अलङ्कारो के निर्णय मे कोई कठिनता नही आती। जैसे ही कोई अलङ्कार अपने चमत्कार रूप मे हमारे सम्मुख आता है हमे इस चमत्कार के आधार का ज्ञान हो जाता है और हम उस अलङ्कार को उस आधार से सम्बन्धित अलङ्कार कह देते है। उदाहरणत यदि हमे अलङ्कारविशेष के स्वरूप उच्चारणचमत्कार की प्रतीति होती है तो यह स्पष्ट है कि इस प्रतीति का आधार उच्चारण है तथा यह अलङ्कार उच्चारण अथवा शब्द से सम्बन्धित है। इसे ही हम शब्दालङ्कार कहते है। इसी प्रकार अर्थालङ्कार का भी निर्णय हो सकता है। यह ठीक है कि शब्दालङ्कार के आधार शब्द का अर्थ से सम्बन्ध होता है तथा अर्थालङ्कार का आधार अर्थ तो बिना शब्द के सम्भव न होने के कारण शब्द से अनिवार्यत सम्बन्धित होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि हम अर्थ तथा शब्द को भी क्रमश शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का आधार मान ले। आधार के लिए आवश्यक है कि वह चमत्कार-प्रतीति का अङ्ग होना चाहिए। उपर्युक्त अलङ्कारो की चमत्कार-प्रतीति मे अर्थ तथा शब्द के साथ यह बात नही। अतः ये इन अलङ्कारो के आधार नही कहे जा सकते।

---

१ चक्रवर्त्यादयस्तु " सर्वेषामलङ्काराणा सर्वालङ्कारत्व शब्दार्थीयानामर्थशब्दीयत्व वेति वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणेऽन्वयव्यतिरेकौ विनानुभवोऽपि प्रमाणयितु न शक्यते इति तावेवोपन्यासार्हावित्यत्र तात्पर्यम् ।" इति व्याचख्यु ।
काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ७६६ ।



है। इसका कारण यह है कि एक शब्द से प्राय' एक अर्थ निकला करता है। परन्तु उपर्युक्त दशा मे उससे दो या अधिक अर्थ निकलते है। अत इस दशा मे अर्थ का चमत्कारोत्पादक होना स्वाभाविक है। अर्थ के चमत्कारोत्पाकद होने के कारण यह अर्थालकार है।

यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि उपर्युक्त दशा मे अर्थो की प्रतीति शब्द के कारण ही होती है। अत इसे शब्दालकार क्यो न मान लिया जाए। इसका उत्तर यह है कि शब्दो के द्वारा अर्थ-प्रतीति अलकार को शब्दालकार नही बनाती। शब्दालकार तो वही माना जा सकता है जहा उच्चारणरूप शब्द अलकार-जन्य चमत्कार का आवश्यक अग हो। उपर्युक्त दशा मे ऐसी बात नही। अत यह शब्दालकार नही माना जा सकता। दूसरे यदि शब्द के अर्थप्रत्यायकत्व को ही शब्दालकार का आधार माना जाता है तब तो समस्त अर्थालकार शब्दालकार मे परिवर्तित हो जाएगे क्योकि उनमे अर्थ का ज्ञान शब्दो के द्वारा ही होता है और इस प्रकार अर्थालकारो का सर्वथा लोप हो जाएगा।

श्लेष की दशा मे व्यवहार मे प्राय हम यह कह देते है कि यहा शब्द-चमत्कार है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि इस शब्द-चमत्कार से हमारा तात्पर्य वस्तुत अर्थ चमत्कार से ही होता है। जब हम 'शब्द-चमत्कार' इस शब्द का प्रयोग करते है तब प्रश्न उठता है कि यह चमत्कार किस रूप मे होता है। इसका उत्तर यही है कि यह अर्थरूप मे होता है। शब्द से जो दो या अधिक अर्थ निकलते है वे ही चमत्कार का रूप धारण करते है। इस प्रकार शब्द-चमत्कार का पर्यवसान अर्थ-चमत्कार मे ही होता है।

सभगश्लेष मे शब्द चमत्कार होता अवश्य है परन्तु प्रधानता अर्थ-चमत्कार की होती है। यही कारण है कि उद्भट आदि ने इसे शब्दश्लेष कहकर भी अर्थालकार माना है। मम्मट ने इस पर उद्भट आदि की आलोचना की है। यह इस प्रकार है.—

यद्यपि द्वितीयस्य (अभङ्गस्य) अपि 'प्रतिप्रवृत्तिनिमित्त शब्दभेद' इति नये शब्दद्वयवृत्तित्वात् परम् उभयत्र 'हरि.' इत्यानुपूर्वी एकैवास्ति। अत एव अभङ्गस्य शब्दद्वयवृत्तितासाधन न सुशकम्। अन्यथा 'प्रत्यर्थ शब्दनिवेश' इति नये पराभिमतोऽर्थश्लेषोऽपि शब्दालङ्कार एव स्यात्। —रसगङ्गाधर पृष्ठ ५३६, ५३७।

'शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालकारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नय ।'
—काव्य प्रकाश पृ० ५२७

मम्मटकृत यह आलोचना उचित नही। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष मे श्लेष के विभाजन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि इनमे आशिक भेद है, इससे यह तात्पर्य नही कि ये शब्दालकार तथा अर्थालकार की विभिन्न कोटियो मे आते है। दोनो का यह आशिक भेद स्पष्ट है। अभगश्लेष मे तो केवल एक ही शब्द होता है, परन्तु सभगश्लेष मे पदभग के कारण दो शब्द बनते है। इनके उच्चारण मे भी प्रयत्नभेद होता है। ये दोनो एक शब्द मे श्लिष्ट हो जाते है। इनके इस श्लिष्टत्व को रुय्यक ने जतुकाष्ठन्याय की सज्ञा दी है।[1] इस शब्दभेद के होने पर भी चमत्कार अर्थ के कारण ही होता है। अत इसे अर्थालकार के अन्तर्गत रखना उचित होगा।

अब तक हमने श्लेष अलकार के आधार का निरूपण आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार किया है तथा इसका आधार अर्थ निश्चित करके इस अलंकार को अर्थालकारकोटि मे रखा है। अब हम इसके आधार का निरूपण अन्वयव्यतिरेकभाव के द्वारा करते है तथा यह देखते है कि इस दृष्टि से यह अलंकार किस कोटि मे आता है। यद्यपि अन्वयव्यतिरेकभाव का अवलम्बन अलकार के आधारज्ञान के लिए आवश्यक नही, परन्तु मम्मटादि ने अलकारो के निर्धारण के लिए यही सिद्धान्त अपनाया है तथा इसके अनुसार श्लेष को शब्दालकार कोटि मे रखा है। अत हमे यह देखना है कि इस सिद्धान्त को अपना कर किया हुआ मम्मटादि का निर्णय ठीक है या नही।

अन्वयव्यतिरेक के सिद्धान्त को अपना कर मम्मट ने शब्द श्लेष के जो उदाहरण प्रस्तुत किए है उनमे से एक निम्नलिखित है —

"अलकार शकाकरनरकपाल परिजनो
विशीर्णा गो भृगी वसु च वृष एको बहुवया ।
अवस्थेय स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो—
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वय के पुनरमी ॥"

---

१. 'अपरत्र तु जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव शब्दयो श्लिष्टत्वम्'
—सर्वस्व पृ० ११४

मम्मट के अनुसार यहा 'विधौ' मे शब्दश्लेष है। विधौ के दो अर्थ है—'चन्द्रे' तथा 'भाग्ये'। ये दो अर्थ तभी तक हे जब तक यहा 'विधौ' शब्द है। जैसे ही इस शब्द के स्थान पर हम इसके पर्यायवाची 'चन्द्रे अथवा 'भाग्ये' मे से किसी एक शब्द को रखते हे उपर्युक्त दो अर्थो मे से एक अर्थ का लोप हो जाता है और फलत श्लेषालकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'विधौ' शब्द के सद्भाव की दशा मे श्लेष का सद्भाव होने से तथा इस शब्द के अभाव मे श्लेष का अभाव होने से मम्मट कहते है कि यह अलकार शब्द पर आश्रित है। अत शब्दालकार है। मम्मट का यह तर्क युक्तिसगत नही क्योकि इस तर्क को अपनाकर तो इतने ही औचित्य के साथ इसे निम्नरीति से अर्थालकार भी सिद्ध किया जा सकता है—उपर्युक्त श्लोक मे अर्थद्वय के सद्भाव की दशा मे श्लेष का सद्भाव रहता है तथा इस अर्थद्वय के अभाव मे श्लेप का अभाव हो जाता है। अत यह निष्कर्ष निकला कि अर्थद्वय अथवा एक प्रकार से अर्थ ही श्लेष का आधार है। अत यह अर्थालकार है। विरोधी यहा यह कह सकते हे कि यह वस्तुत 'विधौ' शब्द का सद्भाव तथा असद्भाव ही है जो अर्थद्वय के क्रमश सद्भाव तथा असद्भाव का कारण बनता है। परन्तु अन्ततोगत्वा है तो यह अर्थद्वय का सद्भाव तथा असद्भाव ही जो श्लेषालकार का सीधा निर्णायक बनता है।

दूसरे उपर्युक्त उदाहरण मे तो 'विधौ' शब्द के परिवर्तन से अर्थद्वय का अभाव हो जाता है, परन्तु प्रत्येक दशा मे ऐसा होना आवश्यक नही। हमे कभी कभी किसी शब्द के स्थान पर ऐसा पर्यायवाची शब्द भी मिल सकता है जिसके वे ही दो अर्थ निकले। अत शब्द के परिवर्तन पर अर्थद्वय के अभाव को हम सामान्य सिद्धान्त नही बना सकते।

वस्तुत श्लेष को निर्णायक रूप से शब्दालकार तभी माना जा सकता है जब अर्थद्वय के रहते हुए भी केवलमात्र शब्द के परिवर्तन से श्लेष का लोप हो जाए। हमारी इस मान्यता का आधार यह है कि हमारे सम्मुख श्लेष के दो सम्भावित कारण है—शब्द तथा अर्थ और इनमे से किसी एक का हमे निर्णय करना है। जहा किसी वस्तु के दो सम्भावित कारणो मे से हमे किसी एक का निर्णय करना हो और हम अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाए तो इसकी उचित प्रक्रिया यही है कि हम इन दो कारणो मे से एक को तो रहने दे तथा केवल एक को हटाएं और तब देखें कि उस

वस्तु का लोप होता है या नही। यदि इस प्रकार उस वस्तु का लोप हो जाए तभी हम कह सकते है कि हटा हुआ कारण उस वस्तु का यथार्थ कारण है। उदाहरणत सुगन्ध के लिए हम पुष्प तथा पत्र इन दो सम्भावित कारणो को लेते हे और इसके लिए अन्वयव्यतिरेकभाव के सिद्धान्त को अपनाते है। इसको अपनाने की उचित प्रणाली यही है कि हम पुष्प तथा पत्र मे से एक को रहने दे तथा अन्य को हटा ले और तब देखे कि सुगन्ध बनी रहती है या नही। हमे ज्ञात होगा कि पुष्प के हटाने पर पत्र के रहते हुए भी सुगन्ध का लोप हो जाता है। तभी हम कहते हे कि सुगन्ध का कारण पुष्प है। श्लेषालकार के निर्णय के लिए भी मम्मट को अन्वय-व्यतिरेकभाव का प्रयोग इसी ढग मे करना चाहिए और उसे शब्दालकार तभी कहना चाहिए जब अर्थद्वय के रहते हुए भी शब्द के परिवर्तनमात्र से श्लेष का खण्डन हो जाए। परन्तु श्लेष मे ऐसा नही होता। अत अन्वयव्यतिरेकभाव के द्वारा भी कम से कम यह तो सिद्ध नही होता कि श्लेष शब्दालकार है।

वक्रोक्ति भी इस आधार के अनुसार अर्थालकार के अन्तर्गत आती है। वक्रोक्ति से यहा हमारा अभिप्राय सकुचित वक्रोक्ति अलकार से है, भामह तथा कुन्तक की व्यापक वक्रोक्ति से नही। यह तो सब अलकारो की तथा काव्य की मूल है। इस वक्रोक्ति अलकार के दो भेद हे—श्लेष-वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति।[1] मम्मटादि ने इसे शब्दालकार के अन्तर्गत रखा है, परन्तु यह उचित नही। श्लेष अर्थालंकार है। अत उस पर आधारित वक्रोक्ति भी अर्थालकार ही होगी। काकु-वक्रोक्ति मे भी अर्थतत्त्व का चमत्कार होता है। अत यह भी अर्थालकार के अन्तर्गत आएगी।

अनेक आलकारिको ने चित्र को भी शब्दालकार माना है। परन्तु इसे अलंकारकोटि के अन्तर्गत रखना ही उचित नही। चित्र काव्य का अग ही नही बन सकता। काव्य मे शब्द तथा अर्थ दो तत्त्व होते है। इनमे शब्द स्वत साध्य न होकर साधनमात्र होता है और उसका साध्य अर्थ की सम्यक् प्रतीति कराना होता है। परन्तु जब शब्द स्वत साध्य बन जाता है तो

---

१. 'यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।'
—काव्यप्रकाश सू० १०२

वह अर्थ से असम्बद्ध हो जाता है और काव्य का अंग नही रहता। चित्र मे भी यही बात है। इसमे शब्दो का केवल खिलवाड होता है। उससे अर्थ का कोई उपकार नही होता।

पुनरुक्तवदाभास को अनेक आलकारिको ने शब्दालकार के अन्तर्गत रखा है। परन्तु यह उचित नही। इस अलकार मे चमत्कार समान अर्थ के आभास पर आश्रित होता है।[1] इसमे न तो शब्दो की पुनरुक्ति होती है और न अर्थ की पुनरुक्ति केवल अर्थपुनरुक्ति का आभास होता है। अत यह अलकार शब्द पर आश्रित नही कहा जा सकता। अन्वयव्यतिरेकभाव को अलकार का आधार मानने वाले आलकारिको ने इसे उभयालकार कहना उचित समझा है, परन्तु शब्दवैचित्र्य की उत्कटता के कारण अथवा प्राचीन मतो के अनुरोध से इसे शब्दालकार के अन्तर्गत रखा है। मम्मट तथा विश्वनाथ का यही मत है।[2]

इससे स्पष्ट है कि अन्वयव्यतिरेकभाव के अनुसार भी पुनरुक्तवदाभास मे अर्थतत्त्व के चमत्कार की सत्ता है। परन्तु वे इसमे शब्द का भी चमत्कार मानते है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि उनका यह विचार सदोष है। जहा तक शब्दो के उच्चारण का प्रश्न है उनमे न तो किसी प्रकार की पुनरुक्ति है और न किसी प्रकार का चमत्कार है। पुनरुक्ति अथवा चमत्कार की प्रतीति हमे तभी होनी है जब हम अर्थ पर विचार करते है। यह कहना कि अर्थ की यह पुनरुक्ति शब्दो के कारण होती है कोई अर्थ नही रखता, क्योकि इस प्रकार तो समस्त अर्थ का चमत्कार शब्दो के कारण होने से समस्त अर्थालंकार शब्दालकार बन जाऐगे।

---

१ पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा एकार्थतेव'।

—काव्यप्रकाश सू० १२२

२. 'एव च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपक चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालकारौ'—काव्यप्रकाश पृ० ७६८

इस पर उद्योतकार का कहना है—"अत एव शब्दवैचित्र्यस्योत्कटतया पुनरुक्तवदाभासः शब्दालकारमध्ये गणितः" काव्य प्रकाश टीका पृ० ७६८

"शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरतनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथम तमेवाह"—साहित्यदर्पण पृ० ४७२।

रुय्यक ने पुनरुक्तवदाभास का कारण अर्थपौनरुक्त्य माना है।[1] इस प्रकार यह अर्थालंकार के अन्तर्गत आना चाहिए।

भोज ने शब्दालकारो की सख्या २४ तक पहुँचा दी है। इन्होने जाति, गति, छाया, मुद्रा आदि अनेक शब्दालकार माने है।[2] इस विषय मे वे एक भिन्न परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते है। उन्हे सस्कृत के मान्य आलकारिको का समर्थन प्राप्त नही और न उपर्युक्त अलकारो के शब्दालकार मानने का कोई उचित आधार ही दिखाई देता है।

इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा यमक शब्दालकार के अन्तर्गत रह जाते है। कुछ आलकारिको ने छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को दो भेद माना है। कतिपय आलकारिक लाटानुप्रास को भी अनुप्रास के अन्तर्गत मानते है। भामह ने लाटानुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[3] उद्भट ने तीनो को भिन्न भिन्न माना है।[4] मम्मट ने लाटानुप्रास को तो भिन्न माना है परन्तु छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[5] रुय्यक तीनो को भिन्न भिन्न मानते है।[6] विश्वनाथ ने इस विषय मे मम्मट का अनुसरण किया है, परन्तु उन्होने अनुप्रास के श्रुत्यनुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास नामक दो भेद और किए है।[7] इनमे मम्मट तथा विश्वनाथ का मत समीचीन है। छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दोनो मे केवल शब्द (वर्णादि) सादृश्य होता है। अत उन्हे एक अलकार के दो भेद मानना उचित होगा। लाटानुप्रास मे शब्दसादृश्य के अतिरिक्त अर्थसादृश्य भी होता है। अत इसे भिन्न अलकार मानना उचित होगा।

---

१ 'अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारोऽयम्' सर्वस्व पृ० १५

२. "चतुर्विंशतिरित्युक्ताः शब्दालकारजातयः।
अथासा लक्षण सोदाहरणमुच्यते ॥" सरस्वती कण्ठाभरण २। ५

३. "लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।" काव्यालकार २। ८

४. देखिए काव्यालकारसारसग्रह पृ० ३ से १०

५. देखिए काव्य प्रकाश पृ० ४६४—४६८

६. देखिए सर्वस्व सू० ४, ५, ८

७. देखिए साहित्यदर्पण पृ० ४७६, ४७७



"शब्दालंकारों के मूल में सादृश्य"

इन समस्त शब्दालकारो के मूल मे सादृश्य है। अनुप्रास के मूल मे वर्णादि का सादृश्य है। लाटानुप्राम के मूल मे शब्दसादृश्य तथ अर्थ-सादृश्य दोनो विद्यमान है। यमक मे स्वरव्यञ्जनसमुदाय का तो सादृश्य होता है परन्तु अर्थ मे भेद होता है। आलकारिको ने प्राय आवृत्ति को शब्दालकार का मूल माना है। रुय्यक ने इसी आवृत्ति के आधार पर शब्दालकारो के तीन आधार बताए है-शब्दपौनरुक्त्य, अर्थपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य।[1] यह आवृत्ति तथा सादृश्य भिन्न तत्त्व नही। हम आवृत्ति को सादृश्य मे अन्तर्भूत कर सकते है।

अनुप्रास मे व्यञ्जनो की अथवा व्यञ्जनो एव स्वरो की आवृत्ति होती है। यदि केवल व्यञ्जनो की आवृत्ति होती है तो स्वरो मे भेद होगा। इस प्रकार व्यञ्जनो की दृष्टि से अभेद तथा स्वरो की दृष्टि से भेद प्रतीत होगा। ये दोनो भेद एवं अभेद मिलकर सादृश्य की प्रतीति कराएगे। यदि व्यञ्जन तथा स्वर दोनो की आवृत्ति होती है तो शब्द के अन्य वर्णों की दृष्टि से भेद प्रतीत होगा। ये दोनो अभेद तथा भेद मिलकर पूर्ववत् सादृश्यप्रतीति कराएगे। इस प्रकार व्यञ्जनो तथा स्वरो की आवृत्ति भले ही हो यह उच्चारण मे सादृश्य की प्रतीति ही है जो चमत्कार का कारण है।

लाटानुप्रास मे अभेद के दो तत्त्व होते है। ये शब्दपौनरुक्त्य तथा अर्थपौनरुक्त्य हैं। इसमे भेद का एक तत्त्व होता है। यह तात्पर्यभेद है। शब्दपौनरुक्त्य के कारण उच्चारण मे सादृश्य की प्रतीति होती है। अर्थ-पौनरुक्त्य तथा तात्पर्यभेद के कारण अर्थ मे सादृश्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार लाटानुप्राम मे शब्दसादृश्य तथा अर्थसादृश्य दोनो विद्यमान है।

यमक मे स्वर तथा व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होती है। यह आवृत्ति उच्चारण मे सादृश्यप्रतीति का कारण है। इस अलकार

---

१ "इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्य शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रय. पौनरुक्त्य प्रकाराः"—सर्वस्व सू० १

मे उच्चारण की सादृश्यप्रतीति के अतिरिक्त एक और तत्त्व की आवश्यकता है और वह है आवृत्त स्वरव्यञ्जनसमुदाय मे अर्थभेद।

इस प्रकार उच्चारण-साम्य सब शब्दालकारो का सामान्य तत्त्व है। लाटानुप्रास तथा यमक मे एक एक और अन्य तत्त्व होना है। लाटानुप्रास मे अर्थसाम्य होता है तथा यमक मे अर्थवैषम्य होता है।

अनुप्रास में उच्चारण तथा अर्थ का सादृश्य आवश्यक:—

अनुप्रास मे उच्चारण साम्य तो होता ही है, अलंकार होने के नाते इसमे एक और तत्त्व की आवश्यकता है। यह है इस उच्चारण का अर्थानुरूप होना। इसे हम उच्चारण तथा अर्थ का सादृश्य कह सकते है। उच्चारण तथा अर्थ मे घनिष्ठ सादृश्य होता है। यदि अर्थ माधुर्यपूर्ण है तो आवश्यक है कि वर्णों का उच्चारण भी कोमलतापूर्ण हो। यदि अर्थ ओज पूर्ण है तो वर्णों का भी कठोर होना आवश्यक है। संगीत के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। सगीत मे भावो की प्रधानता होती है। इस भाव का ज्ञान अर्थज्ञान से उतना नही होता जितना वर्णों के स्वभाव तथा लय से होता है। हम अपरिचित भाषा के भी सगीत को सुनकर उसके भाव को जो समझ लेते है उसका कारण वर्णों का स्वभाव तथा लय ही है।

वर्णों तथा अर्थ का यह सादृश्य भवभूति की निम्न पक्ति से स्पष्ट हो जाएगा —

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'

यहा कठोरता तथा कोमलता के दो भाव है और उन्ही के अनुसार कठोर तथा कोमल वर्णो का विधान किया गया है।

वर्णों तथा अर्थ का यह सादृश्य निर्विवाद है। कतिपय वर्ण स्वभाव से कोमल होते है तथा कतिपय स्वभाव से कठोर होते हे। भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वानो ने इसे स्वीकार किया है।[1] वर्णो तथा अर्थ के इस सादृश्य को अभिनव ने वर्णध्वनि कहा है। कुन्तक ने इसे वर्ण-वक्रता कहा है तथा क्षेमेन्द्र ने वर्णौचित्य कहा है।

---

१ आनन्द ने वर्णो के इसी स्वभाव के आधार पर इनके रसच्युत तथा रसश्च्युत नामक दो भेद किए है। रस प्रकरण मे इसका विवेचन हो चुका है।

अलकारशास्त्र मे अनुप्रासजातियो अथवा वृत्तियो का विधान इसी वर्णध्वनि पर आश्रित है।[१] मम्मट ने इस वर्णध्वनि को वृत्यनुप्रास का

अभिनव ने सन्तापक तथा निर्वापक नामक दो भागो मे वर्णो का विभाजन किया है.—

अन्यैरपि उक्त "तेन वर्णा रसच्युत" इत्यादि। स्वभावतो हि केचन वर्णा·

सन्तापयन्तीव। अन्ये तु निर्वापयन्तीव उपनागरिकोचिता। लोकगोचर एवायमर्थ। साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ८८

पाश्चात्य विद्वानों ने भी वर्णों तथा अर्थ के इस सादृश्य को स्वीकार किया है। अरस्तू, पोप आदि इनमें प्रमुख हैं —

"It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language there is a certain loss of persuasiveness" Rhetoric

—साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ११७

"It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense"

Essay on criticism

—साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० १२८

१. मम्मट के अनुसार वृत्ति नियतवर्णगत रसविषय व्यापार है.—

"नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारो वृत्ति"-काव्यप्रकाश पृ० ४५६। वृत्ति की यह परिभाषा वर्णो एवं रस के सादृश्य की स्पष्ट द्योतक है। मम्मट ने वृत्ति के उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामक तीन भेद करके उनका क्रमश माधुर्यव्यञ्जक, ओजोव्यञ्जक तथा इनके अतिरिक्त अन्य वर्णो से सम्बन्ध दिखाया है।

—काव्यप्रकाश पृ० ४६७

आनन्द ने भी वृत्ति को रसोचित शब्दव्यवहार कहा है। उनका कथन इस प्रकार है·—

"रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो·।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा मताः॥" ध्वन्यालोक ३। ३३

मूल माना है ।[1] परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि छेकानुप्रास मे भी यह अपेक्षित है । अनुप्रास का अर्थ मम्मट ने 'रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यास' किया है ।[2] अत इसमे वर्णविधान प्रकृत रस के अनुकूल होना चाहिए । इसी की व्याख्या करते हुए वामनाचार्य कहते है —

'तथा च अनतिव्यवहितत्वेन चमत्कृत्याधायिका प्रकृतरसव्यञ्जकसदृशवर्णावृत्तिरनुप्रास इति फलितम् । प्रकृतरसप्रतिकूलेऽपि अनुप्रासव्यवहारो भाक्त एव ।' काव्य प्रकाश टीका पृ० ४९५

इससे स्पष्ट है कि प्रकृतरस से प्रतिकूल वर्णसाम्य मे अनुप्रास शब्द का व्यवहार केवल गौण रूप से होता है । छेकानुप्रास अनुप्रास का एक भेद है । अत अनुप्रास की सामान्य परिभाषा उस पर भी लागू होती है ।

छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास मे कोई विशेष भेद भी नही । अनुप्रास को वर्णसाम्य माना गया है । उसका भेद छेकानुप्रास अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति कहा गया है तथा वृत्त्यनुप्रास एक अथवा अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति कहा गया है ।[3] अत एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति के मूल मे यदि रसोचितवर्णव्यवहार अथवा वर्णध्वनि है तो यह कैसे हो सकता है कि अनेक वर्णो की एक बार आवृत्ति मे उसकी कोई अपेक्षा न हो ।

'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एता कैशिक्याद्या वृत्तय । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्या' ।

ध्वन्यालोक पृ० ४०१

अभिनव ने भी वृत्ति के परुषा, उपनागरिका एव कोमला नामक भेद करके उनका रस से सम्बन्ध दिखाया है:—

'नागरिकया उपमिता अनुप्रासवृत्ति शृंगारादौ विश्राम्यति । परुषा दीप्तेषु रौद्रादिषु । कोमला हास्यादौ । तथा 'वृत्तय काव्यमातर' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्ति' ।

साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० २६३

१. देखिए काव्यप्रकाश पृ० ४६७

२ काव्यप्रकाश पृ० ४६५

३. "सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वं एकस्याप्यसकृत्परः" काव्य प्रकाश पृ० ४६६

जहां तक इन दोनो भेदो के मूल का प्रश्न है, उच्चारण-सादृश्य इनके मूल मे विद्यमान है। परन्तु केवल उच्चारण-सादृश्य काव्य का अग नही बन सकता । उच्चारण-सादृश्य का केवल शब्दो से सम्बन्ध होता है। परन्तु काव्य के लिए शब्दतत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनो की आवश्यकता है। अर्थ से असम्बद्ध शब्द कोई अर्थ नही रखता। अत अर्थ से असम्बद्ध उच्चारण-सादृश्य का भी काव्य मे कोई मूल्य नही । शब्द की इसी अर्थानुकूलता का ध्यान रखकर भामह ने काव्य की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[2] की है। पण्डितराज जगन्नाथ को भी जिन्होने काव्य की परिभाषा मे शब्द पर बल दिया है 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्'[1] कहकर शब्द का अर्थ से सम्बन्ध जोडना पडा। अत केवल शब्दचमत्कार काव्य का अग नही बन सकता।

लाटानुप्रास तथा सार्थक आवृत्ति वाले यमक मे तो कुछ अशो मे उच्चारण-सादृश्य की इस रसानुकूलता की उपेक्षा की जा सकती है, परन्तु अर्थहीन उच्चारण-सादृश्य वाले छेकानुप्रासादि मे ऐसा सम्भव नही। लाटानुप्रास तथा सार्थक आवृत्ति वाले यमक मे अर्थतत्त्व भी होता है। पहले मे तात्पर्यभेद के साथ अर्थसादृश्य होता है तथा दूसरे मे अर्थवैषम्य होता है। अत यह उच्चारण-सादृश्य अर्थ का उपकारक बन जाता है और ये दोनो अलङ्कार वर्णध्वनि के अभाव मे भी अलङ्कार बने रहते है परन्तु छेकानुप्रासादि मे ऐसी बात नही।

ध्वनिवादियो का कथन है कि अर्थानुकूलता अलङ्कार की परिभाषा का आवश्यक अङ्ग नही। उनके अनुसार अलङ्कार काव्य का नियमित रूप से उपकार नही करते। कभी कभी ये काव्य का उपकार करते है तथा कभी कभी नहीं भी करते। ये अलङ्कार को काव्य का एक बाहिरी उपकरण मानते है जो काव्य का उपकार कर भी सकता है और कभी कभी नही भी करता। काव्य का यह उपकार अलङ्कार की अनुकूलता पर निर्भर करता है। अनुकूलता को ये एक भिन्न तत्त्व मानते हे। यह अलङ्कार के अन्तर्गत नही आता। इसीलिए इन लोगो ने अलङ्कारो की तुलना लौकिक आभूषणो से

---

१. भामहालकार १ । १६

२ रसगंगाधर पृ० ४

की है जो औचित्य का ध्यान रखकर ऊपर से जोडे जाते है। मम्मट आदि का यही मत है।[1]

ध्वनिवादियो का यह कथन उचित नही। काव्य के अलङ्कारो की हार आदि से तुलना ठीक नही। हार एक बाह्य आभूषण है। इसकी सत्ता कण्ठ से पृथक् है। यह कण्ठ के सम्पर्क मे आकर कण्ठ की शोभा बढाता है और उसके द्वारा शरीरी की शोभा बढाता है। काव्य के अलङ्कारो के साथ यह बात लागू नही होती। अलङ्कारो की सत्ता शब्द तथा अर्थ से भिन्न नही। शब्द तथा अर्थ ही अलङ्कारो के स्वरूप है और इसी रूप मे वे प्रकट होते है। यदि अलङ्कारो की सत्ता शब्द तथा अर्थ से पृथक् हो तभी हम हारादि बाह्य आभूषणो से उनकी तुलना कर सकते है। परन्तु ऐसी बात नही। अलङ्कार काव्य मे आकर जुडते नही हे अपितु अलङ्कार के रूप मे ही काव्य की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए कुन्तक का कथन है—

'तेनालङ्कृतस्य काव्यत्वमिति स्थिति, न पुन काव्यस्यालङ्कारयोग"।

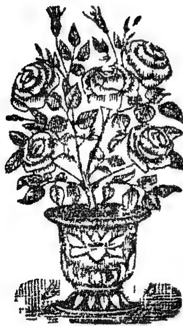
यदि ऐसी बात है तो यह प्रश्न ही नही उठता कि अलङ्कार काव्य का नियमित रूप से उपकार करते है अथवा नही। यह प्रश्न तो तभी उठता है जब अलङ्कार काव्य से भिन्न कोई वस्तु हो। काव्य का स्वरूप शब्द तथा अर्थ है ओर इसी रूप मे अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है। यह एक विचित्र बात है कि अलङ्कार अलङ्कार होते हुए काव्य को अलकृत नही करता। इससे तो अच्छा होगा कि हम उसे अलङ्कार की श्रेणी मे ही न रखे। केवल स्थूल परिभाषा ही तो अलङ्कार नही है। उसके लिए सामान्य तत्त्व चारुता तथा विच्छित्ति की आवश्यकता है। प्रायः सभी आलङ्कारिको ने अलङ्कार के अलङ्कारत्व के लिए इस चारुता को स्वीकार किया है। भामह ने इसे वक्रता कहा है। इनके अनुसार यह वक्रता सब अलङ्कारो के मूल मे है।[2] इसी वक्रोक्ति को कुन्तक ने एक व्यवस्थित रूप दिया तथा इसकी महत्ता बताई। अत अलङ्कार वही होगा जो अर्थ मे चारुता लाए। यदि

---

१ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —काव्यप्रकाश सू० ८८।

२. "सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनया अर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥' भामहालङ्कार २। ८५।

अलङ्कार अर्थानुकूल नही है तो वह अलङ्कार ही नही रहेगा और अलङ्कार के लिए ही ऐसा क्यो कहे। ध्वनि आदि पर भी यह बात लागू होती है। ध्वनि के अनेको भेदोपभेद किए गए है, यहा तक कि उनकी सख्या सहस्रो तक पहुँच गई है। प्रश्न उठता है कि क्या काव्य मे इन भेदोपभेदो के सन्निवेशमात्र से काव्यत्व आ जाएगा। इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। इन भेदोपभेदो के सन्निवेश के लिए आवश्यक है कि प्रधान अर्थ से इनकी अनुकूलता हो। यदि ध्वनि के लिए यह अनुकूलता आवश्यक है तो अलङ्कार के लिए क्यो नही ? यदि इस अनुकूलता को ध्वनि का एक अङ्ग माना जाता है तो इसे अलङ्कार का भी एक अङ्ग मानने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अत यह निश्चित है कि अर्थानुकूलता अलङ्कार का आवश्यक अङ्ग है और ऐसा होने के कारण छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दोनो मे वर्णध्वनि अपेक्षित है।



अनुप्रास

वर्णध्वनि का ध्यान रखते हुए सदृश उच्चारण-विधान अनुप्रास है। यह बात अनुप्रास के सभी भेदो पर समान रूप से लागू होती है। यह उच्चारण-सादृश्य व्यञ्जनसाम्य पर निर्भर है अथवा व्यञ्जन तथा स्वर दोनो के साम्य पर प्राय इस विषय को लेकर आलङ्कारिको ने अपनी परिभाषाओ की रचना की है। प्राय सभी आलङ्कारिक इस बात पर सहमत है कि केवल स्वर-सादृश्य चमत्कार का कारण नही हो सकता। प्रदीपकार ने इस विषय मे स्पष्ट निर्देश किया है —

"न च स्वरमात्रसादृश्ये रसानुगम न वा सहृदयहृदयावर्जकत्वलक्षण प्रकर्ष।" काव्यप्रकाशटीका पृ० ४९४।

रुय्यक का यही मत है।[1] इस बात पर भी सभी आलङ्कारिक सहमत है कि सादृश्य के लिए आवृत्ति अव्यवधान से होनी चाहिए।[2] अधिक व्यवधान वाली आवृत्ति सादृश्य तथा चमत्कार की जनक नही होती।

मम्मट ने वर्णसाम्य को लेकर 'वर्णसाम्यमनुप्रास'[3] परिभाषा की है। विश्वनाथ की परिभाषा इस प्रकार है —

"अनुप्रास शब्दसाम्य वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्"

—साहित्यदर्पण पृ० ४७८।

जयदेव ने स्वर तथा व्यञ्जन दोनो के समुदाय को आवश्यक मानते हुए छेकानुप्रास की परिभाषा की है —

"स्वरव्यञ्जनसन्दोहव्यूहा मन्दोहदोहदा।"

मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषा समान प्रतीत होती है। विश्वनाथ ने शब्द का अर्थ वर्णादि लिया है। मम्मट ने भी "स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जन-सदृशत्व वर्णसाम्यम्"[4] ऐसा अपनी वृत्ति मे कहा है। अत व्यञ्जनमात्र

---

१ 'अलङ्कारप्रस्तावे केवलस्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यते' —सर्वस्व पृ० १६

२ 'प्रकृष्ट —सनिहित, तनातिव्यवधानेन न्यासस्य चमत्काराप्रयोजकस्य व्युदास' उद्योत —काव्यप्रकाश टीका पृ० ४६४।

३ काव्य प्रकाश सू० १०४।   ४ काव्यप्रकाश पृ० ४६५।

का साम्य पर्याप्त है। स्वरसाम्य उसमे चारुता अवश्य ला देता है। अत स्वर तथा व्यञ्जन दोनो का सादृश्य अनिवार्य नही कहा जा सकता। उद्योतकार का यही मत है।[1]

व्यञ्जन साम्य निम्न प्रकार मे सम्भव है—एक व्यञ्जन की एक बार आवृत्ति, एक व्यञ्जन की अनेक बार आवृत्ति, अनेक व्यञ्जनो की एक बार आवृत्ति तथा अनेक व्यञ्जनो की अनेक बार आवृत्ति। इसमे एक व्यञ्जन की एक बार आवृत्ति चमत्कारजनक नही होती। अत वह अनुप्रास का उदाहरण नही हो सकती। एक व्यञ्जन अथवा अनेक व्यञ्जनो की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास कहलाती है तथा अनेक व्यञ्जनो की एक बार आवृत्ति छेकानुप्रास कहलाती है।[2]

वर्णसाम्य के लिए यह आवश्यक नही कि उसी वर्ण की आवृत्ति हो। तत्सदृश वर्ण आने पर भी यह साम्य सम्भव है। वर्णादि कर्णेन्द्रिय के विषय है। अत उनके साम्य का ज्ञान भी कर्णेन्द्रिय से होता है। कर्णेन्द्रिय का सम्बन्ध शब्द के उच्चारण से होता है। और वस्तुत शब्द उच्चारण-स्वरूप ही है। पुस्तक मे लिखित शब्द तो उसी का एक लिपिबद्ध प्रतीक है। उच्चारण कण्ठादि स्थानो से होता है। अत वर्णादि के उच्चारण-स्थानो मे यदि एकता है तो उसमे साम्य की प्रतीति होगी। अत. वर्णसाम्य के लिए जातिसाम्य आवश्यक न होकर श्रुतिसाम्य आवश्यक है। एक ह वर्ण के आने पर उससे सादृश्य के लिए यह आवश्यक नही कि दूसर वर्ण मे भी हत्व हो परन्तु इतना पर्याप्त है कि दूसरा वर्ण इसी स्थान से उच्चरित हो तथा समान प्रयत्नवाला हो। यही कारण है कि 'रह सघ' आदि मे

---

१ "... उभयसाम्ये चारुत्वातिशय इति ध्वन्यते। यथा 'अग्रेसरा वासरा' इत्यादौ" उद्योत। —काव्यप्रकाश टीका पृ० ४६४।

२ "सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व, एकस्याप्यसकृत्पर"।

—काव्यप्रकाश सू० १०६, १०७।

अनुप्रास माना गया है ।[1]

कतिपय आलङ्कारिको ने इसे अनुप्रास का एक भिन्न भेद माना है तथा इसका नाम श्रुत्यनुप्रास रखा है। भोज ने इसे स्वीकार किया है। वे तो अनुप्रास के भेदो मे इसे सर्वोत्तम समझते हे ।[2] विश्वनाथ ने भी इसे अनुप्रास का एक भिन्न भेद माना है। उनकी श्रुत्यनुप्रास की परिभाषा इस प्रकार है —

"उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
सादृश्य व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास इष्यते ॥' —साहित्य दर्पण १०।५

सहृदयो के कानो को अतीव सुखकर होने के कारण इसका नाम उन्होने श्रुत्यनुप्रास रखा है ।[3]

कतिपय आलङ्कारिको ने अनुप्रास का अन्त्यानुप्रास नामक एक और भेद माना है। यह पद के अन्त मे आता है। विश्वनाथ ने इसे स्वीकार किया ह। इसकी परिभापा उन्होने इस प्रकार की हे —

"व्यञ्जन चेद्यथावस्थ सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यते अन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्राम एव तत् ।"—साहित्यदर्पण १०।६

इसके दो भेद किए हे —पादान्तग तथा पदान्तग । इनके उदाहरण क्रमश निम्नलिखित है —

"केश काशस्तबकविकास काय प्रकटितकरभविलास ।"
"मन्द हसन्त पुलक वहन्त'।" —साहित्यदर्पण पृ० ४७७।

भोज ने नामद्विरुक्ति के आधार पर अनुप्रास के कुछ और भेद किए हे। वे लिखते हे —

---

१ "साम्य च श्रुतिकृतमपि गृह्यते। यथा 'याति राजा बलाढय' इति 'रंह सघ' इति च श्रुतिसाम्य स्थानैक्यात् ।" उद्योत—काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ४४६

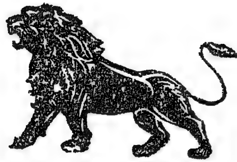
२ 'प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायक ।

३ 'एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रास'
साहित्यदर्पण पृष्ठ० ४७६।

"स्वभावतश्च गौण्या च वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च सा ।
नाम्ना द्विरुक्तिभिर्वाक्ये तदनुप्रास उच्यते ॥'

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।९९ ।

स्वभाव का उदाहरण 'कलकलम्' गौणी का उदाहरण 'रतिरपि रति' वीप्सा का उदाहरण 'गेले गेले' तथा आभीक्ष्ण्य का उदाहरण 'पाय पायम्' है ।[1] इन अलङ्कारो मे केवल उच्चारणसादृश्य ही नही अपितु अर्थतत्त्व भी है ।



१ देखिए सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ २५४, २५५ ।

यमक

यमक का वर्णन प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने किया है। भरत ने इसे शब्दाभ्यास कहा है तथा इसके दस भेद किए है।[1] भट्टि का यमकवर्णन विस्तृत है। इन्होने इस सम्बन्ध मे बीस श्लोक लिखे है। दण्डी ने भी इसका वर्णन विस्तार से किया है। भामह ने यमक के पाच भेद किए है।[2] उद्भट ने यमक का वर्णन नही किया है। रुद्रट, वामन आदि ने इसका वर्णन किया है। भोज, मम्मट आदि ने इसका सविस्तार वर्णन किया है।

यमक की परिभाषा करने मे आलङ्कारिक प्राय सहमत है। हेमचन्द्र, मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषाए समान है। मम्मट की परिभाषा इस प्रकार है—

"अर्थे सत्यर्थभिन्नाना वर्णाना सा पुन श्रुति"।

—काव्यप्रकाश सू० ११७।

भोज तथा केशवमिश्र की परिभाषाए प्राय समान है। भोज की परिभाषा इस प्रकार है—

"विभिन्नार्थैकरूपाया या वृत्तिर्वर्णसहते"।

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।५८।

रुय्यक, जयदेव तथा विद्यानाथ की परिभाषाए प्राय समान है। रुय्यक की परिभाषा इस प्रकार है—

"स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यम् यमकम्"। —सर्वस्व सू० ६।

जहा तक वर्णसमुदाय की पुनरुक्ति का प्रश्न है ये परिभाषाए समान है। इनमे अन्तर है केवल अर्थवैषम्य की ओर सकेत करने अथवा न करने का। रुय्यक की परिभाषा मे इस ओर कोई सकेत नही। मम्मट मे यह

---

१ "शब्दाभ्यासस्तु यमक पादादिषु विकल्पितम्।
एतद्दशविधं ज्ञेय यमक नाटकाश्रयम्॥" —नाट्यशास्त्र १६।६२–६५।

२ आदिमध्यान्तयमक पादाभ्यास तथावली।
समस्तपादयमकमित्येतत् पञ्चधोच्यते॥" —भामहालङ्कार २।९।

सकेत हे अवश्य परन्तु प्रत्येक दशा मे अर्थ-वैषम्य हो ऐसी बात नही। अर्थ होने पर यह अर्थ-वैषम्य होगा। भोज मे इस ओर स्पष्ट सकेत है।

यदि अर्थवैषम्य को परिभाषा का आवश्यक अङ्ग नही माना जाता है तो निरर्थक वर्णो की अथवा सार्थक एव निरर्थक वर्णो की आवृत्ति भी यमक के अन्तर्गत आएगी। अपनी वृत्ति मे मम्मट ने यह बात स्पष्ट कर दी है —

"समरसमरसोऽयमित्यादावेकेषामर्थवत्त्वे अन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम् इति अर्थे सतीत्युक्तम्" काव्यप्रकाश पृ० ५०२

यदि ऐसी बात है तो अनुप्रास से निरर्थक वर्णावृत्ति वाले यमक का विभेदक क्या हे? दोनो मे वर्णसाम्य हे। अर्थवैषम्य किसी मे भी नही। यदि कहा जाता है कि अनुप्रास मे स्वरसादृश्य केवल आनुषगिक है, परन्तु यमक मे वह अनिवार्य हे तो भी यमक के इस भेद को अनुप्रास से पृथक् करने का यत्न सिद्ध नही होता। उच्चारण साम्य दोनो मे समान रूप से है। यह उच्चारण व्यञ्जनो की आवृत्ति के कारण है अथवा स्वरव्यञ्जनसमुदाय की आवृत्ति के कारण, केवलमात्र इतने भेद से पृथक् अलकार की सत्ता सिद्ध नही होती। यदि इतने मे भेद करना ही है तो यह एक अलकार के दो भेद करके हो सकता है। अत निरर्थक वर्णावृत्ति वाले यमक को अनुप्रास का ही एक भेद कहना उचित होगा।

सार्थक तथा निरर्थक वर्णावृत्ति वाला यमक भी अनुप्रास से भिन्न नही कहा जा सकता। इसमे एक वर्णसमुदाय सार्थक अवश्य है परन्तु चमत्कार का उमसे कोई सम्बन्ध नही। उससे अर्थ निकलता है केवल इतनी बात है। परन्तु यह अर्थ अलकार का अग नही। अनुप्रास मे चारुता उच्चारण-सादृश्य तथा वर्णध्वनि पर आश्रित है और यही बात इसमे है। अत इसे भी अनुप्रास का एक भेद मानना उचित होगा।

अब यमक का तीसरा भेद रह जाता है। इसमे अर्थ-वैषम्य होता है। इसके पृथक् अलकार होने के लिए भी यह आवश्यक है कि आवृत्ति अथवा वर्णसाम्य अर्थवैषम्य मे चमत्कार लाए। अर्थ के वैषम्यमात्र से काम नही चल सकता। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा —

"यदानतोऽयदानतो नयात्यय न यात्ययम्"

काव्यप्रकाश पृ० ५०७

वामनाचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है —

'यस्या पार्वत्याम् आनत —प्रणत अयं जन नयात्यय-नयस्य नीते अत्यय नाश नीतिविश्लेषमित्यर्थ न याति नाधिगच्छति। कुत अयदानत - अयस्य शुभावहविवेदानत दानात् अर्थात्तयैव पार्वत्याऽस्य शुभावहविवि-दानादित्यर्थ ।" काव्य प्रकाश टीका पृ० ५०७

यहा अर्थवैषम्य है अवश्य परन्तु वह चमत्कारयुक्त नही तथा उसका कारण आवृत्ति नही। यहा अर्थवैषम्य का कारण भिन्न शब्दो का सन्निवेश है। 'यदानतो' मे यद् तथा आनतो शब्द हे । 'अयदानतो' मे अय तथा दानतो शब्द है। इन भिन्न शब्दो से भिन्न अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है। यही कारण हे कि यहा अर्थवैषम्य मे चमत्कार नही । अर्थवैषम्य का चमत्कार तो दूर रहा यह कहना अनुचित न होगा कि यहा अर्थवैषम्य की प्रतीति ही नही होती। प्रतीति केवल यही होती है कि यहा विभिन्न शब्दो के समुदाय को समान उच्चारण का रूप दिया गया है। परन्तु यमक अल-कार के लिए इतना पर्याप्त नही। यह अलकार तभी सम्भव है जब अर्थ-वैषम्य का कारण उन्ही शब्दो की आवृत्ति हो तथा यह आवृत्ति चमत्कार का कारण हो। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक यमक का उदाहरण सिद्ध नही होता। यदि कहा जाता है कि इस श्लोक मे चमत्कार अवश्य है तो हमारा उत्तर है कि यह चमत्कार आवृत्तिजनित अर्थवैषम्य के कारण नही अपितु वर्णध्वनि के कारण हे। इसमे ऐसे सदृश वर्णो का विधान है जो प्रस्तुत भाव के अनुकूल हे। जहा तक वर्णध्वनि के चमत्कार का सम्बन्ध है वह सदृश वर्णो के स्वभाव पर निर्भर करता है। उसका सम्बन्ध केवल इनके उच्चारण से होता है। इस उच्चारण के अन्तर्गत विभिन्न शब्द आते है या नही इससे इसका कोई सम्बन्ध नही।

आलकारिको ने यमक के अनेको भेदोपभेद किये हे। ये भेद सदृश वर्णो की व्यवस्था के भेद पर आश्रित है। सदृश वर्णो की यह व्यवस्था श्लोक मे अनेक प्रकार से सम्भव है।

यमक तथा अनुप्रास का रसो से कैसा सम्बन्ध है इस विषय का आनन्द-वर्धन ने सविस्तर वर्णन किया है। उनके अनुसार इन अलकारो का विधान

शृङ्गार रस के प्रतिकूल है। यमक को तो उन्होने शृङ्गार मे सर्वथा वर्जित बताया है। वे लिखते हैः—

'शृङ्गारस्यागिनो यत्नादेकरूपानुबन्धनात्।

सर्वेष्वेव पभेदेपु नानुप्रास प्रकाशक ॥" ध्वन्यालोक २। १४

"ध्वन्यात्मभूते शृङ्गार यमकादिनिबन्धनम्।

शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत ।" ध्वन्यालोक २। १५

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आनन्द का कथन है —

"यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वक क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूप ।" ध्वन्यालोक पृ० २२१

ध्वनिवादी अलकार को बाह्य आभूषण मानते है। अत इस दशा मे यमक का प्रकरण मे योग कठिन ही है। परन्तु यह बात तो सभी अलकारो पर लागू होगी। ध्वनिवादी अलकारो का स्वरूप बताकर औचित्य के आधार पर उनका रस आदि से सम्बन्ध जोडते है। इस प्रकार अलकारो को पहले बताकर वे फिर औचित्य को एक समन्वय की शृङ्खला के रूप मे लाते है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अनुकूलता का विचार पूर्व आता है और उसके आधार पर भाषा जो रूप धारण करती है उसी के कतिपय भेद अलकार है। ऐसा मानने मे अलकारो के प्रकरण-विरोध का परिहार हो जाता है।



लाटानुप्रासः—

लाटानुप्राम का प्राय सभी आलकारिको ने वर्णन किया है। प्राचीन आलकारिको मे भामह तथा उद्भट ने इसका वर्णन किया है। भामह मे तो इसकी ओर केवल सकेतमात्र है परन्तु उद्भट मे इसका विस्तार से वर्णन मिलता हे। भट्टि दण्डी, वामन तथा रुद्रट ने इसका वर्णन नही किया है। भोज, मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ आदि ने इमका वर्णन किया है।

लाटानुप्रास की परिभापा प्राय सभी आलकारिको की समान हे। भोज की परिभाषा निम्नलिखित है —

"अर्थभिदे पदावृत्ति प्रवृत्त्या भिन्नयेह या '—सरस्वतीकण्ठाभरण २।१०२

मम्मट की परिभाषा इस प्रकार है —

'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत '—काव्यप्रकाश सू० ११२

अन्य आलकारिको की परिभाषाए भी इसी के समान हे। इस परिभाषा के अनुसार लाटानुप्राम मे तीन तत्त्व है —शब्दावृत्ति, अर्थसादृश्य तथा तात्पर्यभेद। शब्दावृत्ति को हम उच्चारणसादृश्य कह सकते हे। शब्द वर्णो का समुदाय है। अत जहा तक उच्चारण-साम्य का प्रश्न है, इसमे तथा यमक एव अनुप्रास मे कोई विशेष भेद नही। परन्तु इसमे अन्य दो विभेदक तत्त्व हे। ये हे अर्थ-सादृश्य तथा तात्पर्यभेद। इनको साथ मिलाकर भिन्न-तात्पर्यकार्थसादृश्य कहा जा सकता है। केवल अर्थसादृश्य कहना पर्याप्त नही, क्योकि यह तो पुनरुक्त दोष होता है। उच्चारण-साम्य के इसके तथा अनुप्रास के उपादानो मे अर्थ की दृष्टि से अन्तर होता है। अनुप्रास मे उच्चारण साम्य के उपादान वर्णादि निरर्थक होते हे परन्तु इसमे वे सार्थक होते है। इसी सार्थक वर्णसमुदाय के सादृश्य-विधान से यह अर्थसादृश्य निकलता है। इस प्रकार इसमे अर्थतत्त्व भी होता है। इस सादृश्ययुक्त अर्थतत्त्व मे तात्पर्यभेद अन्वय के कारण होता है। उदाहरणत "यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥"

—काव्यप्रकाश पृ० ४९९

इस श्लोक मे 'दवदहनस्तुहिनदीधिति' की आवृत्ति है। शब्दो का अर्थ भी दोनो दशाओ मे समान है परन्तु अन्वय करने पर तात्पर्य मे भेद हो जाता है। पहली पंक्ति मे तुहिनदीधिति उद्देश्य है तथा दवदहन विधेय है। इस प्रकार इसका अन्वय है—

"तुहिनदीधितिर्दवदहनोऽस्ति"

दूसरी पंक्ति मे दवदहन उद्देश्य है तथा तुहिनदीधिति विधेय है। इस प्रकार इसका अन्वय है—"दवदहनस्तुहिनदीधितिरस्ति।" इसी बात को वामनाचार्य ने निम्न प्रकार से कहा है—

" 'पूर्वार्धे तुहिनदीधितौ दवदहनत्व विधेयम्, उत्तरार्धे तु दवदहने तुहिनदीधितित्व विधेयमित्युद्देश्यविधेयभावविपर्यासेन शाब्दबोधस्वरूपान्वय भेदात्तात्पर्यभेदोऽत्रेति बोध्यम्।" काव्यप्रकाश टीका पृ० ४९९

पहली पंक्ति मे तुहिनदीधिति पर दवदहन का आरोप है तथा दूसरी पंक्ति मे दवदहन पर तुहिनदीधिति का आरोप है। आरोप मे लक्षणा होती है। इसे सारोपा लक्षणा कहा जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण "गौर्वाहीक" है। इसमे लक्ष्यार्थ जाड्य मान्द्य आदि गुण है।[1] ये गौ तथा वाहीक मे समान रूप मे विद्यमान है। इस प्रकार 'दवदहनस्तुहिनदीधिति' मे भी लक्ष्यार्थ है। पूर्व पंक्ति मे यह तापकरत्व के रूप मे है तथा दूसरी पंक्ति मे शीतलत्व के रूप मे है। ऐसा होने पर भी पूर्वार्ध मे तुहिनदीधिति पर आरोप दवदहन का ही है तापकरत्व का नही तथा उत्तरार्ध मे दवदहन पर आरोप तुहिनदीधिति का ही है शीतकरत्व का नही। यदि पूर्वार्ध मे तुहिनदीधिति पर तापकरत्व का आरोप हो तथा उत्तरार्ध मे दवदहन पर शीतकरत्व का आरोप हो तो दोनो अर्थो मे भेद हो जाए और इस प्रकार यह लाटानुप्रास न रहे। परन्तु यहा तापकरत्व अथवा शीतकरत्व का आरोप विवक्षित नही। अत यह लाटानुप्रास ही है।

दोनो पंक्तियो मे अर्थ का जो अभेद है वह अभिधेय अर्थ के द्वारा है लक्ष्यार्थ के द्वारा नही। पूर्वार्ध मे दवदहन का अर्थ दावानल है तथा लक्ष्यार्थ तापकर है। उत्तरार्ध मे तुहिनदीधिति का अभिधेय अर्थ चन्द्र है तथा लक्ष्यार्थ शीतकर है। यहा चमत्कार अभिधेय अर्थ के सादृश्य के

---

१. देखिए काव्यप्रकाश पृ० ४७–४९

कारण है। लक्ष्यार्थ यहा है अवश्य परन्तु वह गौण है तथा अभिधेय अर्थ का उपकारक है।

अभिधेय अर्थ के आरोप के अनुसार यहा दो रूपक बनते है। कुछ के अनुसार यहा दो उपमाए है। चन्द्रिकाकार का यही मत है। उनके अनुसार 'तुहिनदीधितिर्दवदहनतुल्य दवदहनस्तुहिनदीधितितुल्य'[1] यह व्याख्या है। जैसा हो यहा चमत्कार न तो दो रूपको पर आश्रित है और न दो उपमाओ पर अपितु भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थकशब्दावृत्ति पर आश्रित है।

दो वस्तुओ की पारस्परिक उपमा को उपमेयोपमा कहते है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला।'[2]

यहा कमला को मति के समान तथा मति को कमला के समान कहकर यह सिद्ध किया है कि कोई तृतीय वस्तु इनके तुल्य नही। इस प्रकार यहा चमत्कार तृतीयसदृशव्यवच्छेद के रूप मे है और वह दो वस्तुओ के पारस्परिक सादृश्य के कारण है। परन्तु "यस्य न " मे ऐसी बात नही। यहा तुहिनदीधिति को दावानल के समान बताकर तथा दावानल को तुहिनदीधिति के समान बताकर यह अभिप्राय नही कि इनके सदृश तृतीय वस्तु नही'। तुहिनदीधिति को भी दवदहनतुल्य बताने से यह प्रयोजन नही कि उन दोनो मे वस्तुत सादृश्य है, परन्तु इसके विपरीत प्रयोजन यह है कि अवस्था-विशेष मे तुहिनदीधिति दवदहन का सा आचरण करता है। अत तात्पर्य दोनो के सादृश्य से न होकर अवस्था-विशेष के प्रभाव से है। अत यह उपमेयोपमा का उदाहरण नही।

इसी प्रकार दोनो मे यदि रूपक माने तो भी यह स्पष्ट है कि यहा चमत्कार पारस्परिक आरोप के कारण नही। अत यह लाटानुप्रास नामक भिन्न अलकार है।

रुय्यक का लाटानुप्रास का उदाहरण निम्नलिखित है—रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।'

---

१ काव्यप्रकाशटीका पृ० ४ ६६

२ सर्वस्व पृ० २०

यहा कमल शब्द की आवृत्ति है। उसका अर्थ भी समान है। परन्तु पहला कमल उद्देश्य है तथा दूसरा विधेय है। पहले का सम्बन्ध 'रविकिरणानुगृहीतानि' से है तथा दूसरे का 'भवन्ति' से है।

यहा चमत्कार का कारण भिन्न तात्पर्य के साथ कमल शब्द की आवृत्ति है। कमल से कमल का सादृश्य चमत्कार का कारण नही। यदि कमल का कमल से सादृश्य अभिप्रेत हो तो अनन्वय हो जाएगा। अनन्वय मे उमी वस्तु का उसी से सादृश्य दिखाकर अन्य सदृश वस्तु का निषेध किया जाता है। परन्तु कमल को कमल कहने से उपामानान्तरव्यवच्छेद से तात्पर्य नही। अत यहा अनन्वय अलकार नही।

विश्वनाथ ने लाटानुप्रास का अनन्वय से भेद बताते हुए इसी आवृत्ति का महत्त्व बताया है। उनका कथन है —

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।
अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम्॥

साहित्यदर्पण पृ० ५२०

लाटानुप्रास मे अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि भी होती है। 'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि' मे यह ध्वनि है। इसमे द्वितीय कमल शब्द शोभावत्त्वादि अर्थान्तर मे सक्रमित हो गया है। शोभावत्त्वादि द्वितीय कमल का लक्ष्यार्थ है और इसका व्यग्यार्थ है कमल का सार्थक होना। अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि उपादान लक्षणा पर आश्रित होती है। उपादान लक्षणा मे अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है।[1] 'कुन्ता प्रविशन्ति' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। अचेतन होने के कारण कुन्त का प्रवेश से सम्बन्ध नही। अत 'कुन्तयुक्ता' अर्थ का आक्षेप होता है। यह लक्ष्यार्थ है। इसका व्यग्यार्थ है पुरुषबाहुल्य। इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरण मे भी कमल शब्द लक्ष्यार्थ मे सक्रमित हो जाता है और उससे व्यग्यार्थ भी निकलता है। इतना होने पर भी यहा प्रधानता अलकार की है। ध्वनि उसकी उपकारक है। अत यह लाटानुप्रास का ही उदाहरण है।

---

१ स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थ स्वसमर्पणम्।
उपादान लक्षण चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥, काव्य प्रकाश सू० १३

अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि के उदाहरण निम्नलिखित हे:—

'त्वामस्मि वच्मि विदुषाम् समवायोऽत्र तिष्ठति ।'

काव्यप्रकाश पृ० ८३

'कुन्ता प्रविशन्ति' काव्यप्रकाश पृ० ४३

प्रथम उदाहरण मे 'वच्मि' उपदेशादि रूप मे परिणत हो जाता है तथा द्वितीय मे कुन्त शब्द कुन्तयुक्त पुरुष मे परिणत हो जाता है । इनके व्यग्यार्थ क्रमश 'हितमाधनत्व' तथा पुरुषबाहुल्य हे ।

इन उदाहरणो की तुलना 'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि' से करने पर परस्पर भेद स्पष्ट है । इन उदाहरणो मे चमत्कार केवल ध्वनि के कारण है, परन्तु 'रविकिरणा ' मे ध्वनि का सद्भाव होने पर भी यह कमल शब्द की आवृत्ति ही है जो चमत्कार का प्रधान कारण है ।

अन्वय की दृष्टि से 'यस्य न सविधे ' तथा 'रविकिरणा ·· ' की तुलना करने पर प्रतीत होगा कि पूर्व श्लोक मे समान शब्दो का पारस्परिक अन्वय भिन्न है ' यह अन्वय वाक्य के अन्य शब्दो के अन्वय पर निर्भर है । द्वितीय श्लोक मे अन्वय की दृष्टि से समान शब्दो (कमल) का वाक्य के भिन्न शब्दो से सम्बन्ध है ।

'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत ' इस परिभाषा के अनुमार लाटानुप्रास के लिए आवश्यक है कि अन्वय-सम्बन्ध को अभिधेय अर्थ मे भिन्न माना जाए । अभिहितान्वयवादी ऐसा ही मानते है। उनके अनुसार अभिधा शक्ति के द्वारा अन्वय का ज्ञान नही होता । इसके लिए एक अन्य वृत्ति की आवश्यकता है । यह तात्पर्यवृत्ति है ।[1] इसके द्वारा शब्दो के अन्वय का ज्ञान होकर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है । अत अभिहितान्वयवादियो के अनुसार लाटानुप्रास एक पृथक् अलकार माना जा सकता है । यदि अन्वय की पृथक् मत्ता न मानकर उसे अभिधेय अर्थ के ही अन्तर्गत कर लिया जाए तो यह अलकार सम्भव नही । उम दशा मे शब्दो का असम्बद्ध रूप मे अर्थ प्रतीत न होकर अन्वित रूप मे होगा । यही अन्वित अर्थ उनका अभिधेय अर्थ होगा। ऐसा नही कि पदो के

---

१ विशेष विवेचन के लिए देखिए काव्यप्रकाश टीका पृ० २५

पृथक् पृथक् अर्थ निकले और बाद मे अन्वय के आधार पर उनको सम्बद्ध किया जाए। इस प्रकार इस दशा मे 'भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थक' शब्दावृत्ति कहना सम्भव नही होगा। यह तो तभी हो सकता है जब अन्वय पर आश्रित तात्पर्यार्थ अभिधेय से अतिरिक्त हो। अन्विताभिधानवादियो का यही मत है।[1] इनके अनुसार अन्वित शब्दो का ही अर्थ निकलता है। अत अन्वय-ज्ञान के लिए किसी भिन्न व्यापार को मानने की आवश्यकता नही। इस प्रकार अन्वित अर्थ को अभिधेय अर्थ मानने से लाटानुप्रास मे प्रयुक्त समान शब्दो का अर्थ भिन्न हो जाएगा। उन्हे भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थक न कहकर भिन्नार्थक कहना होगा। यह भिन्नार्थकत्व तो यमक मे भी होता है। इस प्रकार लाटानुप्रास का यमक मे कोई भेद न होगा।

अन्विताभिधानवादियो का उपर्युक्त मत समीचीन नही। 'गामानय' इस वाक्य मे अन्वित 'गाम्' शब्द के अर्थ का ज्ञान होने पर भी इस 'गाम्' शब्द का प्रयोग जब अन्य वाक्य मे किया जाएगा तब यह जानने की आवश्यकता बनी ही रहेगी कि इस शब्द का किस शब्दविशेष से सम्बन्ध है। इस शब्द का अन्य शब्द से सम्बन्ध है केवलमात्र इतने से काम नही चल सकता। यह ज्ञान भी चाहिए कि वह शब्द कौनसा है जिससे इसका सम्बन्ध है। इसी आधार पर उद्योतकार ने इस मत का खण्डन किया है।[2]

अन्विताभिधानवादी व्यवहार का आश्रय लेकर कहते है कि बालक को वाक्यार्थ के रूप मे ही अर्थज्ञान होता है, पृथक् पृथक् शब्दार्थ के रूप मे नही। अत अन्वय के पृथक् ज्ञान की आवश्यकता नही। परन्तु हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि श्लोकादि के अर्थज्ञान के लिए हमे ज्ञान की दो प्रक्रियाओ मे से होना पडता है। पहली प्रक्रिया पृथक् पृथक् शब्दार्थज्ञान की है तथा दूसरी उनके अन्वयज्ञान की है। हमे प्राय पृथक् पृथक् शब्दो का अर्थ ज्ञात होता है परन्तु श्लोक के अर्थ का ज्ञान इसीलिए नही होता क्योकि

---

१ 'वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिन '—काव्यप्रकाश पृ० २७

२ ' अन्वितत्वेन शक्तावपि अन्वयविशेषभानायाकाङ्क्षादिकमवश्य कारण वाच्यम्। एव च विशेषरूपेणाशक्यस्यैव भानमिति त्वयाप्यवश्य वाच्यमिति।'

उद्योत

काव्यप्रकाश टीका पृ० २७

उनके अन्वय का हमे ज्ञान नही। आरम्भ मे व्यक्ति को शब्दार्थज्ञान किसी प्रकार ही हो ज्ञान की विकासशील स्थिति मे अन्वय का पृथक् ज्ञान मानना ही पडेगा।

अत अभिहितान्वयवादियो का मत समीचीन है और लाटानुप्रास जो अन्वयज्ञान की पृथक् सत्ता पर आश्रित है एक पृथक् अलकार है।

आलकारिको ने नाम तथा पद के आधार पर इस अलकार के भेद किये है। नाम प्रत्ययरहित होता है। इसे प्रातिपदिक कहते है। पद प्रत्यय-युक्त होता है। ये प्रत्यय सुप् तथा तिङ् के रूप मे होते है। नाम मे स्थित लाटानुप्रास नामगत कहलाता है तथा पद मे स्थित पदगत कहलाता है। मम्मट का लाटानुप्रास का भेद इसी प्रकार का है। पद के फिर दो भेद किए गए हैं। एक पद तथा अनेक पद। इस प्रकार पदगत लाटानुप्रास दो प्रकार का होता है। नाम की सत्ता समास मे ही सम्भव है। अत समासभेद के आधार पर इसके भेद किए गए है। ये नाम एक समास मे हो सकते है अथवा भिन्न समासो मे अथवा समास एव असमास मे।[1] इनमे मम्मट के पहले दो भेद तो नामगत कहे जा सकते है परन्तु समास एव असमास वाले (वृत्त्यवृत्तिगत) भेद को नामगत कहना उचित नही। समासगत शब्द को तो नाम कहा जा सकता है परन्तु असमासगत शब्द नाम न होकर पद होगा। यदि पद मे नाम की सत्ता मानकर नामगत लाटानुप्रास कहा जाता है तब तो प्रत्येक पद मे नाम की सत्ता होने के कारण समस्त पदगत लाटानुप्रास नामगत लाटानुप्रास बन जाएगे। अत वृत्त्यवृत्तिगत लाटानुप्रास को नामगत कहना उचित नही। अत मम्मटादि का लाटानुप्रास का वर्गीकरण उचित नही। नाम तथा पद के आधार पर लाटानुप्रास के भेद न करके स्वतन्त्र पद तथा परतन्त्र पद के आधार पर भेद करना उचित होगा। समासगत पद परतन्त्र होगा तथा असमस्त पद स्वतन्त्र होगा। समासगत पद तथा असमस्त पद दोनो मिलकर स्वतन्त्रपरतन्त्र पद कहलाएगे। इस प्रकार लाटानुप्रास के तीन भेद हो जाएगे–स्वतन्त्रपदाश्रय, परतन्त्रपदाश्रय तथा स्वतन्त्रपरतन्त्रपदाश्रय। उद्भट ने लाटानुप्रास का विभाजन इसी प्रकार किया है। इन भेदो के उन्होने फिर अन्य भेद किये हैं। स्वतन्त्रपदाश्रय के दो भेद किए है—एकैकपदाश्रय तथा

---

१ वृत्तौ अन्यत्र तत्र वा। नाम्न. स वृत्त्यवृत्त्योश्च। काव्यप्रकाश सू० ११५

पदसमुदायाश्रय । परतन्त्रपदाश्रय के भी दो भेद किए है —एकपदाश्रय, पदद्वितयाश्रय। इस प्रकार इनके अनुसार लाटानुप्राम के कुल पाँच भेद है।[1] मम्मट के अनुसार भी इसके कुल पाच भेद होते है परन्तु दोनो के विभाजन प्रकारो मे साधारण अन्तर है।



१. एवमय पञ्चविधो लाटानुप्रास प्रतिपादित.। स्वतन्त्रपरतन्त्राणा तस्य प्रत्येक द्विभेदत्वात् स्वतन्त्रपरतन्त्रयोश्च समुदितयोरेकप्रकारत्वात्। लघुवृत्ति पृ० १०

शब्दालंकारों की प्राचीनता का कारण

शब्दालङ्कारो की उत्पति उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन कविता की उत्पत्ति है। इसका कारण यह है कि कविता के विषय तथा शब्दालङ्कारो के विषय मे एक नियत सम्बन्ध है। कविता का विषय हृदय की अनुभूति होता है तथा शब्दालङ्कारो का विषय उच्चारण का सादृश्य-विधान है। हृदय की अनुभूति तथा उच्चारण के सादृश्यविधान मे गहरा सम्बन्ध है। हृदय की अनुभूति की अवस्था मे समस्त स्नायुमण्डल तदनुकूल रूप धारण करता है और फलत उच्चरित भाषा मे एक साम्य होता है। स्नायुमण्डल की समान अवस्था मे उच्चरित भाषा का जो स्वरूप होता है उसमे एक साम्य होना स्वाभाविक है।

हृदय की अनुभूति की अवस्था मे समस्त स्नायुमण्डल झकृत हो जाता है। अत इस स्थिति मे उच्चरित भाषा मे एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह एक प्रकार का साम्य ही है। कविता मे छन्दो का जो विधान है वह इसी तथ्य का परिचायक है। छन्दो मे स्वरो के आरोहावरोह का ध्यान रखा जाता है।। स्वरो के इस आरोहावरोह के फलस्वरूप भाषा मे एक प्रवाह आ जाता है।

अनुभूति के समय कवि के हृदय की अवस्थाए प्रधानत दो प्रकार की होती है। ये है उल्लास तथा विह्वलता। कवि जब उल्लसित होता है तब वह गाता है और जब विह्वल होता है तब रोता है। इस प्रकार इन अवस्थाओ मे उसकी भाषा मे एक लय तथा साम्य होते है। भाषा का यह साम्य चित्तवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम होता है। इसके लिए पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नही। जो साम्यविधान पृथक् प्रयत्न का परिणाम होता है वह प्रस्तुत चित्तवृत्ति के अनुकूल न होने के कारण अनुचित होता है।

कवि की अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होती है उतना ही अधिक उसकी भाषा मे साम्य होता है। यही कारण है कि स्तोत्रो मे जहा कवि की तन्मयता चरम सीमा को पहुँच जाती है हमे भाषा मे अत्यन्त साम्य देखने को मिलता है।

ऋग्वेद में शब्दालंकार

अनुभूति तथा उच्चारण-साम्य मे इस नियत सम्बन्ध के फलस्वरूप हमे ऋग्वेदकालीन कविता मे भी भाषा के सादृश्यविधान तथा उसके कतिपय स्वरूप शब्दालङ्कारो के दर्शन होते हे । ऋग्वेद मे छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग अनेक स्थलो पर हुआ है —

'परा हि मे विमन्यव' पतन्ति वस्य इष्टये ।
वयो न वसतीरुप' ॥ १ । २५ । ४

'अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वा अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा' ॥ १ । २५ । ११

न य दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम् ।
न देवमभिमातय' ॥ १ । २५ । १४

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानव मुसदृश सुप्रतीकस्य सुद्युत- ।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजरा ॥
१ । १४३ । ३

प्रेहि प्रेहि पथिभि पूर्व्येभिर्यत्रा न पूर्वे पितर परेयु । १० । १४ । ७

शब्दो की आवृत्ति भाषा के सादृश्य के अन्तर्गत आती है । इस आवृत्ति का ऋग्वेद मे अनेक स्थलो पर प्रयोग हुआ हे । इससे अर्थ मे एक विशेष चमत्कार आ गया है ।

वेदा यो वीना पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नाव समुद्रिय ॥ १ । २५ । ७

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत ।
वेदा य उपजायते ॥ १ । २५ । ८

यहा 'वेद' शब्द की आवृत्ति हुई । इससे ज्ञान का आधिक्य व्यक्त होता है ।

य पृथिवी व्यथमानामदृह-
द्य पर्वतान्प्रकुपितान् अरम्णात् ।

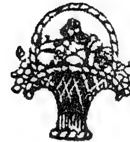
यो अन्तरिक्ष विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्र ॥ २ । १२ । २

यहा 'य' की आवृत्ति हुई है। इससे इन्द्र के भिन्न भिन्न रूप क्रमशः हमारे सम्मुख आते है।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १० । ९० । १

यहा 'सहस्र' शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे शीर्ष आदि के बाहुल्य के साथ साथ उनकी सख्या मे समानता प्रतीत होती है।

उपर्युक्त उदाहरणो मे आवृत्ति से जो चमत्कार उत्पन्न होता है उसमे आवृत्ति के साथ साथ आवृत्त शब्द का अर्थ भी जुडा हुआ है। अर्थज्ञान से रहित आवृत्तिमात्र यहा चमत्कार की जनक नही हो सकती। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणो मे चमत्कारोत्पत्ति के लिए उच्चारणसाम्य तथा उच्चरित शब्दो के अर्थ इन दोनो के ज्ञान की अपेक्षा है।



रामायण एवं महाभारतः—

रामायण तथा महाभारत मे प्राय सभी प्रकार के अनुप्रासो का प्रयोग हुआ है ।

तप स्वाध्यायनिरत तपस्वी वाग्विदा वरम् ।
नारद परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ बाल काण्ड

एव दत्त्वा सुता सीता मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ।
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुत ॥ ,,

सर्वे भवन्तस्सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रता ।
पत्नीभिस्सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्यय ॥ ,,

कृष्ण कमलपत्राक्ष कमकालियसूदन । आदि पर्व

प्रथम श्लोक मे तकार तथा वकार की सकृत् आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है। इसी प्रकार द्वितीय श्लोक मे भी सकार की सकृत् आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है । तृतीय तथा चतुर्थ श्लोको मे क्रमश स तथा क की असकृत् आवृत्ति है। अत वहा वृत्त्यनुप्रास है।

रामायण तथा महाभारत मे प्राय शब्दो की आवृत्ति हुई है तथा उसमे अर्थ मे चमत्कार आ गया है । इस आवृत्ति के स्वरूप तथा उस आवृत्ति से निकलने वाले अर्थ के प्रकार की दृष्टि से अनेक भेद सम्भव है। आवृत्ति के प्रकार की दृष्टि से प्रधानत तीन भेद सम्भव है। कभी कभी समस्त आवृत्त शब्द स्वतन्त्र होते है, कभी कभी उनमे से एक अथवा अधिक स्वतन्त्र होते हे तथा अन्य समास के अग होने के नाते परतन्त्र होते है। कभी कभी वे सब समास के अग होने के नाते परतन्त्र होते हे।

निम्नलिखित उदाहरणो मे आवृत्त शब्द स्वतन्त्र है.—

'एष विग्रहवान धर्म एष वीर्यवता वर ।
एष बुद्ध्याऽधिको लोके तपसश्च परायणम् ॥' बालकाण्ड

'भवान् पिता भवान् माता भवान्न परमो गुरु ।
तस्मात्स्वय कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥' आदि पर्व

प्रथम श्लोक मे 'एप' की आवृत्ति हुई है। इससे राम के भिन्न भिन्न स्वरूप क्रमश हमारे सम्मुख आते है। द्वितीय श्लोक मे 'भवान्' शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे भीष्म को क्रमश भिन्न भिन्न रूपो मे चित्रित किया गया है।

निम्नलिखित उदाहरणो मे आवृत्त शब्दो मे से एक शब्द स्वतन्त्र है तथा अन्य परतन्त्र है —

'गच्छता मातुलकुल भरतेन तदाऽनघ ।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीत' प्रीतिपुरस्कृत ॥' अयोध्या काण्ड

"तथोक्तवति सा काले वायुमेवाजुहाव ह ।
तस्या जज्ञे महावीर्यो भीमो भीमपराक्रम ॥" आदि पर्व

प्रथम उदाहरण मे 'शत्रुघ्न' शब्द की आवृति हुई है। इसमे प्रथम शत्रुघ्न शब्द स्वतन्त्र है तथा द्वितीय परतन्त्र है। आवृत्ति के कारण यहा शत्रुघ्न के नाम की अन्वर्यता व्यक्त होती है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण मे भीम शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे भीम के नाम की अन्वर्यता व्यक्त होती है।

इन उदाहरणो मे शब्दो की आवृत्ति चमत्कारोत्पत्ति का आवश्यक अग है। शत्रुघ्न तथा भीम के नामो की अन्वर्थता-प्रतीति के लिए इतना ही पर्याप्त नही कि उनमे विद्यमान गुणो का निर्देश कर दिया जाए परन्तु यह भी आवश्यक है कि यह निर्देश उन्ही शब्दो के द्वारा हो।

निम्नलिखित उदाहरणो मे आवृत्त शब्द परन्त्र हे —

'ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम् ।
प्रादुर्भूत महद्भूत महावीर्य महाबलम् ॥ बालकाण्ड

कृतदारा कृतास्त्राश्च सधनास्ससुहृज्जना । बालकाण्ड

अथाम्बिकेयस्सामात्य सकर्णस्सहसौबल ।
सात्मज पार्थनाशस्य स्मरस्तथ्य जहर्ष ह ॥ आदि पर्व

उपर्युक्त श्लोको मे महत्, कृत आदि शब्द समास के अग होने के नाते परतन्त्र हे। प्रथम श्लोक मे महत् की आवृत्ति हुई है। इससे महत्ता का उत्कर्ष व्यक्त होता है। द्वितीय उदाहरण मे कृत तथा सह की आवृत्ति हुई है। समास मे होने के कारण सह का स रह गया है। इस आवृत्ति से समृद्धि का आधिक्य व्यक्त होता है। तृतीय उदाहरण मे भी यह बात है।

आवृत्ति से व्यक्त अर्थ की दृष्टि से आवृत्ति अनेक प्रकार की हो सकती हैं। विश्वनाथ ने इस दृष्टि से आवृत्ति अथवा कथितपद का निरूपण किया है।[१] रामायण तथा महाभारत मे आवृत्ति से व्यक्त होने वाले अर्थ अनेक प्रकार के हे। ये क्रमिक विभिन्नरूपमम्पन्नता, उत्कर्ष, अनुकूलता, सार्थकता आदि है।

निभिन्नरूपसम्पन्नता की व्यक्ति की दशा मे विशेष्य की आवृत्ति होती है। 'एष विग्रहवान् धर्म ''भवान् पिता ' आदि पूर्वोक्त श्लोको मे यही बात हे। इन मे 'एष' 'भवान्' आदि विशेष्य है।

उत्कर्ष की व्यक्ति की दशा मे विशेषणो की आवृत्ति होती है। 'प्रादुर्भूत महद्भूत ' 'कृतदारा ' 'अथाम्बिकेयस्सामात्य: ' आदि श्लोको मे यही बात हैं।

कभी कभी आवृत्त विशेषणो मे से एक के साथ निषेधभाव जोडकर प्रत्येक अवस्था की व्यक्ति की जाती है —

कृतास्त्रमकृतास्त्र वा नैन शक्ष्यन्ति राक्षसा ।
गुप्त कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृत यथा ।। बालकाण्ड

यहा अकृतास्त्र कृतास्त्र का सर्वथा विपरीत है। इससे यह व्यक्त होता हे कि राम ऐसी अवस्था मे हो अथवा इसके सर्वथा विपरीत अवस्था मे हो अर्थात् वे किसी भी अवस्था मे क्यो न हो राक्षस इनका सामना नही कर मकते।

अनुकूलता, सार्थकता आदि की व्यक्ति की दशा मे आवृत्त शब्दो मे से एक शब्द विशेषण अथवा धर्म होता है तथा अन्य विशेष्य अथवा धर्मी होता है। 'शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो ' 'तस्या जज्ञे महावीर्यो भीमो भीम-पराक्रम' इन उदाहरणो मे यही बात है। इनमे प्रथम शत्रुघ्न तथा भीम शब्द विशेष्य है तथा द्वितीय शत्रुघ्न तथा भीम शब्द विशेषण के अग है।

---

१ कथित च पद पुन । विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि । दैन्येऽथ लाटाप्रासेऽनुकम्पाया प्रसादने । अर्थान्तरसक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे । गुण इत्येव । यथा साहित्यदर्पण पृ० ४३३

काव्यकाल में शब्दालंकार

काव्यकाल के पूर्ववर्ती कवियो तथा काव्यकालीन कवियो मे शब्दालकारो का स्थान स्थान पर प्रयोग हुआ है। प्राय सभी प्रकार के अनुप्रास प्रयुक्त हुए हे। अश्वघोष, कालिदास आदि पूर्ववर्ती कवियो मे इनका प्रयोग सीमित है। तथा माघ, हर्ष आदि काव्यकालीन कवियो मे इनका प्रयोग प्रचुर है। एक प्रकार से कालक्रम के अनुसार इन अलकारो के प्रयोग मे हमे विकास देखने को मिलता है।

अश्वघोष ने निम्नलिखिति श्लोक मे वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग किया है—
'केचिद्भुजगै सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन'। बुद्धचरित ७। २५

निम्नलिखित श्लोक मे अन्त्यानुप्रास का प्रयोग है—
'स्निग्धाभिराभिर्हृदयगमाभि समासत स्नात इवास्मि वाग्भि'।
—बुद्धचरित ७। ४६

कालिदास ने छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास अन्त्यानुप्रास का स्थान स्थान पर प्रयोग किया है—

'अथ प्रजानामधिप प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सा यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥'
—रघुवश १। १२

'पुरन्दरश्री पुरमुत्पताक प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमान।
भुजे भुजगेन्द्रसमानसारे भूय स भूमेर्धुरमाससञ्ज॥'
—रघुवश २। ७४

'विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमा पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्द वयसा विरावै॥' रघुवश २। ९

प्रथम श्लोक की प्रथम पक्ति मे 'प्र' की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है तथा द्वितीय पक्ति मे 'प्र' की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है। द्वितीय श्लोक की प्रथम पक्ति मे 'भ' की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है। तृतीय श्लोक मे आद्य स्वर अ के साथ स्य की पद तथा पाद के अन्त मे आवृत्ति होने के कारण पदान्त तथा पादान्त अन्त्यानुप्रास है।

कालिदास ने वर्णध्वनि का पूर्ण ध्यान रखा है। ओजोवर्णन के अवसर पर कठोर वर्णो का तथा माधुर्यवर्णन के अवसर पर कोमल वर्णो का प्रयोग करके उन्होने भाव तथा भाषा मे एक सामञ्जस्य स्थापित किया है –

'बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भि· ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्य ॥'

रघुवश २ । ३२

'एकातपत्र जगत प्रभुत्व नव वय कान्तमिद वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम् ।'

—रघुवश २ । ४७

प्रथम श्लोक मे ओजोवर्णन के अनुकूल कठोर वर्णो का प्रयोग हुआ है। यहा सयुक्त वर्ण द्ध तथा अन्य वर्ण श, ष्, ट् आदि कठोरता के प्रतीक है। इसके अतिरिक्त दीर्घ समास का प्रयोग भी ओजस् की अभिव्यक्ति मे साहयक है। द्वितीय श्लोक की प्रथम पक्ति मे क्रमश कठोरता तथा कोमलता की अभिव्यक्ति हुई है। इस पक्ति के प्रथम चरण मे कठोरता के अनुरूप कठोर वर्णो का तथा द्वितीय चरण मे कोमलता के अनुरूप कोमल वर्णो का प्रयोग हुआ है। इस पक्ति के पठन अथवा श्रवणमात्र से क्रमश इन कठोर तथा कोमल भावो का पता चल जाता है।

भवभूति इस वर्णध्वनि के चित्रण मे अत्यन्त सिद्वहस्त हे। उनका 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' श्लोक इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक स्थलो पर उन्होने इस वर्णध्वनि का चित्रण किया है। एक ही श्लोक मे चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ उन्होने भाषा मे परिवर्तन करके भाव तथा भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है —

भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष मे इन अलकारो का प्रचुर प्रयोग हुआ है –

'भवादृशेषु प्रमदाजनोदित भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथापि वक्तु व्यवसाययन्ति मा निरस्तनारीसमया दुराधय ॥'

किरात १ । २८

'निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसितागसगिना ।
चकासत चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥' माघ १ । २८

गद्य काव्य:--

सस्कृत के गद्य काव्यो मे इन अलकारो का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उच्चारण-साम्य, प्रवाह, लय आदि कविता की जो विशेषताए होती है वे सब इनमे विद्यमान है। यही कारण है कि गद्यग्रन्थ काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते है। यही नही, सस्कृत गद्य की इन विशेषताओ को देखकर आलोचको ने यहा तक कह दिया कि गद्य कवियो की कसौटी है।[१]

दशकुमारचरित के रचयिता दण्डी वर्णो के सादृश्यविधान के लिए सुप्रसिद्ध हे। इन्होने अधिकतर कोमल वर्णो का प्रयोग किया है। इन कोमल वर्णो के सादृश्यविधान के फलस्वरूप उनकी भाषा मे लालित्य, सगीत का माधुर्य तथा प्रवाह देखने को मिलता है। 'दण्डिनस्तु पदलालित्यम्' यह उक्ति उपर्युक्त कथन की समर्थक है। निम्नलिखित उदाहरण मे पदो का अपूर्व लालित्य है —

''विरोधिदैवधिक्कृतपुरुषकारो दैन्यव्याप्ताकारो मगधाधिपतिरधिकाविरमात्यसमत्या मृदुभाषितया तया वसुमत्या मत्या कलितया च समबोधि।''

—दशकुमार चरित पृ० ११

यहा कोमल वर्णो तथा स्वरो के सादृश्यविधान के द्वारा भाषा मे सगीत का सा प्रवाह है।

प्रसिद्ध गद्यलेखक बाण भी भाषा के सादृश्यविधान के लिए प्रसिद्ध है। इस सादृश्यविधान के फलस्वरूप उनकी भाषा मे प्राय सभी प्रकार के अनुप्रासो का प्रयोग हुआ है —

'आसीदशेषनरपतिशिर समभ्यर्चितशासन पाकशासन इवापरश्चतुरुदधिमालामेखलाया भुवो भर्ता प्रतापानुरागावनतसमस्तसामन्तचक्र • कर्ता महाश्चर्याणामाहर्ता क्रतूनामादर्श सर्वशास्त्राणामुत्पत्ति कलाना कुलभुवन गुणानामागम काव्यामृतरमानामुदयशैलो मित्रमण्डलस्योत्पातकेतुरहितजनस्य प्रवर्तयिता गोष्ठीबन्धानामाश्रयो रसिकाना प्रत्यादेशो धनुष्मता धोरेय साहसिकानामग्रणीर्विदग्धाना वैनतेय इव विनतानन्दजननो वैन्य इव चापकोटिसमुत्सारितसकलारातिकुलाचलो राजा शूद्रको नाम।'

—कादम्बरी पृ० ८—१०

---

१ 'गद्य कवीना निकष वदन्ति'।

यहा 'मालामेखलाया' 'भुवो भर्ता' तथा 'समस्तसामन्तचक्र ' मे क्रमश· मकार, भकार तथा सकार की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है। इससे उच्चारण मे एक साम्य की प्रतीति होती है। 'महाश्चर्याणाम्, क्रतूना, शास्त्राणा, कलाना, गुणाना तथा रसानाम् मे प्रत्येक के अन्त मे आनाम् का सन्निवेश करके साम्य उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार मित्रमण्ड लस्य तथा अहितजनस्य मे से प्रत्येक के अन्त मे अकार के बाद स्य का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग अन्त्यानुप्रास के अन्तर्गत आते हे। गोष्ठीबन्धाना, रसिकाना आदि मे भी यही बात है। 'वैनतेय इव विनतानन्दजननो' तथा 'समुत्सारितसकलाराति' मे क्रमश वकार तथा सकार की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है। इस प्रकार स्वरो एव वर्णो के सादृश्यविधान के द्वारा उपर्युक्त गद्याश मे अपूर्व भाषा-सौष्ठव प्रतीत होता हे।

बाण ने स्वरो एव वर्णो के इस साम्य के अतिरिक्त वाक्यो एव वाक्याशो के विन्यास मे भी एक साम्य उपस्थित किया है। जहा उन्होने दीर्घ वाक्यो का प्रयोग किया है वहा उनके प्राय सभी वाक्य दीर्घ एव समासयुक्त मिलेगे। परन्तु जहा छोटे वाक्यो का प्रयोग हुआ है वहा प्राय सभी वाक्य छोटे तथा समासविहीन अथवा अल्पसमासयुक्त मिलेगे। यही बात वाक्याशो के प्रयोग पर चरितार्थ होती है। वाक्यो एव वाक्याशो की इस एकरूपता के फलस्वरूप उनकी भाषा मे एक साम्य तथा प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है —

'क्व ते तद्धैर्यम्। क्वासाविन्द्रियजय। क्व तद्वशित्व चेतस। क्व सा प्रशान्ति। क्व तत्कुलक्रमागत ब्रह्मचर्यम्। · · । सर्वथा निष्फला प्रज्ञा। निर्गुणो धर्मशास्त्राभ्यासो, निरर्थक· सस्कारो निरुपकारको गुरूपदेश-विवेको निष्प्रयोजना प्रबुद्धता निष्कारण ज्ञान यदत्र भवादृशा अपि रागाभिषगै कलुषीक्रियन्ते प्रमादैश्चाभिभूयन्ते'।

यहा छोटे वाक्यो तथा वाक्याशो का प्रयोग हुआ है और फलत भाषा मे एक प्रवाह आ गया है।

गीतगोविन्द:—

भाषा के साम्यविधान की दृष्टि से जयदेव के गीतगोविन्द का विशिष्ट स्थान है। इसमे स्वरो एव वर्णो का ऐसा अद्भुत साम्य है कि समस्त

श्लोक एक ही ध्वनि की शृङ्खला प्रतीत होता है। भाषा के इस साम्य-विधान के अतिरिक्त इसमे भावो एव भाषा की अनुरूपता का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। भाषा एव भावो मे ऐमा मञ्जुल सामञ्जस्य है कि भाषा के श्रवणमात्र से भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है—

'ललितलवगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुजकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यनि युवतिजनेन सम सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥' गीतगोविन्द

यहा कोमल वर्णो के सादृश्यविधान के द्वारा कोमल अथवा मधुरभाव की स्वत अभिव्यक्ति हो रही है। यहा हरि के विहार तथा नृत्य का मधुर वर्णन किया गया है। यह माधुर्य अर्थ तक ही सीमित नही अपितु भाषा मे भी यह ओतप्रोत है। यहा केवल हरि ही नृत्य नही कर रहे हे अपितु उनके नृत्य की अभिव्यञ्जक भाषा भी नृत्य कर रही है।

जयदेव ने अपने गीतगोविन्द मे सरस एव कोमल भावो की अभिव्यञ्जना की है। अत उनकी भाषा मे तदनुकूल सरसता एव कोमलता दृष्टिगोचर होती है। जयदेव अपनी कोमलकान्त पदावली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हे। उनका निम्नलिखित श्लोक उन पर सर्वथा चरितार्थ होता है—

'यदि हरिस्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलि शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥'

गीतगोविन्द

उनके श्लोको मे छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास आदि विभिन्न अनुप्रासो का जो सुन्दर प्रयोग हुआ है वह भाषा एव भावो की इस अनुरूपता का स्वाभाविक परिणाम है।

स्तोत्र साहित्य:—

स्तोत्रसाहित्य मे भाषा एव भावो की अनुरूपता तथा भाषा का सादृश्य-विधान अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। स्तोत्रो की अभिव्यक्ति कवि की मार्मिक अनुभूति तथा तन्मयता के परिणाम है। इस अनुभूति तथा तन्मयता के समय कवि के हृदय मे केवल एक ही भावना रहती है और

वह है अपने आराध्यदेव के प्रति भक्ति की तीव्रता । भक्ति की यह तीव्रता यद्यपि आराध्य देव की महत्ता से उत्पन्न होती है और इस महत्ता के कतिपय कारण भी हे परन्तु कवि का उद्देश्य इन कारणो के आधार पर आराध्यदेव की महत्ता का प्रतिपादन करना न होकर केवल अपने भावो के वेग के लिए अनुरूप भाषा ढूढना होता है । इस भाषा मे यद्यपि महत्ता के कारण भी प्रसगवश आ जाते है परन्तु वे केवल गौण होते हे । कवि का प्रधान उद्देश्य अपने समस्त भाषण-अवयवो को हृदय की अनुभूति के अनुरूप बनाकर उस अनुभूति को भाषण-अवयवो के माध्यम के द्वारा प्रवाहित करना होता है । ऐसी दशा मे स्वरो एव वर्णो का आरोहावरोह एव साम्यविधान स्वाभाविक है ।

कवि जहा अपने आराध्यदेव के कोमल रूप का वर्णन करता है वहा उसकी भाषा भी कोमल एव मधुर होती है परन्तु जहा वह अपने आराध्य देव के ओजस्वी रूप का वर्णन करता है वहा उसकी भाषा कठोर एव परुष होती है । निम्नलिखित उदाहरण मे कठोर भाषा का प्रयोग इसी बात को लक्ष्य करके हुआ है —

'जयत्वदभ्रविभ्रमभ्रमद्भुजगमस्फुरद्धगद्धगद्विनिर्गमत्करालभालहव्यवाट् ।
धिमिद्धिमिद्धिमिध्वनन्मृदङ्गतुङ्गमगलध्वनिक्रमप्रवर्तितप्रचण्डताण्डव शिव ।'

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० १७३

स्तोत्रसाहित्य मे भाषा के साम्यविधान के फलस्वरूप छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास आदि प्राय सभी शब्दालकारो का प्रयोग हुआ है –

''गोविन्द गोकुलानन्द गोपाल गोपिवल्लभम् । गोवर्धनोद्धर धीर त वन्दे गोमतीप्रियम् ॥

नारायण निराकार नरवीर नरोत्तमम् । नृसिह नागनाथ च त वन्दे नरकान्तकम् ॥'' —स्तोत्ररत्नाकर पृ० ८९

यहा प्रथम श्लोक मे ग की तथा द्वितीय श्लोक मे न की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास हे । प्रथम श्लोक मे ग के साथ ओ की भी आवृत्ति हुई है । इतना ही नही इन दोनो श्लोको के प्राय· प्रत्येक पद के अन्त मे अनुस्वार का विधान करके उच्चारण-साम्य मे और अधिक वृद्धि की गई हे । प्रत्येक श्लोक के अन्तिम पद से पूर्व 'त वन्दे' का प्रयोग भी

सादृश्यविधान मे सहायक है। इस प्रकार यह समस्त स्तोत्र सादृश्यो एव अन्त सादृश्यो की एक सुन्दर शृङ्खला है।

अन्त्यानुप्रास का स्तोत्रसाहित्य मे स्थान स्थान पर सुन्दर प्रयोग हुआ है —

'नित्यानन्दकरी परा भयकरी सौन्दर्यरत्नाकरी निर्धूताखिलघोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी । प्रालेयाचलवंशपावनकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षा देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥' —स्तोत्ररत्नाकर पृ० ६४-६७

'विश्वेश्वराय नरकार्णवतारणाय कर्णामृताय शशिशेखरधारणाय। कर्पूर-कान्तिधवलाय जटाधराय दारिद्र्यदु खदहनाय नम शिवाय ॥
—स्तोत्ररत्नाकर पृ० १८३-१८४

प्रथम स्तोत्र मे अ के बाद री की आवृत्ति से तथा द्वितीय स्तोत्र मे आ के बाद य की आवृत्ति से उच्चारण की दृष्टि से एक सुन्दर साम्य उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त प्रथम स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक के अन्त मे 'भिक्षा देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी' का सन्निवेश तथा द्वितीय स्तोत्र मे प्रत्येक श्लोक के अन्त मे 'दारिद्र्यदु खदहनाय नम शिवाय' का सन्निवेश भी इन स्तोत्रो मे विद्यमान उच्चारण-साम्य मे सहायक है।

इन स्तोत्रो मे कही कही पाद अथवा पद के अन्त मे व्यञ्जनसहित स्वर की आवृत्ति न होकर केवल स्वर की आवृत्ति हुई है। यह आवृत्ति भी साम्यविधान मे सहायक है —

'नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वरूपे। नमस्ते जगद्वन्द्यपादारविन्दे नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ •• ॥"
—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ५३

इस स्तोत्र मे यही बात है।

स्तोत्रसाहित्य मे कतिपय स्तोत्र आराध्य देव के प्रति भक्तिभावना के फलस्वरूप अभिव्यक्त न होकर ज्ञानस्थिति के अनुभूतिरूप मे परिणत होने के फलस्वरूप अभिव्यक्त हुए है। वेदान्तस्तोत्र इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते है। इनमे भी स्तोत्रो की उपर्युक्त सामान्य विशेषताए मिलती है।

श्रीमच्छङ्कराचार्य के निम्नलिखित स्तोत्र से यह स्पष्ट है —

"भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमते ।
दिनमपि रजनी साय प्रात शिशिरवसन्तौ पुनरायात ।
काल क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायु । भज गोविन्द० ॥"

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ४१२-४१५ ।

यहाँ शब्दो की आवृत्ति तथा अन्त्यानुप्रास का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।



अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में शब्दालंकारों का विकास

अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थो मे भरतमुनि का नाट्यशास्त्र सबसे प्राचीन है। इस ग्रन्थ मे शब्दालङ्कारो मे केवल यमक का निरूपण है। इससे हम यही अनुमान लगाते हे कि यमक से आरम्भ होकर शब्दालङ्कारो का क्रमिक विकास हुआ।

यमक की परिभाषा नाटयशास्त्र मे निम्न प्रकार मे की गई है —

"शब्दाभ्यास यमकम्" ॥

इस परिभाषा मे केवल उच्चारणसाम्य की ओर सकेत है। परन्तु इस परिभाषा के लिए जो उदाहरण दिए गए हे उनमे मे अनेक मे हमारा ध्यान अशत अर्थचमत्कार की ओर भी जाता है। इस अर्थतत्त्व को परिभाषा का अङ्ग नही बनाया गया है। यह अर्थतत्त्व यमक के उदाहरणो मे दो रूपो मे मिलता है—अर्थसादृश्य के रूप मे तथा अर्थवैषम्य के रूप मे। निम्नलिखित उदाहरण मे अर्थतत्त्व का प्रथम रूप है —

केनकीकुमुमपाण्डुरदन्त, शोभते प्रवरकाननहस्ती।
केनकीकुमुमपाण्डुरदन्त, शोभते प्रवरकाननहस्ती ॥

—नाटयगास्त्र १७–७०।

निम्नलिखिन उदाहरण मे अर्थतत्त्व का द्वितीय रूप है —

फुल्ले फुल्ले सभ्रमरे वाभ्रमरे वा
रामा रामा विस्मयते च स्मयते च।

नाटयगास्त्र १७–६८।

नाटयशास्त्र मे यमक के अनेक उदाहरणो मे अर्थगत इस आशिक चमत्कार का होना स्वाभाविक है। इसका कारण यह है कि जहा उच्चारण-सादृश्य होता है वहा अनेक दशाओ मे अर्थगत आशिक चमत्कार भी सम्भव है। यदि उच्चारणसादृश्य का चेत्र एक आध व्यञ्जन की आवृत्ति

तक सीमित रहे तब तो हमारा ध्यान केवल उच्चारणसादृश्य तक सीमित रहता है परन्तु उस क्षेत्र मे यदि स्वरो एव व्यञ्जनो के समुदाय की आवृत्ति आ जाए तो हमारा ध्यान अर्थगत चमत्कार की ओर भी जा सकता है। स्वरो एव व्यञ्जनो के समुदाय की आवृत्ति के फलस्वरूप समान उच्चारण वाले जो विभिन्न शब्द बनते है उनके अर्थगत सादृश्य अथवा वैषम्य पर भी हम विचार करने लगते है।

इस प्रकार उच्चारणसादृश्य होने पर चमत्कार की तीन अवस्थाए होती है—केवल उच्चारणसादृश्य का चमत्कार, उच्चारणसादृश्य के साथ अर्थ-सादृश्य का आशिक चमत्कार तथा उच्चारणसादृश्य के साथ अर्थवैषम्य का आशिक चमत्कार। नाट्यशास्त्र मे चमत्कार की इन तीनो अवस्थाओ के आधार पर अलङ्कारो का निरूपण न होकर उच्चारणसादृश्य के आधार पर केवल एक यमक का निरूपण किया गया है। इस प्रकार वहा इन तीनो अवस्थाओ को एक मे मिला दिया गया है।

भामह के शब्दालङ्कारो के निरूपण पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होगा कि उन्होने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर बनने वाले तीन अलङ्कारो की पृथक्ता तो अशत स्वीकार की है, परन्तु उस पृथक्ता का आधार उपर्युक्त सिद्धान्त को न बताकर उच्चारण-सादृश्य के स्वरूपभेद को बताया है। भामह ने पहले अनुप्रास एव यमक इन दो शब्दालङ्कारो का निर्देश किया है।[1] इसके बाद ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास का उल्लेख किया है जो भामह के अनुसार अनुप्रास के भेद प्रतीत होते है।[2] अनुप्रास के इन भेदो को यदि पृथक् अलङ्कार मान लिया जाए अथवा ग्राम्यानुप्रास को अनुप्रास कह दिया जाए तथा लाटीयानुप्रास को पृथक् अलङ्कार कहा जाय तो तीन

---

१ अनुप्रास सयमको रूपक दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्कारा पञ्चैवाऽन्यैरुदाहृता ॥
—काव्यालङ्कार २-४

२ ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
—काव्यालङ्कार २-६

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।
—काव्यालङ्कार २-८

अलङ्कार हो जाते है। इस प्रकार भामह के मत एव इन तीनो अलङ्कारो के पृथक्तासम्बन्धी मत मे विशेष अन्तर नही।

पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त को इन अलङ्कारो पर लागू करके हम कह सकते है कि अनुप्रास मे केवल उच्चारणसादृश्य होता है, लाटीयानुप्रास अथवा लाटानुप्रास मे उच्चारणसादृश्य के अतिरिक्त अर्थसादृश्य भी होता है तथा यमक मे उच्चारणसादृश्य के अतिरिक्त अर्थवैषम्य होता है। भामह ने इन अलङ्कारो के जो उदाहरण दिए है उनमे ये तत्त्व विद्यमान है।[1] परन्तु इन अलङ्कारो के भामह ने जो लक्षण किए है उनमे केवल उच्चारणसादृश्य के स्वरूपविशेष की ओर सकेत है। भामह ने अनुप्रास का लक्षण 'सरूपवर्णविन्यास'[2] किया है। अत वर्णसाम्य को भामह अनुप्रास कहते है। यमक को भामह ने पदाभ्यास कहा है।[3] अत. पदसाम्य उनके अनुसार यमक है। वर्णसाम्य तथा पदसाम्य उच्चारणसाम्य के भेद है। अत हम कह सकते है कि भामह ने उच्चारणसाम्य के भेदो को शब्दालङ्कारो के विभाजन का आधार बनाया है। परन्तु साथ मे यदि हम यह कहे कि भामह शब्दालङ्कारो के विभाजन के समय पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त का भी अप्रत्यक्ष रूप से अनुसरण कर रहे थे तो अनुचित न होगा। भामह के शब्दालङ्कारो के उदाहरणो पर इस सिद्धान्त का पूर्णत लागू होना हमारे इस मत को पुष्ट करता है।

अपने शब्दालङ्कारो के लक्षणो मे पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धन्त को न अपनाकर उच्चारणसादृश्य के भेदसम्बन्धी सिद्धान्त को अपनाने से भामह का शब्दालङ्कार-

---

१ काव्यालङ्कार में अनुप्रास, लाटीयानुप्रास तथा यमक के उदाहरण क्रमश इस प्रकार है —

कि तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम्। २–५

दृष्टि दृष्टिसुखा धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदित।—२–८

साऽधुना साधुना तेन राजताऽराजताऽऽभृता।

सहित सहितं कर्तु सङ्गत सङ्गत जनम्॥—२-११

२ काव्यालङ्कार २–५

३ देखिये काव्यालङ्कार २–६

विवेचन सन्तोषजनक नही हो सका है। भामह ने अनुप्रास एव यमक का भेद वर्णसाम्य एव पदसाम्य के भेद पर आश्रित बताया है। परन्तु जहा तक उच्चारणसाम्य का प्रश्न है इस दृष्टि से हमे इन दोनो अलङ्कारो से उत्पन्न चमत्कार मे कोई भेद प्रतीत नही होता। अत· केवल वर्णसाम्य एव पदसाम्य के भेद के आधार पर इन दोनो अलङ्कारो का भेद सन्तोषजनक प्रतीत नही होता। दूसरे केवल उच्चारणसादृश्य के भेदो के आधार पर शब्दालङ्कारो का विवेचन करने से लाटीयानुप्रास को अनुप्रास तथा यमक से पृथक् मानने का कोई आधार नही रह जाता। भामह के लाटीयानुप्रास मे पदसाम्य है। अत भामह के अनुसार वह यमक के अन्तर्गत चला जाना चाहिए। परन्तु उन्होने ऐसा नही किया हे।

भामह के शब्दालङ्कारविवेचन मे जो दोष थे उनका निराकरण उद्भट ने कुछ अशो तक कर दिया है। उद्भट ने भामह के उच्चारणसादृश्य के सिद्धान्त को अधिक समीचीनता के साथ अपनाया है तथा इस सिद्धान्त के साथ अर्थसादृश्य के सिद्धान्त की भी उद्भावना की है। उद्भट के अनुसार उच्चारणसादृश्य पर आश्रित अलङ्कार छेकानुप्रास तथा अनुप्रास है।[1] यमक का उन्होने निरूपण नही किया क्योकि उच्चारणसादृश्य के भेद के आधार पर किए हुए भामह के अनुप्रास तथा यमक के पृथक्करण की असमीचीनता सम्भवत उन्होने समझ ली और अर्थवैषम्य के आशिक चमत्कार की ओर उनका ध्यान नही गया। उच्चारणसादृश्य तथा अर्थसादृश्य पर आश्रित अलङ्कार को उन्होने लाटानुप्रास कहा तथा इसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया।[2]

उच्चारणसादृश्य के प्रसङ्ग मे उद्भट ने एक प्रमुख सिद्धान्त का निरूपण

---

१ छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयो सुसदृशोक्तिकृतौ। —काव्यालङ्कारसारसग्रह १–३

अनुप्रास पर की हुई इन्दुराज की निम्नलिखित वृत्ति से यह स्पष्ट है कि उसमे उच्चारणसादृश्य होता है —सरूपव्यञ्जनन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।

पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवय सदा॥—लघुवृत्ति पृष्ठ ४

२ स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्ति फलान्तरात्।
शब्दाना वा पदाना वा लाटानुप्रास इष्यते॥—काव्यालङ्कारसारसग्रह १–८

किया है। यह सिद्धान्त है उच्चारण का भावानुकूल होना।[1] उद्भट का अनुप्रास इसी तत्त्व पर आश्रित है। परवर्ती आलङ्कारिको ने अपने वृत्त्यनुप्रास का निरूपण उद्भट के इसी अनुप्रास के आधार पर किया है।

वस्तुत देखा जाए तो केवल उच्चारणसादृश्य का काव्य मे विशेष महत्त्व नही। काव्य मे जहा जहा उच्चारणसादृश्य होता है वहा वहा उच्चारण का भावानुकूल होना समीचीन हे। परन्तु नाट्यशास्त्र मे केवल उच्चारणसादृश्य का निरूपण कर दिया गया था। अत उच्चारण तथा भावो के सादृश्यसम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण करने पर भी उद्भट परम्परा से आते हुए सिद्धान्त का निराकरण नही कर सके और उस पर आश्रित छेकानुप्रास की उन्होने सत्ता स्वीकार की। यह छेकानुप्रास कालान्तर मे भी चलता रहा।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उद्भट के समय मे अनुप्रास तथा लाटानुप्रास ने लगभग आधुनिक तथा परिष्कृत रूप प्राप्त कर लिया था। परन्तु यमक के परिष्कृत रूप का आविर्भाव अभी शेष था। इसका आविर्भाव हमे वामन के काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति मे मिलता है। वामन ने यमक की परिभाषा निम्नप्रकार से की है—

"पदमनेकार्थाक्षर वावृत्त स्थाननियमे यमकम्"।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४-१-१

इस परिभाषा मे अनेकार्थता अथवा अर्थवैषम्य का स्पष्ट उल्लेख है। रुद्रट तथा भोज ने भी यमक मे इस अर्थवैषम्य का निर्देश किया है।[2] मम्मट ने यमक की परिभाषा मे यमक के इस नवीन रूप तथा प्राचीन रूप का सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया है। उन्होने यमक मे अर्थवैषम्य का निर्देश अवश्य किया है परन्तु यह अर्थवैषम्य वहा प्रत्येक दशा मे आवश्यक नही।

---

१ इन्दुराज की निम्नलिखित वृत्ति से यह स्पष्ट है —

तासु च रसाद्यभिव्यक्त्यानुगुण्येन पृथक् पृथगनुप्रासो निबध्यते।

—लघुवृत्ति पृष्ठ ६

२ तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थाना मिथस्तु वर्णानाम्।

पुनरावृत्तिर्यमक प्रायश्छन्दासि विषयोऽस्य"॥ —काव्यालङ्कार ३-१

"विभिन्नार्थैकरूपाया यावृत्तिर्वर्णसहते"। —सरस्वतीकण्ठाभरण २-५८

यह अर्थवैषम्य तभी होगा जब विभिन्न वर्णों का कोई अर्थ निकलता हो। अर्थ न निकलने पर उनके अनुमार यमक मे अर्थवैषम्य का प्रश्न नही उठता। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

"अर्थे सत्यर्थभिन्नाना वर्णाना सा पुन श्रुति"।

—काव्यप्रकाश सूत्र ११७

यमक के निरूपण के समय रुय्यक मे हमे मम्मट की यह सामञ्जस्य-बुद्धि नही दिखाई देती। मम्मट ने यमक की परिभाषा मे नवीन दृष्टिकोण को स्थान देकर उसका आदर तो किया था, रुय्यक ने तो प्राचीनता के मोह मे इस नवीनता का सर्वथा तिरस्कार कर दिया हे। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

"स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यम् यमकम्"। —सर्वस्व सूत्र ६

इस परिभाषा मे अर्थवैषम्य की ओर सकेत नही।



तृतीय अध्याय

अर्थालंकारों में सादृश्य

कवि का एक उद्देश्य प्राय वस्तु के दर्शन से उत्पन्न अपनी अनुभूति को व्यक्त करना होता है। इस दशा मे वह वस्तु का स्वरूपनिबन्धन न करके प्रतिभाम-निबन्धन करता है। यदि मुख उसका वर्ण्यविषय है तो वह मुख का वाह्य और स्थूल वर्णन न करके मुखदर्शन से उत्पन्न अपनी सौन्दर्यभावना को अभिव्यक्त करेगा। यह सौन्दर्यभावना मुखदर्शन से उत्पन्न अवश्य हुई है परन्तु इसमे कवि की कल्पना का अश मिला हुआ है। यह सोन्दर्यभावना बाह्य सोन्दर्य से भिन्न है। अत सुन्दर शब्द के प्रयोग के द्वारा इसे अभिव्यक्त नही किया जा सकता। कवि अपने वर्णन के द्वारा पाठक को उसी सौन्दर्यानुभूति की मानसिक स्थिति मे ले जाना चाहता है जिसमे वह मुखदर्शन के द्वारा पहुँचा है। 'मुख सुन्दर है' इस प्रयोग के द्वारा पाठक उस स्थिति मे नही पहुँचाया जा सकता। अत यह आवश्यक हो जाता है कि कवि मुख से सादृश्य रखने वाली ऐसी वस्तुओ का वर्णन करे जिनका वर्णन पाठक को अभीष्ट भाव की अनुभूति कराने मे समर्थ हो। इस बात को ध्यान मे रखकर रुद्रट कहते हे —

'सम्यक् प्रतिपादयितु स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिस्तदौपम्यम् ॥'[1]

मुख के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि कमल, चन्द्र आदि ऐसी वस्तुओ से मुख का सादृश्य बताता है जो लोक मे अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हे। इन वस्तुओ के साथ सादृश्य के वर्णन से पाठक को वह सौन्दर्यानुभूति सहज ही हो जाती जो 'मुख सुन्दर है' केवल इतना कहने से सम्भव नही। चन्द्र कमल आदि के साथ सौन्दर्य की भावना जुडी हुई है। ये सौन्दर्य के उपमान है। उपमान की परिभाषा इस प्रकार है —

"साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्ध पदार्थ उपमानम्" बालबोधिनी पृ० ५४५

---

१ काव्यालकार ८। १

चन्द्र, कमल आदि का सौन्दर्य लोक मे प्रसिद्ध है। अत 'मुख चन्द्र इव सुन्दरम्' ऐसा कहने से हमारी सौन्दर्य-भावना जागृत हो जाती है। 'मुख सुन्दरम्' ऐसा कहने से हमारी जो स्थूल भावना थी वह अब कल्पना के जगत् मे पहुँच जाती है और इस प्रकार हम कवि की मानसिक स्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते है। अत सादृश्यविधान एक माध्यम है जो पाठक को कवि की मनोभूमि तक पहुँचाता है।

इस सादृश्यविधान को अपनाकर कवि जिस भाषा का प्रयोग करता है वे ही सादृश्यमूलक अलकार है। भावो की अभिव्यक्ति मे इन अलकारो का प्रमुख हाथ है। सस्कृत के आलकारिको ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है। अर्थालकारो के विवेचन मे उन्होने इनके जो मूल तत्त्व निर्धारित किए है उनमे सादृश्य को प्रमुख माना है।

रुद्रट ने अर्थालकारो के चार मूल तत्त्व माने है। ये वास्तव, अतिशय, औपम्य तथा श्लेष है।[1] इस प्रकार इन चारो तत्त्वो मे औपम्य अथवा सादृश्य भी एक तत्त्व है। रुद्रट ने उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य एव स्मरण को इसी औपम्य के भेद माना है।[2]

दण्डी का उपमा अलकार का विवेचन अत्यन्त विस्तृत है। इन्होने उपमा के अनेक भेद किए है। परवर्ती आलकारिको ने इन्हे स्वतन्त्र अलकार बना दिया है। दण्डी की अन्योन्योपमा, अद्भुतोपमा, सशयोपमा, निर्णयोपमा, असाधारणोपमा, प्रतिवस्तूपमा, मोहोपमा तथा उत्प्रेक्षितोपमा परवर्ती आलकारिको के क्रमश उपमेयोपमा, अतिशयोक्ति, सन्देह, निश्चय, अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान तथा प्रतीप अलकार है। दण्डी का उपमा सबधी यह विस्तृत विवेचन इन अनेक अलकारो की सादृश्यमूलकता का परिचायक है।

---

१ अर्थस्यालकारा वास्तवमौपम्यमतिशय श्लेष ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति नि शेषा ।। काव्यालकार १ । ७

२ उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुति· सशय· समासोक्ति ।
मतमुत्तरमन्योक्ति प्रतीपमर्थान्तरन्यास ।।
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ता· ।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदा ।। काव्यालकार ८ । २, ३

वामन ने समस्त अलंकारों का उपमाप्रपञ्च कहकर[1] उनकी सादृश्य-मूलकता स्पष्टत स्वीकार की है। रुय्यक ने अर्थालकारो के मूल तत्त्वो मे औपम्य को माना है। विद्यानाथ ने भी इसे एक तत्त्व माना है।[2] उन्होने इसके लिए साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है।[3] अप्पयदीक्षित ने अनेक अलकारो को उपमा के भेद बताकर अलकारो की सादृश्यमूलकता स्वीकार की है। उनके अनुसार एक उपमा ही भिन्न भिन्न रूप धारण करती हुई भिन्न भिन्न अलकारो मे परिवर्तित हो जाती है।[4] यही नही उन्होने तो यहा तक कह दिया है कि जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार उपमा से भी हो जाता है।[5]

अनेक आलकारिको ने वक्रोक्ति अथवा अतिशय को अलकारो का मूल तत्त्व माना है। भामह की वक्रोक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ही।[6] यह वक्रोक्ति एक

---

१. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्च —काव्यालकारसूत्र ४ । ३ । १

२. 'अर्थालकाराणा चातुर्विध्यम्—केचित् प्रतीयमानवास्तवा, केचित् प्रतीयमानौपम्या, केचित् प्रतीयमानरसभावादय., केचिदस्फुटप्रतीयमाना इति ।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २४५

३. 'साधर्म्य त्रिविधम्—भेदप्रधानम्-अभेदप्रधानम्, भेदाभेदप्रधान चेति ।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २४६

४. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयन्ती काव्यरगे नृत्यन्ती तद्विदा चेतः ॥

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णन तावदुपमा । सैवोक्तिभेदेनानेकालकारभावं भजते । तथा हि चन्द्र इव मुख मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमा ॰ ॰ । मुखं मुखमिवेत्यनन्वय. ॰ मुखस्य पुरत चन्द्रो निष्प्रभ इत्यप्रस्तुतप्रशसा । एवमुक्तानेकालकारविवर्तवतीयमुपमा ॥' चित्रमीमासा पृ० ६

५. 'तदिद चित्र विश्व ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञात भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा ॥' —चित्रमीमासा पृ० ६

६. 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥'

—भामहालंकार २ । ८५

प्रकार का अतिशय है। 'विवक्षा वा विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी'[१] कहकर दण्डी ने इस अतिशय को स्वीकार किया है। अभिनव के अनुसार यह अतिशय 'सर्वालकारसामान्यरूपम्' है।[२] मम्मट ने इसके लिए 'प्राणत्वेनावतिष्ठते'[३] शब्द का प्रयोग किया है। कुन्तक के वक्रोक्तिसम्प्रदाय का तो यह प्राण ही है।

सादृश्य की इस अतिशय के साथ तुलना करने पर प्रतीत होगा कि अनेक अवस्थाओ मे सादृश्य इस अतिशय के मूल मे रहता है। अतिशय का प्रयोजन भी कवि की अनुभूति को पाठक तक पहुँचाना होता है। यदि भुजाओ की दीर्घता कवि का वर्ण्य विषय है तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसमे अतिशय लाना आवश्यक हो जाता है। यह अतिशय दीर्घतारूपी साधारणधर्म के आधार पर होता है। कवि ऐसे उपमान का वर्णन करता है जिसमे साधारणधर्म का अतिशय हो। साधारणधर्म से असम्बद्ध अन्य वस्तु का वर्णन नही किया जा सकता। अतिशय उस वस्तु को मानकर चलता है जिसका अतिशय अभिप्रेत है और यह वस्तु साधारणधर्म ही सम्भव है। यह साधारणधर्म प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे सम्बन्ध स्थापित करता है। जो साधारणधर्म प्रस्तुत मे अल्पमात्रा मे रहता है वही अप्रस्तुत मे अतिशयित मात्रा मे रहता है। इसीलिए उपमान की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है—

'अधिकगुणवत्त्वेन सम्भाव्यमानमुपमानम्' बालबोधिनी पृ० ५४५

भुजाओ की दीर्घता को अभिव्यक्त करने के लिए उनका अर्गला से सादृश्य दिखाकर अतिशय का वर्णन इसीलिए किया जाता है क्योकि अर्गला मे दीर्घतारूपी साधारणधर्म का अतिशय है। और इस अतिशय का प्रयोजन भी यही है कि दीर्घता के अतिशय से युक्त अर्गलाओ-सदृश भुजाओ के वर्णन से हम कल्पना की उस स्थिति मे पहुँच जाए जिसमे कवि दीर्घ

---

१. 'विवक्षा वा विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा॥' काव्यादर्श २। २१४

२. History of Sanskrit Poetics–P 65

३. 'सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते' ।
काव्यप्रकाश पृ० ७४३

भुजाओ के दर्शन से पहुँचा है और फलत हमारी तथा कवि की कल्पना-स्थितियो मे साम्य स्थापित हो जाए । यद्यपि दीर्घता की दृष्टि से भुजा तथा अर्गला मे मात्रा-भेद है परन्तु कवि तथा पाठक की कल्पनाजन्य स्थितियो मे यह भेद प्रतीत नही होता ।

"सादृश्य के लिए आकृतिगत साम्य आवश्यक अथवा नहीं"

सादृश्यविधान का उद्देश्य कल्पनाजन्य इमी सदृश भाव की अनुभूति कराना होता है । 'मुख चन्द्र इव सुन्दरम्' से उद्देश्य मुख एव चन्द्र के स्थूल अथवा आकृतिगत सादृश्य से न होकर मुखदर्शन तथा चन्द्रदर्शन से उत्पन्न कल्पनाजन्य इनके सौन्दर्यसम्बन्धी सादृश्य से है । कल्पनाजन्य इस सादृश्य के लिए यह आवश्यक नही कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे आकृतिगत पूर्ण सादृश्य हो । जहा प्रतिपाद्य भाव का आकृति से सम्बन्ध होता है वहा न्यूनाधिक रूप मे आकृतिगत साम्य अवश्य अपेक्षित है परन्तु जहा इसका आकृति से कोई सम्बन्ध नही वहा इम साम्य की आवश्यकता नही ।

भुजाओ की दीर्घता को व्यक्त करने के लिए उनके उपमान मे आकृति-साम्य अपेक्षित है । दीर्घता स्थूल शरीर का धर्म है और आकृति के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है । अत इस भाव को व्यक्त करने के लिए सादृश्य-विधान मे आकृतिसाम्य आवश्यक है । भुजाओ का उपमान अर्गला है । इनकी आकृति मे अन्य वैषम्य भले ही हो दीर्घता की दृष्टि से आशिक साम्य अवश्य है ।

जहा साधारणधर्म का आकृति से सम्बन्ध नही होता वहा इस आकृतिगत सादृश्य की आवश्यकता नही । वीरता, उदारता, दानशीलता आदि धर्मो का आकृति से सम्बन्ध नही । अत इनकी अभिव्यक्ति के लिए उपमान मे आकृतिसाम्य आवश्यक नही । वीरता की अभिव्यक्ति के लिए पुरुष की तुलना सिह से की जाती है, यथा—'पुरुष सिह इव वीर' । यहा पुरुष तथा सिह मे आकृतिगतसाम्य नही । वीरता आत्मा का गुण है । शरीर का उससे कोई सम्बन्ध नही । कही कही स्थूल शरीर वाले व्यक्ति मे वीरता को देखकर यह समझना कि इसकी आकृति ही वीर है उचित नहीं । मम्मट

का यही मत है।[1] अत वीरता आदि की अभिव्यक्ति के लिए आकृतिगत साम्य की आवश्यकता नही।

प्रश्न उठता है कि 'Face is the index of mind' इत्यादि उक्तिया आकृति तथा भावो मे निश्चित सम्बन्ध स्थापित करती है। अत यह कहना कहा तक उचित है कि वीरता आदि धर्मों का आकृति से कोई सम्बन्ध नही ?

इसका उत्तर इस प्रकार है —उपर्युक्त उक्ति मे भावो तथा आकृति का जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह प्राय भावो की उद्दीप्त स्थिति को लक्ष्य करके दिखाया गया है, मनुष्य के स्वभाव के अग बने हुए भावो को लक्ष्य करके नही दिखाया गया। मनुष्य की आकृति से जिन भावो का पता चलता है वे प्राय ऐसे उद्दीप्त भाव है जो अपने इस उद्दीपन के फलस्वरूप आकृति मे अन्तर उत्पन्न कर देते है। आकृति से कतिपय ऐसे भावो का भी पता चल सकता है जो मनुष्य के स्वभाव के अग बन गए है, परन्तु ऐसे भाव इने गिने ही होते है। अत इनके आधार पर यह नही कहा जा सकता कि आकृति उन समस्त भावो की परिचायक है जो मनुष्य के चरित्र के अन्तर्गत आते है।

शारीरिक अवयवो के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए इस आशिक आकृतिगत साम्य का ध्यान रखा जाता है। केशपाश, नासिका आदि के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए उनका सादृश्य क्रमश सर्प, शुकचञ्चु आदि से दिखाया जाता है। इन उपमानो मे अपने उपमेयो के साथ आशिक आकृतिगत साम्य है। इसका कारण यही है कि यह सौन्दर्य-भावना आकार-जन्य है। प्रस्तुत आकृति ही कल्पना का विषय बनकर सौन्दर्य का रूप धारण करती है। यह सौन्दर्यभावना यद्यपि एक आन्तरिक भावना है परन्तु इसमे उस विषय की वह स्थूल रूपरेखा बनी रहती है जिससे यह उत्पन्न होती है।

---

१ "आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य · ।क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूर' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूर' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्याहरन्ति · ।" काव्यप्रकाश पृ० ६४

उपमानों का क्षेत्र

सादृश्यविधान के लिए कवि समस्त विश्व को अपनी कल्पना का क्षेत्र बनाता है और उसमे से उपयुक्त उपमानो का चयन करता है। इस चयन के समय अपनी अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति तो उसका प्रमुख उद्देश्य रहती ही है, इसके साथ साथ वह कविपरम्परागत रूढियो का भी ध्यान रखता है। अप्पयदीक्षित तथा हेमचन्द्र ने इसका समर्थन किया है।[1]

कतिपय उपमान कविपरम्परानुसार किसी अर्थ मे रूढ हो जाते है। इनके श्रवणमात्र से पाठक को अभीष्ट अर्थ की अनुभूति हो जाती है। कवि अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिए इनका आश्रय लेता है। कमल, कोकिलस्वर आदि क्रमश मुख, मधुर सगीत आदि के उपमान के अर्थ मे रूढ हो गए है। इनके प्रयोग से पाठक को मुख के सौन्दर्य तथा सगीत के माधुर्य की अनुभूति सहज ही हो जाती है। अत उक्त भावो की अभिव्यक्ति के लिए कवि बिना प्रयत्न के ही इनका चयन कर लेता है। इस प्रकार रूढिया कवि की भावाभिव्यक्ति तथा पाठक की भावानुभूति मे सरलता लाती है।

कभी कभी कवि की भावाभिव्यक्ति के लिए एक वस्तु उपमान के रूप मे पर्याप्त नही होती। अत वह कई वस्तुओ का चयन करके उनका उचित समन्वय करता है तथा इन्हे एक सश्लिष्ट उपमान का रूप देता है।

"पुष्प प्रवालोपहित यदि स्यान्मुक्ताफल वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुच स्मितस्य॥"

कुमारसम्भव १।४४

यहा ओष्ठ पर बिखरी हुई हसी उपमेय है। इसके लिए सश्लिष्ट उपमान की योजना की गई है। यह 'प्रवालोपहित पुष्पम्' अथवा 'विद्रुमस्थ मुक्ताफलम्' के रूप मे है।

कभी कभी कवि को वस्तुओ का वर्णन न करके उनके पारस्परिक सबध

---

१ "कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेनोपमानोपमेयत्वयोग्ययोरेव साधर्म्यमुपमा। अत एव 'कुमुदमिव मुख प्रसन्नम्' इत्यादि नोपमा ••।" चित्रमीमासा पृ० ७

"प्रसिद्धमुपमानमप्रसिद्धमुपमेयम्। प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी च कविविवक्षावशादेव।" काव्यानुशासन पृ० ३४१

का वर्णन करना होता है। इसके लिए वह ऐसी वस्तुओ का उपमान के रूप मे चयन करता है जिनका पारस्परिक सबध प्रस्तुत सबध को अभिव्यक्त कर सके। ऐसी दशा मे उसका प्रमुख उद्देश्य सम्बन्धो का सादृश्य व्यक्त करना होता है। सम्बद्ध वस्तुओ का सादृश्य केवल गौण होता है तथा वह प्रधान सादृश्य का अग होता है। निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है —

'न खलु न खलु बाण सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्नि ॥' शाकुन्तल १। १०

यहा प्रधान सादृश्य मृगशरीर तथा बाण के सम्बन्ध एव तूलराशि तथा अग्नि के सम्बन्ध मे है। मृगशरीर तथा बाण मे नाश्यनाशक सम्बन्ध है तथा तूलराशि एव अग्नि मे दाह्यदाहक सम्बन्ध है। दाह्यदाहक भाव नाश्य-नाशक भाव का एक अग है। अत नाश्यनाशक सम्बन्ध तथा दाह्यदाहक सम्बन्ध मे सादृश्य है। मृगशरीर का तूलराशि से तथा बाण का अग्नि से सादृश्य इसमे केवल गौण है तथा प्रधान सम्बन्ध का उपकारक है। मृगशरीर तथा तूलराशि मे कोमलता एव बाण तथा अग्नि मे कठोरता का भिन्न भिन्न सादृश्य दिखाने से उतना प्रयोजन नही जितना मृगशरीर तथा बाण के एवं तूलराशि तथा अग्नि के पारस्परिक सम्बन्धो का सादृश्य दिखाने से है। कोमलता की दृष्टि से तो मृगशरीर का सादृश्य पुष्प से भी दिखाया जा सकता है, परन्तु उस दशा मे पुष्प तथा अग्नि के सम्बन्ध मे दाह्यदाहक भाव की दृष्टि से वह चमत्कार नही रहेगा जो तूलराशि के प्रयोग से विद्यमान है।

वस्तुओ का यह पारस्परिक सम्बन्ध तीन प्रकार से होता है—अनुकूल रूप से, प्रतिकूल रूप से तथा असम्भव रूप से। उपर्युक्त उदाहरण मे यह प्रतिकूल रूप से है। मृग तथा बाण का सम्बन्ध प्रतिकूल है। अत उसका 'सादृश्य तूलराशि तथा अग्नि के प्रतिकूल सम्बन्ध से दिखाया गया है।

अनुकूल सम्बन्ध निम्नलिखित श्लोक मे है —

"राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रय।
द्रुमाणामिव लोकाना मधुमास इवाभवत् ॥" रसगगाधर पृ० २४३

यहा युधिष्ठिर तथा लोको का एव मधुमास तथा द्रुमो का सम्बन्ध

अनुकूल है। अत प्रथम सम्बन्ध का सादृश्य दूसरे सम्बन्ध से दिखाया गया है। रसगगाधरकार ने इन दोनो सबधो का निरूपण किया है।[1]

असम्भव सम्बन्ध का उदाहरण निम्नलिखित है —

"चन्द्रबिम्बादिव विष चन्दनादिव चानल ।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसम्भावितोपमा" ॥— चित्रमीमासा पृष्ठ ९

यहा मुख तथा वाक् का, चन्द्रबिम्ब तथा विष का, एव चन्दन तथा अनल का जन्यजनक सम्बन्ध असम्भव है। अत प्रथम सम्बन्ध का सादृश्य अन्य दो सम्बन्धो से दिखाया गया है। यहा सादृश्य मुख से उत्पन्न वाणी तथा चन्द्र से उत्पन्न विष मे न होकर मुख तथा वाणी के सम्बन्ध एव चन्द्र तथा विष के सम्बन्ध मे है और इस सादृश्य का कारण है साधारणधर्म की असम्भाविता। विश्वेश्वर का भी यही मत है।[2]

यदि यह असम्भाविता चन्द्र से उत्पन्न विष तथा मुख से उत्पन्न परुषता मे हो तो उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ होना चाहिए कि मुख से उत्पन्न परुषता चन्द्र से उत्पन्न विष के समान असम्भव है। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ है कि इस मुख से परुष वाक् की उत्पत्ति उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब से विष की उत्पत्ति। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि इस मुख तथा परुष वाक् का जन्यजनक सम्बन्ध उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब तथा विष का जन्यजनक सम्बन्ध। अत साधारणधर्म असम्भाविता के आधार पर सादृश्य उस प्रकार की वाणी तथा उस प्रकार के विष मे न होकर इस मुख तथा परुष वाणी के सम्बन्ध एवं चन्द्रबिम्ब तथा विष के सम्बन्ध मे है।

उपमानो के चयन के लिए यह आवश्यक नही कि अमूर्त वस्तुओ के उपमान अमूर्त हो तथा अचेतन के अचेतन हो। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नही कि मूर्त वस्तुओ के उपमान मूर्त हो तथा चेतन के चेतन

---

१ "उपमानयो. परस्परमुपमेययोश्चानुकूल्ये उपमयोरेवोपायता निरूपिता। प्राति-कूल्ये उपायता यथा · · · ···।" रसगंगाधर पृ० २४४

२ "एव च 'असम्भावितोपमा' इत्यस्य असम्भावितोपमानकत्वं नार्थः, किन्तु असम्भावितत्व तदुपमाया साधारणधर्म इत्येव"—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ११

हो। मूर्तता तथा अमूर्तता एव चेतनता तथा अचेतनता का विषय उपमान-चयन के क्षेत्र से बाह्य है। कवि प्राय अमूर्त वस्तुओ का सादृश्य मूर्त वस्तुओ से दिखाते है। कीर्ति तथा स्मित अमूर्त वस्तुए है, परन्तु उनका सादृश्य क्रमश हमी तथा पुष्प से दिखाया जाता है.—

"हमीव धवला कीर्ति स्वर्गगामवगाहते" —चित्रमीमासा पृष्ठ ८

"पुष्प प्रवालोपहित यदि स्यान्मुक्ताफल वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुच स्मितस्य ॥"

—कुमारसम्भव १।४४

अचेतन का चेतन से सादृश्य तो अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। इसका कारण कवि की मानसिक स्थिति है। कवि अपने भावो का आरोप प्रकृति पर करता है और उसे चेतन के रूप मे व्यवहार करते देखता है। उसे प्रकृति मे अपने भावो की झाकी देखने को मिलती है। यदि वह आनन्दित है तो प्रकृति उसे आनन्दित प्राणी का आचरण करती हुई प्रतीत होती है और यदि वह दु खी है तो प्रकृति मे उसे वैसा ही आचरण दिखाई देता है।

"मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभ तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन् बाललता प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्या· ॥"

—रघुवश २। १०

यहा लताओ का सादृश्य पौरकन्याओ से दिखाया गया है और वे पुष्पवर्षा करती हुई दिखाई गई हैं।

"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वा भ्रष्ट मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदु खादिव बद्धमौनम् ॥"

—रघुवंश ३। २३

यहां निश्चल नूपुर का दु खी प्राणी से सादृश्य व्यंग्य है तथा दु'ख के कारण उसे मौन दिखाया गया है।

मूर्त वस्तुओ का अमूर्त से तथा चेतन का अचेतन से सादृश्य भी काव्यो मे अनेक स्थलो पर मिलता है:—

"ता देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सता मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥"

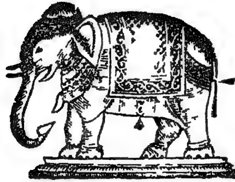
—रघुवश २ । १६

यहा धेनु का सादृश्य श्रद्धा से दिखाया गया है ।

"स पाटलाया गवि तस्थिवास धनुर्धर केसरिण ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्या लोध्रद्रुम सानुमतः प्रफुल्लम् ॥"

—रघुवश २ । १९

यहा पाटला गौ का सादृश्य धातुमयी अधित्यका से तथा केसरी का सादृश्य प्रफुल्ल लोध्रद्रुम से दिखाया गया है ।



सादृश्यमूलक अलकारों के मूल में विद्यमान सादृश्य का स्वरूप तथा उसके भेद

वस्तु की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए कवि जब सादृश्यविधान करता है तब उसका कल्पनाज य सादृश्यज्ञान भिन्न भिन्न रूप धारण करता है और उसी के अनुसार भिन्न भिन्न अलकारो की अभिव्यक्ति होती है। 'अमुक वस्तु अमुक वस्तु के सदृश है' यह सादृश्यज्ञान यद्यपि उन सब ज्ञानो मे अनुस्यूत रहता है, परन्तु उसके रूप भिन्न भिन्न होते हे। कभी यह ज्ञान अनुभव का रूप धारण करता है तथा कभी स्मृति का। ज्ञान के ये दो प्रकार ही माने गए है —

'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विविधा–स्मृतिरनुभवश्चेति । संस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृति । तद्भिन्न ज्ञानमनुभव ।"

तर्कसग्रह पृ० २१

स्मृति की दशा मे जिस अलकार की अभिव्यक्ति होती है वह स्मरणालकार होता है।

अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ तथा अयथार्थ —

"स द्विविधः—यथार्थायथार्थश्च।" तर्कसग्रह पृ० २३

अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का होता है —सशय, विपर्यय तथा तर्क–
"अयथार्थानुभवस्त्रिविध —सशयविपर्ययतर्कभेदात् ।"

तर्कसग्रह पृ० ५६

जहा तक कवि के अनुभव का संम्बन्ध है उसे हम लौकिक दृष्टि से न तो यथार्थ कह सकते है और न अयथार्थ ही। कवि का यह अनुभव सत्य को आधार मानकर चलता है परन्तु इसकी सीमाए उससे परे है। इस प्रकार कवि की दृष्टि से तो यह अनुभव सत्य है ही लौकिक दृष्टि से भी इसे असत्य नही कहा जा सकता।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारो के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा। यदि मुख का सौन्दर्य कवि का वर्ण्य विषय है तो कवि इन अलंकारो मे क्रमश 'मुख कमलमिव' 'मुख कमलम्' 'मुख कमलं मन्ये' 'इदं मुखम्' आदि प्रयोग करेगा। इन सब

प्रयोगो की दशा मे कवि को यह ज्ञान बना रहेगा कि यह मुख ही है जिसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए इस प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं। यह कभी नही होता कि कवि मुख को मुख से भिन्न वस्तु समझकर उसके आधार पर आचरण करने लगे।

यही नही ससन्देह तथा भ्रान्तिमान् अलंकारो मे भी जिनके नाम क्रमश संशय तथा विपर्यय के द्योतक हैं कवि का अनुभव अयथार्थ ज्ञान की कोटि मे नही आता। ससन्देह अलंकार मे कवि को जो संशय होता है वह लौकिक संशय से भिन्न होता है। यह कल्पनाजन्य होता है। अत कवि को इस अवस्था मे प्रस्तुत वस्तु का ज्ञान बना रहता है। जहा यह संशय कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होता है वहा यह वास्तविक होता है और फलत अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आता है।

भ्रान्तिमान् अलंकार मे भ्रान्ति कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होती है। कवि को यह भ्रान्ति कभी नही हो सकती। कारण यह है कि कवि का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करना होता है। अत यह आवश्यक है कि उसे उस वस्तु का ज्ञान बना रहे। भ्रान्ति मे यह सम्भव नही। भ्रान्ति मे एक वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। अत यदि कवि को भ्रान्ति हो तो वह प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तु समझकर उस अन्य वस्तु का ही वर्णन करेगा और फलत वह पाठको के सम्मुख प्रस्तुत वस्तु का चित्र ही अंकित नही कर सकेगा।

सादृश्य-प्रतीति की अवस्था मे जिस अलंकार की अभिव्यक्ति होती है वह उपमा है। मुख कमलमिव इसका उदाहरण है। इस अवस्था मे उपमेय तथा उपमान के कतिपय अवयवो मे ऐक्य तथा कतिपय मे अनैक्य प्रतीत होता है। इस प्रकार यह भेद तथा अभेद प्रतीति की अवस्था है।

इस अवस्था मे भेद-प्रतीति तथा अभेद प्रतीति पर समान बल रहता है। कभी कभी यह बल भेदप्रतीति पर अधिक हो जाता है। यह भेद उपमेय के आधिक्य के रूप मे प्रतीत होता है। इस अवस्था मे व्यतिरेक अलंकार की अभिव्यक्ति होती है। 'मुख कमलादतिरिच्यते' इसका उदाहरण है।

उपमालंकार की सादृश्यप्रतीति उत्तरोत्तर बढते बढते ताद्रूप्यप्रतीति तक पहुँचती है। इसे अरोप की अवस्था कहते है। सादृश्यप्रतीति की अवस्था

में तो कुछ अवयवो मे विभिन्नता बनी रहती है परन्तु इसमे वह सर्वथा लुप्त हो जाती है। उपमेय तथा उपमान के अवयव सर्वथा समान हो जाते है। इस अवस्था मे रूपक की अभिव्यक्ति होती है। 'मुख कमल-मस्ति' इसका उदाहरण है। यहा मुख कमल के समान ही नही अपितु तदाकार बन गया है।

इस अवस्था मे अवयवो अथवा धर्मों की भेदप्रतीति यद्यपि लुप्त हो जाती है, परन्तु अवयवियो अथवा धर्मियो की भेदप्रतीति बनी रहती है। यद्यपि मुख का कमल से ताद्रूप्य स्थापित हो जाता है परन्तु दोनो की सत्ता पृथक् पृथक् बनी रहती है। मुख की सत्ता कमल की सत्ता मे बिलीन नही होती। अत सादृश्य की यह प्रक्रिया और आगे बढती है तथा उपमेय (धर्मी) का निगरण प्रारम्भ होता है।

उपमेय की इस निगरण-प्रक्रिया मे उत्प्रेक्षालंकार की अभिव्यक्ति होती है। इस अवस्था को आलकारिको ने अध्यवसाय[1] की साध्यावस्था कहा है। इस अवस्था मे विषय का निगरण होकर विषय तथा विषयी की सर्वथा अभेदप्रतिपत्ति नही होती परन्तु इस अभेदप्रतिपत्ति की ओर हमारी मानसिक प्रक्रिया उन्मुख हो जाती है। 'मुख कमलं मन्ये' के द्वारा इस अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। इसमे मुख तथा कमल की पृथक् सत्ता बनी हुई है। जहा तक स्वरूप का प्रश्न है दोनो के स्वरूप भिन्न बने हुए है, परन्तु प्रतीति कमल की ही होती है। अत रुय्यक ने इसे प्रतीति-निगरण कहा है।[2]

निगरण की यह प्रक्रिया उपमेय के निगीर्ण होने पर तथा उपमान का अध्यवसाय होने पर समाप्त होती है। उत्प्रेक्षा मे जो अध्यवसाय साध्य था वह अब सिद्ध हो जाता है। इस अवस्था मे व्यापार की प्रधानता न होकर अध्यवसित उपमान की प्रधानता होती है।[3] व्यापार तो सर्वथा समाप्त हो जाता है। इस अवस्था मे अभिव्यक्त अलकार अतिशयोक्ति कहलाता है। 'इद कमलम्' इसका उदाहरण है। यहा, मुख की सत्ता कमल मे विलीन हो

---

१ "विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिविषयिणोऽध्यवसाय "—सर्वस्व पृ० ५३

२ "विषयस्य निगरण स्वरूपत प्रतीतितो वा। तत्र स्वरूपनिगरणमतिशयोक्तौ। उत्प्रेक्षाया प्रतीतिनिगरणम्।" समुद्रबन्ध पृ० ५३

३. "अतश्चाध्यवसितप्राधान्यम्—" सर्वस्व पृ० ५४

गई है और एक कमल ही अवशिष्ट रह गया है। इस प्रकार यहा मुख की प्रतीति का ही नही उसके स्वरूप का भी निगरण हो गया है। अत रुय्यक ने अतिशयोक्ति मे स्वरूपनिगरण स्वीकार किया है।

जो सादृश्यविधान मुख तथा कमल के सादृश्य से आरम्भ हुआ था वह उनके ताद्रूप्य तथा मुख की निगरणप्रक्रिया मे से होता हुआ उनके सर्वथा ऐक्य मे समाप्त होता है और केवल कमल बच रहता है। अत कवि की कल्पनाबुद्धि सादृश्य, ताद्रूप्य, निगरण—प्रक्रिया आदि विभिन्न अवस्थाओ मे से होती हुई ऐक्य तक पहुँच जाती है। इन भिन्न भिन्न अवस्थाओ मे भिन्न भिन्न अलङ्कारो की अभिव्यक्ति होती है। सादृश्यस्थिति मे उपमा, उपमेयोपमा तथा अनन्वय की, ताद्रूप्यावस्था मे रूपक, परिणाम, उल्लेख तथा अपह्नुति की, निगरणप्रक्रिया की अवस्था मे उत्प्रेक्षा की तथा ऐक्यावस्था मे अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति होती है।

कभी कभी कवि की दृष्टि वस्तुओ के सादृश्य की ओर न होकर प्रधानत' उनके साधारणधर्म पर केन्द्रिन रहती है। उमकी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु वस्तुओ का सादृश्य न होकर उनके साधारणधर्मो का सादृश्य होता है। साधारणधर्मो की इस सादृश्य-प्रतीति मे प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त की अभिव्यक्ति होती है।

प्रतिवस्तूपमा मे जिन साधारणधर्मो मे सादृश्यप्रतीति होती है वे वैसे तो एक होते है परन्तु आश्रयभेद के कारण उनमे भेद लक्षित होता है। इस प्रकार भेद तथा अभेद के फलस्वरूप इनमे सादृश्य प्रतीत होता है। दृष्टान्त मे जिन साधारणधर्मो मे सादृश्यप्रतीति होती है वे भिन्न होते है, परन्तु उनमे एक सामान्य तत्त्व होता है। इसके फलस्वरूप वे सदृश प्रतीत होते है।

प्रतिवस्तूपमा मे साधारणधर्मो के इस सादृश्य की सञ्ज्ञा वस्तुप्रतिवस्तु भाव रखी गई है। इसकी परिभाषाए इस प्रकार है—

"सम्बन्धिभेदेनैकस्यैव धर्मस्य द्विरुपादानम्" —चित्रमीमासा पृष्ठ २१

"आश्रयभेदाद्भिन्नयोरपि वस्तुत एकरूपतैवेति वस्तुप्रतिवस्तुभाव"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ २०९

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमा मे साधारणधर्मों मे आश्रयभेद के कारण भेद लक्षित होता है। ये साधारणधर्म वस्तुत एक भले ही हो, आश्रय का भेद इनके स्वरूपो मे कुछ अन्तर अवश्य लाता है तथा हमे इसी रूप मे इनकी प्रतीति होती है। पदार्थो के सादृश्य के समय हमारा प्रयोजन उनके इसी प्रतीत स्वरूप से होता है, अन्य किसी प्रकार के स्वरूप से नही होता। प्रतिवस्तूपमा के निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यते नैषधोऽपि।
इत स्तुति का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५४

यहा वैदर्भी के समाकर्षण धर्म तथा चन्द्रिका के उत्तरलीकरण धर्म मे सादृश्यप्रतीति होती है। समाकर्षणधर्म तथा उत्तरलीकरणधर्म वस्तुत एक भले ही हो हमे उनकी प्रतीति विभिन्न रूपो मे होती है। इसका कारण उनका आश्रयभेद है। समाकर्षण का यहाँ सम्बन्ध वैदर्भी तथा नैषध से है तथा उत्तरलीकरण का सम्बन्ध चन्द्रिका तथा समुद्र से है।

इन विभिन्न सम्बन्धो के फलस्वरूप समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण के स्वरूप मे अन्तर आ जाता है। दो चेतन वस्तुओ से सम्बद्ध होने के कारण समाकर्षण का स्वरूप अचेतन वस्तुओ से सम्बद्ध उत्तरलीकरण से भिन्न प्रतीत होता है। अत. इन दोनो धर्मों मे अभेद न मानकर सादृश्य मानना उचित होगा।

यदि समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण मे सादृश्यप्रतीति न मानकर अभेदप्रतीति मानी जाती है तो साधारणधर्म की अनुगामिता तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव मे कोई अन्तर नही होगा। प्रतिवस्तूपमा मे साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव सर्वसम्मत है तथा वह साधारणधर्म की अनुगामिता से भिन्न माना गया है।

दूसरे यदि प्रतिवस्तूपमा मे साधारणधर्मों मे अभेद माना जाता है तो हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु साधारणधर्म न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध हो जायगा। यह मानना उचित नही।

दृष्टान्त मे साधारणधर्मों के सादृश्य की संज्ञा बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। इसकी परिभाषा निम्नलिखित है —

"वस्तुनो भिन्नयोर्धर्मयो परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव" —चित्रमीमांसा पृष्ठ २१

इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

"अविदितगुणापि सत्कविभणिति कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमला हि हरति दृश मालतीमाला ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५५

यहा 'कर्णे मधुधारावमनम्' तथा 'नेत्रहरणम्' साधारणधर्म है। इन दोनो मे प्रीतिजनकत्वधर्म विद्यमान है। अत इनमे साम्य है। यह कहना कि दोनो का पर्यवसान प्रीति मे होता है अत दोनो मे ऐक्य है उचित नही। दोनो के प्रीतिजनकत्व-प्रकार मे भेद है तथा दोनो से उत्पन्न प्रीति मे भी विलक्षणता है। साहित्यदर्पण के टीकाकार श्रीरामचरणभट्टाचार्य ने इसका समर्थन किया है।[1]

कभी कभी कवि की दृष्टि वस्तुओ के एकधर्माभिसम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। इस अवस्था मे दीपक, तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति की अभिव्यक्ति होती है। तुल्ययोगिता की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

"प्रस्तुतानामप्रस्तुताना वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्ध स्यातदा तुल्ययोगिता।"—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५१

इस परिभाषा के अनुसार एकधर्माभिसम्बन्ध इस अलङ्कार का आधार है। इस अलङ्कार के निम्नलिखित उदाहरण पर यह बात चरितार्थ होती है—

"तदगमार्दव द्रष्टु कस्य चित्ते न भासते।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीना कठोरता ॥" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५२

यहा मालती आदि का एक कठोरताधर्म से सम्बन्ध दिखाया गया है। दीपक तथा सहोक्ति मे भी यही बात होती है।

कभी कभी कवि प्रस्तुत वस्तु को अप्रस्तुत के सदृश व्यवहार करते देखता है। अप्रस्तुत वस्तु के साथ प्रस्तुत के सादृश्य पर उसका ध्यान

---

१. 'प्रीतिजनन एव पर्यवसानादैकरूप्येऽपि प्रीतेर्वैलक्षण्याद्वैलक्षण्यमिति भावः"
—साहित्यदर्पण टीका पृष्ठ ५५५

केन्द्रित न होकर केवल उनके व्यवहारसादृश्य पर वह केन्द्रित रहता है और इसी व्यवहारसादृश्य के कारण उसे अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। इस अवस्था मे समसोक्ति अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है —

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयो कनककुम्भविलासभाजो ।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥'

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५६३

यहा वायु हठकामुक का आचरण करती हुई प्रतीत होती है। वायु के इस प्रकार के आचरण से हठकामुक की प्रतीति होती है।

कभी कभी प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के अत्यधिक व्यवहारसादृश्य के कारण कवि को प्रस्तुत मे अप्रस्तुत के ही दर्शन होते हे और वह उसी का वर्णन करता है। इस दशा मे अप्रस्तुतप्रशसालकार की अभिव्यक्ति होती है।

सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारो का यह वर्गीकरण कवि की चित्तवृत्तियो के आधार पर किया गया है। जो अलङ्कार जिस चित्तवृत्ति मे अभिव्यक्त होता है वह उससे सम्बद्ध है। भारतीय आलङ्कारिको ने इनके वर्गीकरण मे विशेषत' भाषा तथा उससे प्रभावित होने वाले सहृदय को आधार माना है। यद्यपि भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा कवि सहृदय को अपनी ही अनुभूति तक पहुँचाता है तथापि कवि की चित्तवृत्ति को आधार मानकर जो वर्गीकरण किया जायगा उसमे भाषा तथा सहृदय को आधार मानकर किए हुए वर्गीकरण से साधारण विलक्षणता आ जाना स्वाभाविक है। भाषा के प्रत्येक प्रयोग के लिए तत्सम्बद्ध कवि की चित्तवृत्ति ढूढना सम्भव नही। अत भाषा के आधार पर किए गए कतिपय भेदो की व्याख्या कवि की चित्तवृत्तियो के आधार पर सम्भव नही। दोनों की व्याख्याप्रणाली मे भी साधारण अन्तर स्वाभाविक है। कवि की चित्तवृत्ति अथवा अनुभूति से उत्पन्न अभिव्यक्ति की प्रक्रिया तथा उस अभिव्यक्ति से उत्पन्न सहृदय की अनुभूति की प्रक्रिया मे अन्तर है।

भाषा तथा सहृदय को आधार मानकर किए हुए वर्गीकरण मे चमत्कार का हेतु अलकारभेद का निर्णायक होता है । भाषा अपने से सम्बद्ध अर्थ के द्वारा सहृदय के हृदय मे चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार ही अलकार होता है । अत इनका वर्गीकरण इनके चमत्कारहेतु के आधार पर ही सम्भव है। आलकारिको ने वर्गीकरण के इस आधार को स्वीकार किया है । अलकारो की परिभाषा मे उन्होने चमत्कारी अथवा उसके पर्यायवाची सुन्दर, हृद्य आदि शब्दो का प्राय प्रयोग किया है। एक उपमा की ही परिभाषा ले । इससे यह स्पष्ट हो जाएगा ।

"सादृश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालकृति —"

रसगगाधर पृ० २०४

"हृद्य साधर्म्यमुपमा" हेमचन्द्र—काव्यानुशासन १ । ६

"चमत्कारि साम्यमुपमा" वाग्भट—काव्यानुशासन पृ० ३३

"उपमानोपमेयत्वयं ग्ययोरर्थयोर्द्वयो ।
हृद्य साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यविदिभि ।" चित्रमीमासा पृ० ७

अपनी परिभाषा की व्याख्या करते हुए जगन्नाथ लिखते है —

"सौन्दर्य च चमत्कृत्याधायकत्वम्। चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदय-प्रमाणकः'—रसगगाधर पृ० २०४

इस प्रकार जगन्नाथ ने सादृश्य को उपमा का चमत्कृत्याधायक अथवा उसके चमत्कार का हेतु कहकर चमत्कारहेतु को स्पष्टत अलकार का आधार स्वीकार किया है। अन्य आलकारिको के साथ भी यह बात है। जिन आलकारिको ने अलकार की परिभाषाओ मे इन शब्दो का सन्निवेश नही किया है, वे भी अलकार के सामान्यलक्षण के नाते चमत्कार को वहा आवश्यक समझते है। आलकारिको के द्वारा किए हुए अलकारो के वर्गीकरण की आलोचना इसी दृष्टिकोण से उचित है।



आलंकारिकों द्वारा किया हुआ सादृश्यमूलक अलंकारों का वर्गीकरण तथा उसकी आलोचना

रुय्यककृत निरूपण का विवेचन —

रुय्यक ने सादृश्यमूलक अलकारो का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार उपमा इन अलकारो के मूल मे है।[1] उपमा को सादृश्य अथवा साधर्म्य कहा जा सकता है। रुय्यक के अनुसार साधर्म्य तीन प्रकार का होता है—भेदप्राधान्य, अभेदप्राधान्य तथा भेदाभेदतुल्यत्व।[2]

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण को रुय्यक ने भेदाभेद-तुल्यत्व के आश्रित माना है।[3] रुय्यक ने यहा स्मृति मे आधार का विवेचन चेतनाश के रूप को पृथक् रखकर किया है। यहा चेतनाश का रूप स्मृति होता है। स्मृति ज्ञान का एक पृथक् भेद मानी गई है। अत प्रस्तुत प्रकरण मे रूपसहित चेतनाश को लक्ष्य करके यदि स्मृति को स्मरणालकार का आधार माना जाए तो अनुचित न होगा।

अभेदप्राधान्य के रुय्यक ने दो भेद किए है—आरोप तथा अध्यवसाय।[4] रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को उन्होने आरोप पर आश्रित माना है।[5] इस प्रकार भ्रान्तिमान् तथा सन्देह अलकार जिनमे चमत्कार क्रमश सादृश्यमूलक भ्रान्ति तथा सन्देह पर आश्रित रहता है इसी भेद के अन्तर्गत कर दिए गए है।

---

१ "उपमैव प्रकारवैचित्र्येणानेकालकारबीजभूता—" सर्वस्व पृ० २४

२ "साधर्म्ये त्रय· प्रकारा·—भेदप्राधान्य व्यतिरेकवत्, अभेदप्राधान्यं रूपकवत् द्वयोस्तुल्यत्वं यथा उपमायाम्—" सर्वस्व पृ० २४

३. "तदेते सादृश्याश्रयणेन भेदाभेदतुल्यत्वेऽलङ्कारा निरूपिता.—" सर्वस्व पृ० ३१

४. "एवमभेदप्राधान्ये आरोपगर्भानलकारान् लक्षयित्वाध्यवसानगर्भांल्लक्षयति—" सर्वस्व पृ० ५३

५. देखिए सर्वस्व पृ० ३२—५३

उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति को उन्होने अध्यवसाय पर आश्रित माना है। उनके अनुसार अध्यवसाय दो प्रकार का होता है—साध्य तथा सिद्ध।[1] उत्प्रेक्षा मे यह साध्य होता है तथा अतिशयोक्ति मे यह सिद्ध होता है।[2] यह मत उचित ही है।

व्यतिरेक तथा सहोक्ति को उन्होंने भेदप्राधान्य पर आश्रित माना है।[3] व्यतिरेक को तो भेदप्राधान्य पर आश्रित कहना ठीक ही है, परन्तु सहोक्ति को भी उसी पर आश्रित कहना उचित नही। सहोक्ति मे चमत्कार का कारण भेदप्राधान्य न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। सहोक्ति मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का सह अथवा उसके पर्यायवाची शब्द के द्वारा एक धर्म से सम्बन्ध दिखाया जाता है। निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

"सा सहोक्ति सहार्थस्य बलादेक द्विवाचकम्।"—

काव्यप्रकाश सू० १७०

इसकी व्याख्या करते हुए वामनाचार्य लिखते है —

"एवं च यत्र गुणप्रधानभावावच्छिन्नयो शब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्धस्तत्रायमलंकार।" बालबोधिनी पृ० ६७१

इस प्रकार सहोक्ति मे दो वस्तुओ का एकधर्म से सम्बन्ध तो निश्चित है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक और वस्तु वहा मानी गई है और वह यह है कि उस धर्म से एक वस्तु का सम्बन्ध तो प्रधानत होता है तथा दूसरी का गौणत। जिस शब्द के साथ सह जुडा हुआ होता है उसका सम्बन्ध गौणरूप से होता है तथा अन्य का प्रधान रूप से होता है। इसका कारण पाणिनि मुनि का 'सहयुक्तेऽप्रधाने'[4] सूत्र है। वामनाचार्य का भी यही मत है —

---

१ "स च द्विविध—साध्य: सिद्धश्च।" सर्वस्व पृ० ५३

१. "एवमध्यवसायस्य साध्यतायामुत्प्रेक्षा निर्णीय सिद्धत्वेऽतिशयोक्ति लक्षयति।" सर्वस्व पृ० ६६

३ "भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः—"

सर्वस्व सू० २८

'भेदप्राधान्य इत्येव।' सर्वस्व पृ० ८५

४. पाणिनि २।३।१९

"यत्र 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति पाणिनिसूत्रेण विहिता सहार्थयोगेऽप्रधाने तृतीया तत्रैव यमलकार, गुणप्रधानभावावच्छिन्नयो शाब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्धस्य तत्रैवावस्थितिरिति।"—बालबोधिनी पृ० ६७२

अब प्रश्न यह उठता है कि यहा चमत्कार का कारण दो वस्तुओ का एकधर्माभिसम्बन्ध है अथवा उनमे से एक का प्रधानत तथा अन्य का गौणत उस धर्म से सम्बद्ध होना चमत्कार का हेतु है। इसका यही उत्तर हो सकता है कि चमत्कार का प्रमुख कारण वस्तुओ का एकधर्माभिसम्बन्ध ही है। उनमे से एक का प्रधानत तथा अन्य का गौणत उस धर्म से सम्बद्ध होना केवल गौण है तथा प्रधान चमत्कार का उपकारक है। निम्नलिखित उक्ति इसी ओर सकेत करती है।

"यदि तु दीपके तुल्ययोगिताया चोपमानोपमेययो प्राधान्येन क्रियादिरूपधर्मान्वय, इह तु गुणप्रधानभावेनैवेति विशेष सन्नपि विच्छित्तिविशेषानाधायकतया नालकारताप्रयोजक, अपितु तदवान्तरभेदताया इति विभाव्यते, निरस्यते च प्राचीनमुखदाक्षिण्यम् तदा निविशतामियमप्यलकारान्तरेष्वेव, किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालकारभेदे वचनभगीनामानन्त्यादलकारानन्त्यप्रसगादिति।"—रसगगाधर पृ० ४८७, ४८८

इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि सहोक्ति मे उपमान तथा उपमेय का धर्म के साथ सम्बन्ध गुणप्रधानभाव से युक्त भले ही हो गुणप्रधानभाव अलंकारता का प्रयोजक नही। प्रधानता एकधर्माभिसम्बन्ध की ही है। वही चमत्कार का कारण है। अत अलकार का मूल है। उपमानोपमेय का धर्म से गुणप्रधानभाव से सम्बन्ध अवान्तर भेद का प्रयोजक कहा जा सकता है। एकधर्माभिसम्बन्ध तुल्ययोगिता तथा दीपक मे भी होता है।[1] अत सहोक्ति को उन्ही का एक भेद कहना उचित होगा।

---

१. "पदार्थाना प्रस्तुतानामन्येषा वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्ध स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥" साहित्यदर्पण १०।४७

"अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते—"—साहित्यदर्पण १०।४८

ये परिभाषाए यह सिद्ध करती हैं कि तुल्ययोगिता तथा दीपक मे एकधर्माभिसम्बन्ध होता है।

उद्भट ने एक अन्य आधार पर सहोक्ति को दीपक से पृथक् सिद्ध करने का यत्न किया है। इनके अनुसार दीपक मे दो वस्तुओ से सम्बद्ध एक शब्द से द्योतित जो दो क्रियाए होती है वे समकालीन नही होती। सहोक्ति मे इसके विपरीत वे समकालीन होती हे —

"ननु · सजहार शरत्काल —इत्यादावपि पदेनैकेन वस्तुद्वयसमवेते द्वे क्रिये कथ्येते अतश्च तत्रापि सहोक्तित्व प्राप्नोतीत्याशक्योक्तम्—तुल्यकाले इति।" काव्यालकारसारसग्रह पृ० ७२

उद्भट का यह मत पूर्णत सत्य नही। यह ठीक है कि सहोक्ति मे एक शब्द से द्योतित विभिन्न वस्तुओ की क्रियाए समकालीन होनी हैं, परन्तु दीपक मे वे सदैव असमकालीन हो ऐसी बात नही। 'प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते'[1] दीपक की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार दीपक के लिए केवल इतना आवश्यक है कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ का एक धर्म से सम्बन्ध होना चाहिए। यह धर्म यदि क्रिया है तो केवल इतना आवश्यक है कि इन वस्तुओ का इस क्रिया से सम्बन्ध हो। इन वस्तुओ के इस क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण इन वस्तुओ की जो विभिन्न क्रियाए होगी उनके लिए असमकालीन होना आवश्यक नही। वे समकालीन तथा असमकालीन मे से कोई भी हो सकती हैं।

दूसरे यदि दीपक मे क्रियाओ के लिए असमकालीन होना आवश्यक मान लिया जाए तो भी सहोक्ति से उसका यह भेद दोनो के पृथक् अलकार होने का आधार नही हो सकता।

दीपक मे चमत्कार का कारण वस्तुओ का एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। विभिन्न वस्तुओ से सम्बद्ध इन धर्मों का समकालीन अथवा असमकालीन होना चमत्कार का कारण नही होता। सहोक्ति मे भी चमत्कार का कारण वस्तुओ का एकधर्माभिसम्बन्ध ही होता है। इस प्रकार चमत्कारहेतुओ के समान होने के कारण दीपक तथा सहोक्ति को एक अलकार के अन्तर्गत मानना उचित होगा। दूसरे वस्तुओ से सम्बद्ध एक धर्म सदा क्रिया ही हो ऐसी बात नही। यह क्रिया के अतिरिक्त गुण आदि भी हो सकता है। जहा धर्म क्रिया होगा वहा तो क्रियाओ के

---

१. साहित्यदर्पण १०। ४८

समकालीनत्व तथा असमकालीनत्व के आधार पर दीपक तथा सहोक्ति मे आंशिक भेद किया जा सकता है, परन्तु जहा यह धर्म गुण आदि होगा वहा दीपक तथा सहोक्ति के भेद का क्या आधार होगा ? अत इन अलकारो को पृथक् पृथक् न मानकर एक अलकार के भेद मानना उचित होगा।

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना तथा दृष्टान्त को रुय्यक ने गम्यमानौपम्य पर आश्रित माना है[1] और उनको एक श्रेणी मे रखा है। गम्यमान औपम्य के आधार पर इनका विभाजन उचित नही। यदि गम्यमानौपम्य अथवा व्यग्य सादृश्य विभाजन का आधार माना जाता है तो उपमा को छोडकर अन्य सब सादृश्यमूलक अलकार एक ही श्रेणी मे आ जाएगे। उस दशा मे गम्यमानौपम्य के अन्तर्गत उपर्युक्त ये पाच अलकार ही नही रहेगे अपितु उपमा के अतिरिक्त अन्य सब सादृश्यमूलक अलकार आ जाएगे।

दीपक तथा तुल्ययोगिता मे चमत्कार का कारण एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। सहोक्ति मे भी यही बात होती है। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है। अत इन तीनो को एक ही अलकार के भेद मानना उचित है।

रुय्यक तुल्ययोगिता तथा दीपक को भिन्न भिन्न अलंकार मानते हैं। इनके अनुसार दीपक मे उपमानोपमेयभाव वास्तव होता है परन्तु तुल्ययोगिता मे वह वैवक्षिक होता है। रुय्यक के अनुसार उपमेय के लिए प्रस्तुत होना तथा उपमान के लिए अप्रस्तुत होना आवश्यक है। दीपक मे एक धर्म से सम्बद्ध वस्तुए प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत होती हे। अत वहा उनमे उपमानोपमेयभाव सम्भव है। तुल्ययोगिता मे वस्तुए केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत होती है। अत वहा उपमानोपमेयभाव वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है।[2]

---

१ "एवमध्यवसायाश्रयेणालकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलकारा इदानीमुच्यन्ते।" सर्वस्व पृ० ७१

२ "स च वास्तव एव। पूर्वत्र तु शुद्धप्राकरणिकत्वे शुद्धाप्राकरणिकत्वे वा वैवक्षिक', प्राकरणिकत्वाप्राकरणिकत्वप्रभावितत्वादुपमानोपमेयभावस्य।"

—सर्वस्व पृ० ७३

रुय्यक का यह मत समीचीन नही । औपम्य के लिए केवल इतना आवश्यक है कि वस्तुओ मे कोई साधारणधर्म हो । जब दो या अधिक वस्तुओ मे कोई साधारणधर्म होगा तब वे वस्तुए स्वत ही उस साधारणधर्म के आधार पर सदृश हो जाएगी । उनके सदृश होने के लिए यह आवश्यक नही कि उनमे से कुछ प्रस्तुत तथा कुछ अप्रस्तुत हो । सादृश्य की सामान्य परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' मे इस प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का सन्निवेश नही । जगन्नाथ भी सादृश्य के लिए प्रस्तुताप्रस्तुत-भाव को आवश्यक नही मानते ।[1]

जगन्नाथ दीपक तथा सहोक्ति को तुल्ययोगिता के अवान्तर भेद मानते है । तुल्ययोगिता मे एक धर्म से सम्बन्धित पदार्थ प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होते है और दीपक मे वे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत होते है । इस प्रकार तुल्ययोगिता तथा दीपक मे केवल आशिक भेद है । प्रथम मे जहा धर्म से सम्बद्ध पदार्थ या तो प्रस्तुत होने चाहिए या अप्रस्तुत वहा दीपक मे वे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो प्रकार के होने चाहिए । जगन्नाथ इस आशिक भेद को भिन्न अलकार होने के लिए पर्याप्त नही समझते । अत वे दीपक को तुल्ययोगिता के ही अन्तर्गत कर देते है ।[2] सहोक्ति को इन्होने तुल्ययोगिता तथा दीपक के अन्तर्गत माना है इसका विवेचन पहले किया जा चुका है ।

विश्वेश्वर को दीपक तथा तुल्ययोगिता को एक अलकार के भेद

---

१ "न च दीपके वास्तवमौपम्यं गम्यम्, उपमानोपमेययो प्रकृताप्रकृतरूपयोस्तत्र सत्त्वात् । तुल्ययोगिताया च वैवक्षिकम्, उपमानोपमेयस्वरूपाभावात् । अतो वैलक्षण्यमिति वाच्यम् । उपमेयोपमानत्वयो. प्रकृताप्रकृतरूपत्वे मानाभावात् । 'खमिव जल जलमिव खम्' इत्याद्युपमेयोपमाया प्रतीपे चौपम्यानापत्तेश्च ।"

—रसगंगाधर पृ० ४३६, ४३७

२. "तुल्ययोगितातो दीपक न पृथग्भावमर्हति, धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात् ।··· न च धर्मस्य सकृद्वृत्तेरविशेषेऽपि धर्मिणा प्रकृतत्वाप्रकृतत्वाभ्या प्रकृताप्रकृतत्वेन च तुल्ययोगिताया दीपकस्य विशेष इति वाच्यम् । तथापि तुल्ययोगितायां धर्मिणा केवलप्रकृतत्वस्य केवलाप्रकृतत्वस्य च विशेषस्य सत्वादलंकारद्वैतापत्तेः ।······सर्वेषामप्यलकाराणा प्रभेदवैलक्षण्याद्वैलक्षण्यापत्तेश्च ।"

रसगंगाधर पृ० ४३६

है। उनके अनुसार साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर ही दोनो की पृथक्ता सम्भव है। परन्तु यदि इन दोनो को एक ही अलंकार के दो भेद माना जाता है तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव एव बिम्बप्रतिबिम्बभाव को केवल अवान्तर भेद का कारण माना जाता है तो उन्हे इसमे कोई आपत्ति नही:—

"तस्मादस्मदुक्तेनैव पथा प्राचीनैर्विहितोऽलकारयोरनयोर्विभाग संगमनीय । यदि तु न तेषा दाक्षिण्य तदैकस्यैवालकारस्य द्वौ भेदौ प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च । यच्चानयो किंचिद्वैलक्षण्य तत्प्रभेदताया एव साधकम्, नालकारताया इति सुवचम् ।"—रसगगाधर पृ० ४५५

इससे स्पष्ट है कि रसगगाधरकार को इन अलकारो के पृथक् मानने मे कोई आग्रह नही। उन्हे आग्रह है तो केवल इतना ही कि यदि इन अलकारो को पृथक् माना जाता है तो उनकी पृथक्ता का आधार साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही हो सकता है और कोई नही। विमर्शिनीकार का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार प्रतिवस्तूपमा मे अप्रस्तुत अर्थ का उपादान प्रस्तुत अर्थ के साथ सादृश्य दिखाने के लिए होता है, परन्तु दृष्टान्त मे यह सादृश्यप्रतिपत्ति के लिए न होकर प्रस्तुतार्थ के स्पष्टीकरण के लिए होता है—

"विमर्शिनीकारस्तु प्रतिवस्तूपमायामप्रकृतार्थोपादान तेन सह प्रकृतार्थस्य सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थम् । दृष्टान्ते तु तदुपादानमेतादृशोऽर्थोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थप्रतीतेर्विशदीकरणमात्रार्थम्, न तु सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थम् । अत सादृश्यप्रतीत्यप्रतीतिभ्यामनयोरलकारयोर्भेद ।"—रसगगाधर पृ० ४५३

रसगगाधरकार इसका खण्डन करते हुए लिखते है कि प्रकृत तथा अप्रकृत का उपादान दोनो मे समान रूप से होता है। अतः यह कहना उचित नही कि एक मे सादृश्य-प्रतीति होती है तथा अन्य मे नही होती। दूसरे प्रतीति की स्पष्टता सादृश्य का ही दूसरा नाम है—

"प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरुपादानस्यालकारद्वयेऽप्यविशिष्टत्वादेकत्र सादृश्यप्रत्ययः, अन्यत्र नेत्यस्याज्ञामात्रत्वात् । वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च । एतादृशोऽर्थोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थप्रतीतिविशदीकरणस्य त्वदभिहितस्य सादृश्यापरपर्यायित्वाच्च ।" रसगगाधर पृ० ४५३

रसगंगाधरकार द्वारा विमर्शिनीकार के उपर्युक्त मत का इस प्रकार खण्डन उचित ही है। दोनो अलंकारो मे सादृश्यप्रतीति समान रूप से होती है। अत साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही इन अलकारो का विभेदक है। परन्तु रसगगाधरकार द्वारा दोनो अलकारो को एक अलकार के भेद मानने के लिए तत्पर हो जाना उचित नही। इन दोनो अलकारो मे वस्तुप्रतिस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप मे चमत्कारभेद स्पष्ट है। चमत्कारभेद ही अलकारभेद का हेतु माना गया है। यह बात रसगगाधरकार ने भी स्वीकार की है। वैसे तो सादृश्य अनेक अलंकारो के मूल मे रहता है, परन्तु रसगगाधरकार ने उपमा को उनसे पृथक् इसीलिए माना है क्योकि उपमा मे वह सादृश्य चमत्कार का कारण है परन्तु दूसरो मे नही। इसीलिए उन्होने उपमा की परिभाषा मे 'सुन्दर' शब्द को साम्य का विशेषण बनाया है।[1]

अतः प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त को भिन्न भिन्न अलकार मानना ही उचित होगा।

रुय्यक ने समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशसा को विशेषणविच्छित्ति[2] पर आश्रित माना है। ये दोनो सादृश्यमूलक अलकार है। सादृश्यमूलक अलकारो का चमत्कार किसी प्रकार के सादृश्यविधान पर आश्रित रहता है। अतः इन अलकारो को विशेषणविच्छित्ति पर आश्रित न कहकर व्यवहारसादृश्य के कारण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे से किसी एक के द्वारा अन्य के आक्षेप पर आश्रित कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनकी निम्नलिखित परिभाषाओ से यह स्पष्ट है —

"परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टै समासोक्ति" —काव्यप्रकाश सूत्र १४८

"अप्रस्तुतप्रशसा या स्यात्सैव प्रस्तुताश्रया" —काव्यप्रकाश सूत्र १५१

यहा समासोक्ति की परिभाषा मे 'श्लिष्टै' शब्द से यह तत्पर्य है कि वह अर्थ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो ओर लागू हो। 'भेदकै.' से तात्पर्य केवल विशेषण ही नही अपितु विशेषण के अतिरिक्त वे अन्य सब तत्त्व है जो

---

१ "सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः—"

रसगंगाधर पृ० २०४

२ विशेषणों के चमत्कार को विशेषणविच्छित्ति कहते हैं।

सादृश्य के प्रतिपादक है। प्रदीपकार की निम्नलिखित उक्ति इसी ओर संकेत करती है—

"अत्र विशेषणस्य श्लिष्टत्व चोपलक्षणम् प्रकृताप्रकृतसाधारणत्वस्य औपम्यगर्भत्वस्य सारूप्यस्य च सभवात्।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६१२

अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रसङ्ग मे मम्मट कहते है—

"अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६१८

वामनाचार्य का इस विषय मे मत है—

"तथा चाप्राकरणिकेन प्राकरणिकाक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशसा प्राकरणिकेनाप्राकरणिकाक्षेप समासोक्तिरिति विवेक। एव चान्यवृत्तान्तस्यान्यवृत्तान्ताक्षेपकत्वमलङ्कारत्वबीजमिति फलितम्।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६१८

इन उक्तियो से स्पष्ट है कि व्यवहारसादृश्य के कारण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे से किसी एक के द्वारा अन्य का आक्षेप ही इन दोनो अलङ्कारो के चमत्कार का कारण है।

इन अलङ्कारो मे व्यग्य का भी चमत्कार होता है। समासोक्ति मे यह अप्रस्तुत के रूप मे तथा अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रस्तुत के रूप मे होता है। अत ये व्यग्यमूलक अलङ्कार है। परन्तु है ये अलङ्कार ही। इन्हे ध्वनि के अन्तर्गत रखना उचित नही। ध्वनि मे व्यग्यार्थ प्रधान होता है, परन्तु इनमे वह अप्रधान है तथा वाच्यार्थ का उपस्कारक है। अत ये ध्वनि के अन्तर्गत न होकर गुणीभूतव्यग्य के अन्तर्गत है। ध्वनिकार का यही मत है—

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यग्य काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात्प्रकर्षवत्॥" —ध्वन्यालोक ३।३४

इस प्रकार भाषा अथवा तज्जन्य चमत्कार के आधार पर सादृश्यमूलक अलङ्कारो का वर्गीकरण उपर्युक्त प्रकार से होता है। इसे सक्षेप मे हम निम्न प्रकार से लिख सकते है:—

सादृश्य के लिए साधारणधर्म की आवश्यकता है। सादृश्य की परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' से स्पष्ट है कि सादृश्य के

लिए एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो दो या अधिक वस्तुओ मे विद्यमान रहे। यह धर्म उन वस्तुओ मे रहकर उनमे सम्बन्ध स्थापित करता है। अत सादृश्य एक सम्बन्ध-विशेष है तथा साधारणधर्म उस सम्बन्ध का हेतु है। यह साधारणधर्म दो प्रकार से सम्भव है—उपमेय तथा उपमान मे इसका एक रूप से निर्देश हो अथवा पृथक् रूप से। पृथक् रूप से निर्देश पुन' दो प्रकार का होता है—वस्तुप्रतिवस्तुभाव से अथवा बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से। इस प्रकार साधारणधर्म तीन प्रकार का होता है—साधारणधर्म का ऐक्य, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव। रुय्यक ने साधारण धर्म के यही तीन भेद माने है।[1]

इनके उदाहरण क्रमश. निम्नलिखित है —

"मुख कमलमिव सुन्दरमस्ति।"

"धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत स्तुति का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५४

"अविदितगुणापि सत्कविभणिति· कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृश मालतीमाला॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५५

प्रथम उदाहरण मे एक ही सौन्दर्य धर्म मुख तथा कमल मे उसी रूप मे विद्यमान है। अतः यहा साधारणधर्म मे ऐक्य है। द्वितीय उदाहरण मे समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव है तथा तृतीय उदाहरण मे मधुधारावमन तथा नेत्रहरण मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

जब साधारणधर्म का निर्देश एक रूप से होता है तब सादृश्य दो प्रकार से सम्भव है—वाच्यरूप से अथवा व्यंग्यरूप से। जब सादृश्य वाच्य होता है तब हमारा ध्यान साधारणधर्म पर केन्द्रित न रहकर उन वस्तुओ के सम्बन्ध पर केन्द्रित रहता है जिनको वह साधारणधर्म सम्बद्ध किए हुए है। इस प्रकार इस दशा मे हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु साधारणधर्म न होकर

---

१. तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितयैकरूप्येण निर्देशः। क्वचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देश। पृथङ्निर्देशे च सम्बन्धिभेदमात्रम् प्रतिवस्तूपमावत्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत्।"—सर्वस्व पृष्ठ २६

वस्तुओं का सादृश्य होता है और वही चमत्कार का कारण होता है। प्रस्तुत उदाहरण "मुख कमलमिव सुन्दरम्" मे हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु सौन्दर्य न होकर मुख तथा कमल का इस रूप मे सादृश्य है। इस दशा मे उपमा अलङ्कार होता है।

साधारणधर्म के ऐक्य के निर्देश-भेद के अनुसार सादृश्य भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। ये ताद्रूप्य, सम्भावना तथा ऐक्य है। ये क्रमश रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार मे होते है।

कभी कभी यह सादृश्य स्मरण, सन्देह तथा भ्रान्ति के रूप मे अभिव्यक्त होता है। ऐसा क्रमश स्मरण, सन्देह तथा भ्रान्तिमान् अलङ्कार मे होता है।

साधारणधर्म की अनुगामिता की दशा मे जब सादृश्य व्यग्य होता है तब हमारा ध्यान वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध पर केन्द्रित न होकर उन वस्तुओ के साधारणधर्म से सम्बन्ध पर ही केन्द्रित रहता है। इस प्रकार हमे वस्तुओ के सादृश्य की प्रतीति न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध की प्रतीति होती है और यही चमत्कार का हेतु होती है। निम्नलिखित उदाहरणो से यह स्पष्ट है —

'मुख कमलमिव सुन्दरमस्ति।'
'मुखकमले सुन्दरे स्त।'

प्रथम उदाहरण मे सादृश्य वाच्य है। अत यहा मुख तथा कमल का सादृश्य अभिप्रेत है। दूसरे उदाहरण मे सादृश्य व्यग्य है। अत वहा मुख तथा कमल का सौन्दर्य से सम्बन्ध अभिप्रेत है। प्रथम उदाहरण का अर्थ है कि मुख कमल के समान सुन्दर है, अर्थात् मुख जैसा सुन्दर है वैसा ही सुन्दर कमल है, अथवा मुख मे जैसा सौन्दर्य है वैसा ही सौन्दर्य कमल मे है। अत एक ही सौन्दर्य मुख तथा कमल मे समान रूप से विद्यमान है। फलत दोनो मे सादृश्य है।

द्वितीय उदाहरण मे यह बात नही। इसका अर्थ है कि मुख तथा कमल सुन्दर है--अर्थात् मुख सुन्दर है तथा कमल सुन्दर है अथवा मुख मे सौन्दर्य है तथा कमल मे सौन्दर्य है। इसका यह अर्थ नही निकलता कि जैसा सौन्दर्य मुख मे है वैसा ही सौन्दर्य कमल मे है। अत इसमे चमत्कार का कारण मुख तथा कमल का सादृश्य न होकर इन दोनो का एक धर्म से

सम्बन्ध चमत्कार का कारण है। यह एकधर्माभिसम्बन्ध दीपक, तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति मे होता है। रसगङ्गाधरकार की निम्नलिखित उक्ति दीपक तथा तुल्ययोगिता मे विद्यमान इसी एकधर्माभिसम्बन्ध के चमत्कार की ओर सकेत करती है—

"यत्र यथोक्तानां धर्मिणा यथोक्तधर्मान्वय एव चमत्कारी तत्र तुल्य योगिता दीपक वा। यत्र तादृशधर्मान्वयप्रयुक्तं सादृश्यमभेदो वा तत्रोपमा-रूपकादिकमेवालङ्कारताप्रयोजकम्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४२८

जब साधारणधर्म का निर्देश एक रूप से न होकर वस्तुप्रतिवस्तुभाव से अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से होता है तब हमारा ध्यान वस्तुओ के सम्बन्ध पर केन्द्रित न होकर उन धर्मों के ही सम्बन्ध पर केन्द्रित रहता है और वही चमत्कार का कारण होता है। अत इस दशा मे साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव चमत्कार का कारण होता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव का चमत्कार प्रतिवस्तूमा मे तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव का चमत्कार दृष्टान्त मे होता है।

कभी कभी सावारणधर्म का तो निर्देश अवश्य होता है परन्तु प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे से केवल एक का अभिधान होता है। अन्य व्यंग्य होता है। इस दशा मे साधारणधर्म के द्वारा अन्य का आक्षेप चमत्कार का कारण होता है। यह समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशसा मे होता है।

विद्यानाथ द्वारा किये हुए वर्गीकरण की सदोषता

विद्यानाथ का वर्गीकरण चमत्कार हेतु के पूर्वोक्त आधार की दृष्टि से सदोष सिद्ध होता है। इन्होने साधर्म्य के तीन भेद किए है—भेदप्रधान, अभेदप्रधान तथा भेदाभेदप्रधान।[1]

रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को इन्होने अभेदप्रधानसाधर्म्य पर अश्रित माना है।[2] इस प्रकार सन्देह तथा भ्रान्तिमान् जिनमे चमत्कार का हेतु क्रमश सन्देह तथा भ्रान्ति है इसी श्रेणी मे रख

---

१ "साधर्म्य त्रिविधम्–भेदप्रधानम्, अभेदप्रधानम्, भेदाभेदप्रधान चेति।"
—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २४६

२ 'रूपकपरिणामसन्देहभ्रान्तिमदुल्लेखापह्नवानामभेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धनत्वम्।'

दिए गए है। दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप तथा व्यतिरेक को इन्होने भेदप्रधानसाधर्म्य पर आश्रित माना है।[1] इनमे केवल व्यतिरेक मे ही चमत्कार अभेदप्रधानसाधर्म्य पर आश्रित है। अत अन्य अलङ्कारो को इस श्रेणी मे रखना उचित नही। उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण को इन्होने भेदाभेदसाधारणसाधर्म्य पर आश्रित माना है।[2] यहा स्मरण को इस श्रेणी मे रखना उचित नही। उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति को इन्होने अध्यवसाय पर आश्रित माना है।[3] यह उचित ही है। समासोक्ति को इन्होने विशेषणवैचित्र्य पर आश्रित माना है।[4] इसे इसकी अपेक्षा व्यवहारसादृश्य के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत के आक्षेप पर आश्रित मानना अधिक उपयुक्त है।



१. "दीपकतुल्ययोगितानिदर्शनादृष्टान्तप्रतिवस्तूपमासहोक्तिप्रतीपव्यतिरेका भेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धनाः।"

२ "उपमानन्वयोपमेयोपमास्मरणाना भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यमूलता।"

३. "उत्प्रेक्षातिशयोक्ती अध्यवसायमूले।"

४, 'समासोक्तिपरिकरौ विशेषणवैचित्र्यमूलौ।"—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २४६

उपमा

उपमा की परिभाषा प्रायः सभी आलकारिको ने की है, परन्तु उनकी परिभाषाओ मे थोडा या अधिक अन्तर है। एक बात पर ये आलङ्कारिक अवश्य सहमत है और वह यह है कि इन्होने अपनी उपमा की परिभाषा मे सादृश्य, साम्य, साधर्म्य आदि मे से किसी एक शब्द का सन्निवेश किया है। भरत, दण्डी, जयदेव, जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने सादृश्य शब्द का, वामन, भामह, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा वाग्भट ने साम्य शब्द का तथा उद्भट, मम्मट, रुय्यक एव हेमचन्द्र ने साधर्म्य शब्द का सन्निवेश किया है।

कतिपय आलकारिको ने सादृश्य, साम्य अथवा साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य शब्दो का भी अपनी उपमा की परिभाषा मे सन्निवेश किया है। ये शब्द प्रधानत तीन प्रकार के है—गुणलेश अथवा उसका पर्यायवाची शब्द जो सादृश्य आदि का कारण है, उपमानोपमेय जिनमे सादृश्य स्थापित किया जाता है तथा उपमा के अन्य अलकारो से विभेद के सूचक शब्द।

भामह तथा वामन ने गुणलेश तथा उपमानोपमेय दोनो प्रकार के शब्दो का प्रयोग किया है.—

"विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभि ।
उपमेयस्य यत्साम्य गुणलेशेन सोपमा ॥"—भामहालकार २ । ३०

"उपमानोपमेयस्य गुणलेशत साम्यमुपमा ।"—काव्यालकारसूत्र ४।२।१

दण्डी ने केवल गुणलेश के पर्यायवाची शब्द का प्रयोग किया है—
"यथाकथञ्चित्सादृश्य यत्रोद्भूत प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्या प्रपञ्चोऽय प्रदर्श्यते ॥"—काव्यादर्श २ । १४

उद्भट तथा रुय्यक ने उपमानोपमेय शब्द का सन्निवेश किया है—
"यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययो ।
मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत् ॥"
—काव्यालकारसारसग्रह १ । १५

"उपमानोपमेययो साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा।"—सर्वस्व सू० १५

मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा विश्वेश्वर ने अन्य अलकारो से भेद-सूचक शब्दो का सन्निवेश किया है—

"साधर्म्यमुपमा भेदे" काव्यप्रकाश सू० १२५

"स्वत सिद्धेन भिन्नेन समतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥"

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २५४

"साम्य वाच्यमवैधर्म्य वाक्यैक्य उपमा द्वयो।"

—साहित्यदर्पण २०।१४

"तत्रैकवाक्यवाच्य सादृश्य भिन्नयोरुपमा।"—अलकारकौस्तुभ पृ० ४

प्रथम परिभाषा मे 'भेदे' के द्वारा अनन्वय का, द्वितीय मे 'स्वत-सिद्धत्व' आदि के द्वारा उत्प्रेक्षा आदि का, तृतीय मे 'वाच्य' आदि के द्वारा रूपकादि का तथा चतुर्थ मे 'एक' आदि के द्वारा उपमेयोपमा आदि का व्यवच्छेद किया गया है।

उपमा की परिभाषा मे 'गुणलेशत' अथवा इसके पर्यायवाची शब्द का सन्निवेश अनावश्यक है। यह गुणलेश सादृश्य शब्द मे अन्तर्भूत है। अत. इसके पृथक् निर्देश की आवश्यकता नही। सादृश्य की परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' की गई है। इस प्रकार 'तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' अथवा अवयवसामान्ययोग इसका एक अग है। यह अवयवसामान्ययोग गुणसामान्ययोग अथवा क्रिया-सामान्ययोग के रूप मे होता है। अत 'गुणलेशत' के पृथक् निर्देश की आवश्यकता नही।

उपमानोपमेय के भी पृथक् निर्देश की परिभाषा मे आवश्यकता नही। सादृश्य शब्द से इन दोनो का काम चल सकता है। सादृश्य ऐसी दो वस्तुओ को मानकर चलता है जिनमे एक दूसरी के समान हो। ये दो वस्तुएं ही क्रमश उपमेय तथा उपमान होती है। जिस वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य दिखाया जाता है वह उपमेय होती है तथा उसका जिससे सादृश्य दिखाया जाता है वह उपमान होती है। इस प्रकार उपमा-

नौपमेयभाव भी सादृश्य मे अन्तर्हित है। उपमानोपमेयभाव के सादृश्य मे इसी अन्तर्भाव को लक्ष्य करके मम्मटादि ने उपमा की परिभाषा मे इन शब्दो का सन्निवेश नही किया है। वामनाचार्य ने इसका समर्थन किया है।[1]

उपमा मे अन्य अलकारो से विभेदक तत्त्वो का सन्निवेश भी उचित नही। अलकार-स्वरूप का निर्णायक चमत्कारहेतु होता है। अत उसकी परिभाषा मे इस चमत्कारहेतु का ही सन्निवेश होना चाहिए, चमत्कारहेतु से असम्बद्ध अन्य अलकारो से विभेदक तत्त्वो का नही। विभेदक तत्त्वो का ज्ञान तो एक बाद की क्रिया है जिसका अलकारस्वरूप से उतना सम्बन्ध नही जितना अलंकारो की पारस्परिक तुलना की तर्कप्रणाली से सम्बन्ध है।

अलकार का स्वरूप चमत्कार है। इस चमत्कार के स्वरूपभेद के अनुसार ही भिन्न भिन्न अलकार बनते है। अत अलकार की परिभाषा मे चमत्कार अथवा उसके पर्यायवाची शब्दो का सन्निवेश उचित है। जहा इन शब्दो का सन्निवेश नही भी होता वहा अलकार के सामान्य लक्षण के द्वारा आक्षेप से इनकी उपस्थिति माननी चाहिए। उद्भट, वाग्भट, हेमचन्द्र, जगन्नाथ आदि ने उपमा की परिभाषा मे चमत्कारसूचक इन शब्दो का प्रयोग किया है:—

"यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययो ।
मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत् ॥"

—काव्यालकारसारसग्रह १। १५

"चमत्कारि साम्यमुपमा।"—काव्यानुशासन पृ० ३३

"हृद्य साधर्म्यमुपमा।"—काव्यानुशासन ६। १

"सादृश्यं सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृति ।"

—रसगंगाधर पृ० २०४

---

१ 'एवं चोपमानोपमेयरूपावनुयोगिनौ विना साधर्म्याख्यः सम्बन्धविशेषो नोपपद्यते इति अनुपपत्त्या आक्षेपेणैवोपमानोपमेयरूपयोरनुयोगिनोर्लाभ इति न न्यूनत्वं लक्षणवाक्यस्येति भावः।'—बालबोधिनी पृ० १४४

जगन्नाथ ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा मे सादृश्य तथा सुन्दर शब्द के अतिरिक्त 'वाक्यार्थोपस्कारक' का भी सन्निवेश किया है । अन्य ध्वनि-वादियो के समान जगन्नाथ अलकार को गौण अथवा अप्रधान स्थान देते हैं तथा इसे प्रधान अर्थ का उपस्कारक मानते है। जगन्नाथ के अनुसार प्रधानता तथा अलकारता परस्पर-विरोधी हैं ।[1] परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहां चमत्कार अलकार के कारण होता है वहा प्रधानता अलकार की ही होती है और वही वाक्यार्थ के रूप मे अभिव्यक्त होता है। वाक्यार्थ उससे कोई भिन्न वस्तु नही जिसका अलकार उपकार करे। ऐसा तो तभी सम्भव है जब अलकार शब्द तथा अर्थ से भिन्न कोई वस्तु हो। परन्तु ऐसी बात नही। अलंकार शब्द तथा अर्थ के रूप मे अभिव्यक्त होता है और उसी का रूप है।

व्यग्यार्थ की प्रधानना की दशा मे तो अलंकार का व्यंग्यार्थ से भिन्न रहकर उसका उपस्कारक होना सम्भव है, परन्तु वाच्यार्थ की प्रधानता की दशा मे ऐमी बात नही। व्यग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। अतः उसकी प्रधानता की दशा मे वाच्यार्थ के स्वरूप उपमा, रूपक आदि उसके अग होकर उसके उपस्कारक होते है।[2] परन्तु जब प्रधानता वाच्यार्थ की होती है तब अलंकार उससे भिन्न होकर उसके उपस्कारक नही होते, परन्तु उसी के स्वरूप होते हैं।

विश्वेश्वर ने परिभाषा मे 'वाक्यार्थोपस्कारक' शब्द के इस सन्निवेश के लिए जगन्नाथ की आलोचना की है —

"अलंकार्यवाक्यार्थस्याभावादनलकारत्वमित्युक्तम् । न हि 'वाक्यार्थ एव अलकार्य' इति नियमे प्रमाणमस्ति। सादृश्येन मुखस्यैवोत्कर्षात्तस्य विभावतया तदुत्कर्षेणैव रसोत्कर्षात् ।"—अलकारकौस्तुभ पृ० २५, २६

---

१. "न हि व्यंग्यत्वालकारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः । प्राधान्येन व्यग्यताया तु प्रधानत्वालकारत्वयोर्विरोधादुपस्कारकशब्दसन्निवेशः ।

—रसगंगाधर पृ० २३७

२ "ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे समीक्ष्य विनिवेशित. ।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥"
"विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन ।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ।" —ध्वन्यालोक २ । १७-१६

इसके अनुसार व्यंग्यार्थ की दशा मे भी यह आवश्यक नही कि अलंकार वाक्यार्थ का उपस्कारक हो। जब व्यग्यार्थ रस होगा तब यह भी सम्भव है कि अलंकार उपमेय विभाव का उत्कर्ष बढाकर रस का उपकार करे न कि वाक्यार्थ का। रस की अभिव्यक्ति समस्त प्रकरण से होती है उस एक वाक्य से नही। अत अलंकार के लिए वाक्यार्थ का उपस्कारक होना कोई नियम नही।

इस प्रकार सुन्दर हृद्य अथवा चमत्कारी सादृश्य उपमा की परिभाषा के लिए पर्याप्त है और यदि सौन्दर्य अथवा चमत्कार आदि को अलङ्कार-सामान्य के स्वरूप के नाते वहा आक्षेप से उपस्थित समझे तो केवल सादृश्य से ही काम चल जाएगा। कतिपय आलङ्कारिक सादृश्य अथवा साम्य का प्रयोग न करके साधर्म्य का प्रयोग करते है। यह पूर्व परिभाषाओ से स्पष्ट है। सादृश्य तथा साधर्म्य मे भेद है। सादृश्य मे अवयवसामान्य के अतिरिक्त अवयवविशेष का भी ध्यान रहता है परन्तु साधर्म्य मे केवल अवयवसामान्य का ध्यान रहता है। इसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

सादृश्य तथा साधर्म्य के भेद को दृष्टि मे रखते हुए यह स्पष्ट है कि उपमा मे साधर्म्य की प्रतीति न होकर सादृश्य की प्रतीति होती है। 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' इस उपमा के उदाहरण मे साधारणधर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख का कमल से सादृश्य अभिप्रेत है, मुख तथा कमल दोनो का साधारणधर्म सौन्दर्य से सम्बन्ध अभिप्रेत नही। यहा सम्बन्ध मुख का कमल से है मुख तथा कमल का सौन्दर्य से नही। अत उपमा की परिभाषा 'सुन्दर साधर्म्यम्' न करके 'सुन्दरम् सादृश्यम्' करना उपयुक्त है।



उपमा के तत्त्व

उपमेय तथा उपमान —सादृश्य के लिए ऐसी दो वस्तुओ की आवश्यकता है जिनमे से एक को दूसरी के सदृश बताया जाए। जिस वस्तु को दूसरी के सदृश बताया जाता है उसे उपमेय कहते है तथा उसे जिसके सदश बताया जाता है उसे उपमान कहते है। सादृश्य के द्वारा उपमेय को उपमान के पास लाया जाता है। उपमा का यही अर्थ है।[1] 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' इस उदाहरण मे उपमान कमल के द्वारा उपमेय मुख को समीप लाया जाता है। यह समीप लाना धर्मसामान्ययोग के द्वारा सम्भव है। सौन्दर्य धर्म मुख मे है, अत' वह उस कमल के समान है जो सौन्दर्य का प्रतीक है। उपमान मे साधारणधर्म का सद्भाव सुप्रसिद्ध होता है। अत उसके साथ उपमेय का सादृश्य दिखाने से उपमेय मे उस साधारणधर्म की प्रतीति सहज ही होती है जिसकी उपमेय मे प्रतीति कराना कवि को अभीष्ट है। इसीलिए उपमान तथा उपमेय की परिभाषाए निम्न प्रकार से की गई हैं —

"साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्ध पदार्थ· उपमानम्, तद्धर्मवत्तया वर्णनीय पदार्थ· उपमेयम्।"—बालबोधिनी पृ० ५४५

कतिपय विद्वानो ने उपमान तथा उपमेय की परिभाषाए अन्य प्रकार से की है। वे उपमान को उत्कृष्टगुणवान् तथा उपमेय को निकृष्टगुणवान् कहते है। वामन का यही मत है।[2]

उपमान को उत्कृष्टगुणवान तथा उपमेय को निकृष्टगुणवान कहकर उनमे गुण के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के द्वारा इस प्रकार भेद करना उचित नही। उपमेय को उपमान के सदृश बताने से कवि का प्रयोजन एक का अपकर्ष तथा द्वितीय का उत्कर्ष दिखाना नही होता और न ही इस सादृश्य का कारण यह होता है कि एक मे गुणो का अपकर्ष है तथा द्वितीय मे उत्कर्ष है, अपितु इस सादृश्य का प्रयोजन यही होता है कि उपमेय का

१. "उप समीपे मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्रा उपमेय कर्म) अनयेत्युपमा।"—बालबोधिनी पृ० ५४४

२ "उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम् यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्।"—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति पृ० ५४

उत्कर्ष स्पष्टत अभिव्यक्त हो जाए तथा इसका कारण भी यही होता है कि उपमेय मे कवि को गुण का उत्कर्ष प्रतीत होता है। इस गुणोत्कर्ष को दिखाने के लिए कवि उपमेय का उपमान से जो सादृश्य दिखाता है वह इसीलिए क्योकि उस गुणोत्कर्ष का प्रदर्शन और किसी प्रकार सम्भव नही।

यदि गुणोत्कर्ष तथा गुणापकर्ष के द्वारा उपमान तथा उपमेय मे भेद माना जाए तो उपमेय का साम्य उपमान से सम्भव नही। यह साम्य तो तभी सम्भव है जब इन दोनो मे धर्म की साधारणता मानी जाती है और वह भी बिना किसी उत्कर्ष अथवा अपकर्ष जनित भेदभाव के

उपमान के लिए यह आवश्यक नही कि वह स्वत सिद्ध हो। उपमान-विधान का प्रयोजन उपमेय मे अभीष्ट साधारणधर्म की प्रतीति कराना होता है। इसके लिए कवि कल्पना का आश्रय लेता है और ऐसे उपमान की कल्पना करता है जिसमे उसका उद्देश्य सिद्ध हो सके। उपमान की सत्यता अथवा असत्यता उसकी परिभाषा का अग नही। अत कवि ऐसे उपमान का विधान करने मे स्वतन्त्र है जिसकी सत्ता लोक मे न दिखाई दे। जगन्नाथ की निम्नलिखित उक्ति से यह स्पष्ट है —

"उपमानोपमेययो सत्यत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावान्नात्र दोषलेशोऽस्ति।"
—रसगगाधर पृ० २०५

जगन्नाथ का कल्पितोपमा का निम्नलिखित उदाहरण इस कथन का समर्थक है —

'स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात्कुटिलोऽलक'।

शशाकबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरग।"—रसगंगाधर पृ० २०६

यहा शशाकबिम्ब से लम्बमान उरग उपमान है। यह उपमान लोक मे अप्रसिद्ध है, फिर भी इसके उपमान बनने मे कोई वस्तु बाधक नही। कतिपय आलंकारिको का यह कथन उचित नही कि कल्पितोपमा का उद्देश्य उपमानान्तर का अभाव बताना होता है, अत यह उपमा न होकर अन्य अलंकार है। उपर्युक्त उदाहरण मे उपमानान्तर के अभाव की प्रतीति न होकर सादृश्य की प्रतीति होती है। अत. जगन्नाथ लिखते है —

"परे तु अस्या कल्पितोपमाया उपमानान्तराभावफलकत्वेनालंकारान्तरमाहः । तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात् । सन्निरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात् ।"—रसगगाधर पृ० २०६

उपर्युक्त श्लोक को उपमा का उदाहरण मानने के लिए विश्वेश्वर ने जगन्नाथ की आलोचना की है। विश्वेश्वर के अनुसार यह उदाहरण उपमा का न होकर उत्प्रेक्षा का है । इनके अनुसार उपमा मे उपमान अप्रसिद्ध न होना चाहिए,[1] उत्प्रेक्षा मे यह अप्रसिद्ध हो सकता है।

विश्वेश्वर का यह मत उचित नही। उपमा तथा उत्प्रेक्षा का विभेदक उपमान की प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धि न होकर सादृश्य तथा सम्भावना है। यह कोई नियम नही कि उत्प्रेक्षा मे उपमान कवि-कल्पित हो तथा उपमा मे वह स्वत सिद्ध हो। विद्यानाथ के मत का परिहार करते समय अप्पयदीक्षित ने यही बात कही है ।[2]

भरतादि प्राचीन आलकारिको के मत से भी यह स्पष्ट है कि उपमान के लिए स्वत सिद्ध होना आवश्यक नही। भरतमुनि का कल्पितोपमा का निम्नलिखित उदाहरण इसका द्योतक है—

"क्षरन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिन ।

मतङ्गजा विराजन्ते जगमा इव पर्वताः ॥"—नाटयशास्त्र १६ । ५३

यहा 'जंगमा पर्वता' उपमान स्वत सिद्ध नही अपितु कविकल्पित है। वामन के अनुसार भी कल्पितोपमा मे उपमान के लिए लोक-प्रसिद्ध होना आवश्यक नही ।[3]

---

१. "तत्रेदं चिन्त्य—'स्तनाभोग 'इत्युत्प्रेक्षैव उक्तविधोरगस्याप्रसिद्धेः ।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० २५

२. "तत्रोत्प्रेक्षाव्यावृत्तये स्वत.सिद्धेनेत्युक्तमयुक्तम् । उत्प्रेक्षायामिवकारस्य विषयविषयिणोस्तादात्म्यादिसम्भावनावाचकत्वेन तत्र साम्यस्यावाच्यतया तत एव तद्व्यावृत्तेः ।"—चित्रमीमासा पृ० ६

३. ननु कल्पिताया लोकप्रसिद्ध्यभावात् कथमुपमानोपमेयनियमः । गुणबाहुल्यस्योत्कर्षापकर्षकल्पनाभ्याम् ।"

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति पृ० ५५

कवि को उपमान चयन के लिए कल्पना करने की स्वतन्त्रता अवश्य है, परन्तु वह लौकिक अनुभव की सर्वथा अवहेलना नही कर सकता। लोक मे जिन वस्तुओ का सम्बन्ध बाधित है उनमे वह सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता। अग्नि तथा जल का विरोध लोकानुभव द्वारा सिद्ध है। अपनी कल्पना के द्वारा कवि इसका परिहार नही कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो असम्भव दोष माना जाता है —

"निष्पेतुरास्यादिव तस्य दीप्ता, शरा धनुर्मण्डलमध्यभाज ।

जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाज परिवेषिणोऽर्कात् ।'

—भामहालङ्कार २। ४७

यहा सूर्य से वारिधाराओ का गिरना असम्भव है। अत यह उदाहरण सदोष है।

सादृश्यविधान के लिए यह आवश्यक है कि उपमेय तथा उपमान भिन्न हो। उसी वस्तु का उससे सादृश्य सम्भव नही। सादृश्य के लिए भेद तथा अभेद दोनो तत्त्वो की आवश्यकता है। उसी वस्तु का उससे सादृश्य दिखाने मे यह सम्भव नही क्योकि इस दशा मे अभेद तत्त्व का लोप हो जाएगा और फलत पूर्ण एकता हो जाएगी। हेमचन्द्र की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है —

"साधर्म्य च देशादिभिर्भिन्नाना गुणक्रियादिसाधारणधर्मत्वम् । अभेदे ह्येकत्वमेव स्यात् । तेन 'पुरुष इव पुरुष' इति सत्यपि पुरुषद्वयस्य पुरुषत्वानुगमलक्षणे साम्ये नोपमा ।"—काव्यानुशासन पृ० ३३९

यही मत उद्भट का है।[1]

जहा उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य वर्णित होता है, वहा पर्यवसान सादृश्य मे न होकर अन्यसादृश्यव्यवच्छेद मे होता है। अनन्वय मे यही बात होती है। वहा उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य अभिप्रेत

१. "उपमानोपमेयभावश्च नात्यन्तं साधर्म्यणोपादाने सति भवति, यथा गौरिवायं गौरिति। अतः उक्तं मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरिति । कालादयोऽत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूताः······ ···· · · ·········गौरिवायं गौरित्यभिधाने तु न प्रवृत्तिनिमित्तभेद, गोत्वस्यैवैकस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।"

—लघुवृत्ति पृ० १८

न होकर अन्यसादृश्यव्यवच्छेद अथवा उसका अनुपमत्व अभिप्रेत होता है।[1]

सादृश्य मे प्रयोजन 'इव' शब्द के सन्निवेश से नही अपितु सादृश्य-प्रतीति से है। सादृश्य के लिए यह पर्याप्त नही कि शब्दो द्वारा सादृश्य का वर्णन कर दिया है परन्तु आवश्यक यह है कि हमे वस्तुत सादृश्य की प्रतीति हो। सादृश्य का क्षेत्र शब्दो तथा कोष के द्वारा उनमे जुडे हुए अर्थो तक ही सीमित नही है परन्तु पदार्थो पर सादृश्य की दृष्टि से विचार करना भी उसी के अन्तर्गत है। अत 'मुख मुखमिव' इस प्रकार शब्दो द्वारा सादृश्य के वर्णनमात्र से सादृश्य की प्रतीति सम्भव नही।

कतिपय आलङ्कारिक उपमान तथा उपमेय के भिन्नत्व के लिए यह आवश्यक समझते है कि उनमे सामान्यविशेषभाव न हो। विशेष की सत्ता सामान्य से पृथक् नही होती। अत जहा उपमानोपमेय मे सामान्य-विशेषभाव होगा वहा भेदाभाव के कारण सादृश्य सम्भव नही होगा। जगन्नाथ का यही मत है।[2] इनके अनुसार 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाक' नामक उदाहरण मे सामान्य दोष तथा गुण से क्रमश उनके विशेष इन्दुकिरण तथा अक पृथक् नही। अत उनमे उपमानोपमेयभाव सम्भव नही। अत यह उपमा का उदाहरण न होकर उदाहरणालङ्कार का उदाहरण है।[3]

जगन्नाथ का यह मत समीचीन नही। अन्वय करके हम उपर्युक्त श्लोक को इस प्रकार लिख सकते हे —

'गुणसन्निपाते एको दोष इन्दुकिरणेष्वक इव निमज्जति।'

इससे यह स्पष्ट है कि यहा सादृश्य गुणसन्निपात का इन्दुकिरण मे

---

१. "यत्र तनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्।"—भामहालङ्कार ३। ४५

२ "सामान्याद्विशेषस्य भेदाभावेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालकृते-रत्रानवतारादुदाहरणालङ्कारोऽयमतिरिक्त।"—रसगगाधर पृ० २३६

३ "अनन्तरत्नप्रभवस्य इत्यत्र .. इन्दुकिरणसमानाधिकरणोऽङ्क उदाहृत, न तूपमानतया निर्दिष्ट।"—रसगगाधर पृ० २३६

तथा दोष का अक मे पृथक् पृथक् वर्णित न होकर गुणसन्निपात एव दोष के सम्बन्ध का इन्दुकिरण एवं अक के सम्बन्ध से वर्णित है । यह सम्बन्ध निमज्ज्यनिमज्जकभाव के रूप मे हैं । दोष तथा गुणसन्निपात का निमज्ज्यनिमज्जकभाव अक तथा इन्दुकिरणो के निमज्ज्यनिमज्जकभाव के समान है । यह कहना उचित नही कि दो सामान्य वस्तुओ का सम्बन्ध दो विशेष वस्तुओ के सम्बन्ध के सदृश नही हो सकता । द्वितीय सम्बन्ध के साथ जुडी हुई वस्तुओ की प्रतीति से प्रथम सम्बन्ध के साथ जुडी हुई वस्तुओ की प्रतीति का भेद स्पष्ट है । यह भेदप्रतीति अन्य प्रकार से नही तो कम से कम सामान्यविशेषभाव के रूप से तो स्पष्ट है । जिस सामान्यविशेषभाव को जगन्नाथ सादृश्यप्रतीति के अभाव का कारण बताते है वही वस्तुत भेदप्रतीति का द्योतक बनकर सादृश्यप्रतीति का कारण बनता है ।

यह कहना उचित न होगा कि रशनोपमा तथा परस्परोपमा मे उपमान तथा उपमेय मे भेद नही होता । पूर्व उपमेय के बाद मे उपमान बन जाने पर रशनोपमा होती है ।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

'भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ।'

—काव्यप्रकाश पृ० ५८०

यहा पूर्व उपमा का उपमेय मति द्वितीय उपमा मे उपमान बन गया है । यहा उपमेय उपमान मे परिणत अवश्य हुआ है, परन्तु उसी उपमा मे नही अपितु द्वितीय उपमा मे । इस प्रकार यहा उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य न होकर इतना है कि पूर्व उपमा मे जो उपमेय था वह द्वितीय उपमा मे उपमान बन गया है । प्रथम उपमा मे उस उपमेय का उपमान उससे भिन्न है तथा द्वितीय मे भी उस उपमान का उपमेय उससे भिन्न है । अत यहा उपमेय तथा उपमान मे भेद न हो ऐसी बात नही ।

परस्परोपमा मे भी उपमेय तथा उपमान मे भेद होता है —

'रजोभि स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभै ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ।।'—चित्रमीमासा पृ० १०

१. "कथिता रशनोपमा,
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ।"—साहित्यदर्पण १० । २५

परस्परोपमा के इस उदाहरण मे व्योम को भूतल के समान तथा भूतल को व्योम के समान कहा गया है । यहा केवल इतना हुआ है कि पूर्व उपमा के उपमेय तथा उपमान द्वितीय उपमा मे क्रमश उपमान तथा उपमेय बन गए है । यह बात नही कि उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य दिखाया गया हो ।

अप्पयदीक्षित का यह कथन[1] उचित नही कि उपमेय तथा उपमान मे भिन्नता अनिवार्य कर देने पर निम्नलिखित उदाहरण मे अव्याप्ति होगी —

"द्वार द्वारमटन् भिक्षु शिक्षत्येव न याचते ।
अदत्त्वा मादृशो मा भूर्दत्त्वा त्व त्वादृशो भव ।"—चित्रमीमासा

यहा 'त्व त्वादृशो भव' अर्थात् 'तुम तुम्हारे जैसे बनो' मे वाच्यार्थ के द्वारा उपमेय तथा उपमान एक प्रतीत होते है, परन्तु वस्तुत' उनमे भेद है । यहा 'त्वम्' का अर्थ केवल तुम है, परन्तु 'त्वादृश' का अर्थ केवल 'तुम्हारे जैसा' नही । 'त्वादृश-' मे अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि है । अत इसका अर्थ केवल तुम्हारे जैसा न होकर गुणसम्पन्न तुम्हारे जैसा है । इस प्रकार दोनो अर्थो मे भेद होने के कारण उपमेय तथा उपमान मे भिन्नता है ।

साधारणधर्म

साधारणधर्म के प्रकार भेद के अनुसार उपमेय तथा उपमान मे सादृश्य अनेक प्रकार से सम्भव है । कभी कभी यह साधारणधर्म उपमेय तथा उपमान मे एक रूप से रहता है । 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे साधारणधर्म सौन्दर्य मुख तथा कमल मे एक रूप से विद्यमान है । इस प्रकार के साधारणधर्म को अनुगामी कहते है ।

कभी कभी यह साधारणधर्म उपमेय तथा उपमान मे एक रूप से न रहकर भिन्न रूप से रहता है, परन्तु उसके उन भेदो मे सादृश्य होता है । इसे बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहते है ।—इसका उदाहरण इस प्रकार है —

१ "द्वारम् ' इत्याद्यभिन्नधर्मिकोपमास्वव्याप्तेश्च । तत्र परमेश्वरत्वादे स्वोपमेयत्वावच्छेदकस्यैवोपमानतावच्छेदकत्वात् ॥"

—चित्रमीमासा पृ० २५

"पाण्ड्योऽयमसार्पितलम्बहार क्लृप्ताङ्गरागो नवचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानु सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराज ॥"

—चित्रमीमासा पृ० ११

यहा पाण्ड्य को अद्रिराज के सदृश कहा गया है। पाण्ड्य मे हार तथा नवचन्दन धर्म है तथा अद्रिराज मे निर्झर तथा बालातप धर्म है। हार निर्झर से भिन्न है तथा नवचन्दन बालातप से भिन्न है। परन्तु इनमे सादृश्य अवश्य है। हार तथा निर्झर मे दीर्घता आदि को लेकर सादृश्य है तथा नवचन्दन एव बालातप मे वर्णसम्बन्धी सादृश्य है। अत. हार एव नवचन्दन के धर्मों से युक्त पाण्ड्य तथा निर्झर एव बालातप के धर्मों से युक्त अद्रिराज मे सादृश्य है। अप्पयदीक्षित का यही मत है।[1] जगन्नाथ भी इसी मत के समर्थक है।[2]

उपर्युक्त उदाहरण मे पाण्ड्य तथा अद्रिराज का सादृश्य बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप मे निर्दिष्ट साधारणधर्म के द्वारा ही सम्भव है, अन्य किसी प्रतीयमान साधारणधर्म के द्वारा नही। जहा सादृश्य प्रतीयमान साधारणधर्म के द्वारा सम्भव हो वहा बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप से निर्दिष्ट साधारणधर्म को भी उस सादृश्य का एक हेतु मानना चाहिए, केवलमात्र प्रतीयमान साधारणधर्म को नही। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
मरकतभाजनपरिस्थिता शखशुक्तिरिव ॥"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ३५

यहा बलाका तथा शखशुक्ति का सादृश्य प्रतीयमान साधारणधर्म श्वैत्य के द्वारा भी सम्भव है, परन्तु यहा श्वैत्य को सादृश्य का एकमात्र हेतु न मानकर बिसिनीपत्र तथा मरकतभाजन के बिम्बप्रतिबिम्बभाव को भी उसका एक हेतु मानना उचित है। यदि श्वैत्य को ही सादृश्य का हेतु

---

१ "अत्र हरिचन्दनबालातपहारनिर्झरादीना बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टानामपि साधारणधर्मत्वाङ्गीकारात् ।"—चित्रमीमासा पृ० ११

२ "उपमेयगतानामुपमानगताना चासाधारणानामपि धर्माणा सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धि. ।"

—रसगगाधर पृ० २०७

माना जाता है तो साधारणधर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव से उपर्युक्त निर्देश व्यर्थ हो जाएगा ।[1]

इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्दिष्ट साधारणधर्म दो प्रकार का होता है—सादृश्यनिर्वाहिक तथा तदुत्कर्षक ।[2] प्रथम उदाहरण मे यह सादृश्यनिर्वाहिक है, क्योकि पाण्ड्य तथा अद्रिराज का सादृश्य अन्य किसी प्रकार सम्भव नही । द्वितीय उदाहरण मे यह सादृश्य का उत्कर्षक है, क्योकि बलाका तथा शखशुक्ति मे सादृश्य श्वैत्य के द्वारा भी सम्भव है । बिसीनीपत्र तथा मरकतभाजन का बिम्बप्रतिबिम्बभाव उसका उत्कर्षक है ।

अप्पयदीक्षित अनुगामी साधारणधर्म के अतिरिक्त बिम्बप्रतिबिम्बभावादि से निर्दिष्ट अन्य साधारणधर्मो को केवल वाच्य मानते है । अत उनके अनुसार बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य नही हो सकता । यही कारण है कि वे लुप्तोपमा मे इसे नही मानते ।[3]

अप्पयदीक्षित का यह मत उचित नही । बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिए यह आवश्यक नही कि उसका शब्द द्वारा उपादान हो । वह अर्थगम्य भी हो सकता है । इस प्रकार श्रोत तथा आर्थ ये बिम्बप्रतिबिम्बभाव के दो भेद है । निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

'मलय इव जगति पण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्रः ।'

—रसगगाधर पृ० ३९

यहा पण्डु का मलय से तथा धृतराष्ट्र का वल्मीक से सादृश्य दिखाया गया है । पण्डु लोकानन्दन पाण्डवो का जनक है तथा मलय चन्दन का । धृतराष्ट्र भयदायक दुर्योधनादि का जनक है तथा वल्मीक सर्पो का ।

---

१ "न च-श्वैत्येनैव तत्सादृश्यनिर्वाह —इति वाच्यम्, तदा शखशुक्तौ मरकतभाजनवृत्तित्वविशेषणवैयर्थ्यापत्ते , तादृशघटकातिरिक्तोपमानविशेषणोपादानस्य वैयर्थ्यात् ।"—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ४६

२. "तस्मात्कश्चिद्धर्म. सादृश्यनिर्वाहक:, कश्चित्तु तदुत्कर्षक: इति सिद्धम् ।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ४७

३. "लुप्ताया तु नैव भेदा· । तस्या साधारणधर्मस्यानुगामित्वनियमात् ।"

—चित्रमीमासा पृ० २१

पाण्डवो तथा चन्दन एव दुर्योधनादि तथा सर्पो मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। यह बिम्बप्रनिबिम्बभाव अर्थगम्य है तथा इसी के द्वारा पण्डु का मलय से तथा धृतराष्ट्र का वल्मीक से सादृश्य सम्भव है । जगन्नाथ का यही मत है।[1]

जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के इस मत का खण्डन किया है कि बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव केवल वाच्य होता है —

"न च शब्देनोपात्तत्व बिम्बप्रतिबिम्बभावे तन्त्रमित्याग्रहो विदुषामुचित । श्रौतत्वार्थत्वाभ्या बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य द्वैविध्यौचित्यात् । अत एवाप्रस्तुतप्रशसादौ प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरौपम्यमवयवबिम्बप्रतिबिम्बभावमूल सगच्छते।"—रसगगाधर पृ० २४०

अप्रस्तुतप्रशसादि मे व्यवहारसादृश्य के कारण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे से किसी एक के द्वारा अन्य का आक्षेप होता है। यह व्यवहार-सादृश्य प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के अवयवो के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप मे रहता है। यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव श्रोत न होकर अर्थगम्य होता है।

इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य भी हो सकता है। परन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिए इतना आवश्यक है कि बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब मे से या तो दोनो वाच्य हो या दोनो अर्थगम्य हो। ऐसा नही कि उनमे से एक वाच्य हो तथा अन्य अर्थगम्य हो। यदि दोनो मे मे प्रतिबिम्ब का ही उपादान होता है तो उपमान मे धर्महानि दोष होता है और यदि उनमे से केवल बिम्ब का उपादान होता है तो उपमान मे धर्माधिक्य दोष होता है।[2]

---

१ "अत्रानुगामिधर्मस्याप्रत्ययाच्चन्दनाना पाण्डवाना, सर्पाणा दुर्योधनादीना च बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैव प्रतिपत्ते ।"

—रसगगाधर पृ० २३९-२४०

२. "अय चात्र विशेष —उभयमध्ये प्रतिबिम्बस्यैवोपादाने उपमाने धर्महानि-दोष, तत्र तत्स्थानीयधर्मानुक्ते । बिम्बमात्रोपादाने तूपमाने धर्माधिक्य दोष , उपमेये तत्स्थानीयधर्मानुक्तेरित्यग्रे स्फुटीभविष्यति । तस्माद्बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोर्द्वयोरेव शाब्दत्वम् द्वयोरेव वार्थत्वं विवक्षितम्, न त्वेकस्य शाब्दत्वमन्यस्यार्थत्वमिति ।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ३५

कभी कभी यह साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप मे होता है। अप्पयदीक्षित के मतानुसार वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्ध रूप से न रहकर केवल बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषण अथवा विशेष्य के रूप मे रहता है।[1]

जगन्नाथ के अनुसार वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्धरूप से भी सम्भव है' निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है —

'विमल वदन निष्कलकमृगाकति।'—रसगगाधर पृ० २३०

यहा वदन का सादृश्य मृगाक से दिखाया गया है। वदन मे वैमल्य है तथा मृगाक मे निष्कलकत्व। वैमल्य तथा निष्कलकत्व मे अन्तर केवल शब्दो का है। अर्थ दोनो का एक ही है। अत' इनमे बिम्बप्रतिबिम्बभाव न होकर वस्तुप्रतिवस्तुभाव है और इसी के द्वारा वदन का मृगाक से सादृश्य दिखाया गया है। वदन तथा मृगाक का सादृश्य प्रतीयमान सौन्दर्य धर्म के द्वारा भी सम्भव है, परन्तु यहा वह निर्दिष्ट वस्तुप्रतिवस्तु-भाव के द्वारा ही बताया गया है। अत यह कहना कि सादृश्य के लिए साधारणधर्म के इस वस्तुप्रतिवस्तुभाव की अपेक्षा नही उचित नही। यदि यहा वस्तुप्रतिवस्तुभाव को सादृश्य के लिए आवश्यक नही माना जाता है तो अनेक स्थलो पर जहा सादृश्य प्रतीयमान साधारणधर्म के द्वारा सम्भव है बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्दिष्ट साधारणधर्म भी अनावश्यक हो जाएगा। अत शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप मे भी साधारणधर्म को मानना समीचीन है।[2]

---

१ "स तु शुद्धो न सभवति। कि तु विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावकरम्बित।"—चित्रमीमासा पृ० २१

२ "विमल वदन तस्या निष्कलङ्कमृगाकति इत्यत्र वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयो र्वस्तुत एकरूपयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावनिर्मुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नयोरुपमानिष्पा-दकत्व यद्यस्ति तदा शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नोऽप्येष षष्ठो धर्म। न च ... वदनमृगाकयो सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मस्य प्रतीयमानत्वेन धर्मान्तरानपेक्षणादिति वाच्यम्। एव तर्हि 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या' इति भवभूतिपद्येऽपि प्रतीयमानेन सौन्दर्येणैव सामान्येन निर्वाहे कन्धरावृन्तयो-र्बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य वलितत्वाऽऽवृत्तत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य च सकलैरालङ्कारिकै स्वीकारो विरुद्ध. स्यात्। अतो यथास्थितमेव साधु।"—रसगगाधर पृ० २३०, २३१

बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषण रूप मे प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण निम्नलिखित है —

"यान्त्या मुहुर्वलितकधरमानन तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या ।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष ॥"—चित्रमीमासा पृ० २१, २२

यहा आनन का शतपत्र से सादृश्य दिखाया गया है। कन्धरा तथा वृन्त मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा वलितत्व तथा आवृत्तत्व मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषणरूप मे प्रयुक्त हुआ है।[1]

बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेष्यरूप मे प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण इस प्रकार है —

"सा तेन जगृहे साध्वी हठात्साध्वसकम्पिता ।

वानरेणातिलोलेन वाताधूतेव वल्लरी ॥"—चित्रमीमासा पृ० २१

यहा साध्वी का सादृश्य वल्लरी से दिखाया गया है। साध्वस तथा वात मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा कम्पितत्व एव धूतत्व मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव का विशेष्य है।

कभी कभी बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषणरूप मे प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभाव का एक धर्म वाच्य तथा अन्य अर्थगम्य होता है —

'शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा ।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता ॥"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ३७

यहा मालविका का सादृश्य लता से दिखाया गया है। गण्ड तथा पत्र मे एव अलङ्कारो तथा कुसुमो मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। गण्ड का विशेषण पाण्डुत्व शब्दोपात्त है तथा पत्र का विशेषण पाण्डुत्व शब्दोपात्त न होकर अर्थगम्य है।

---

१. "अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टयो. कन्धरावृन्तयोर्वलितावृत्तशब्दाभ्यामेक एव धर्मो विशेषणतया निर्दिष्ट ।'—चित्रमीमासा पृ० २२

वस्तुप्रतिवस्तुभाव भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव के समान सादृश्यनिर्वाहक तथा सादृश्योत्कर्षक के भेद से दो प्रकार का सम्भव है।

आलङ्कारिको ने अनुगामित्व, बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तु-भाव के अतिरिक्त साधारणधर्म के अन्य भेद भी माने हैं। ये श्लेष, उपचार तथा समासभेद है।[1]

श्लेष को प्रत्येक दशा मे सादृश्य का आधार मानना उचित नही। श्लेष सादृश्य का आधार तभी हो सकता है जब वह स्वय सादृश्य को लिए हो अन्यथा नही। श्लेष मे एक शब्द के अनेक अर्थ होते है। यदि इन विभिन्न अर्थो मे अर्थगत सादृश्य नही है तो श्लिष्ट साधारणधर्म सादृश्य का आधार नहीं हो सकता। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"सकलकल पुरमेतज्जात मप्रति सुधाशुबिम्बमिव"

—काव्यप्रकाश पृ० ५२१

यहा सकलकल मे श्लेष है। इसके दो अर्थ हे—कलकलयुक्त तथा सकलकलाओ वाला। पुर के साथ कलकलयुक्त अर्थ लगता है तथा सुधाशु-बिम्ब के साथ सकलकलाओ वाला अर्थ। कलकलयुक्तत्व तथा सकलकला-साहित्य मे अर्थगत कोई सादृश्य नही। अत इनके आधार पर पुर तथा सुधाशुबिम्ब मे सादृश्य मानना उचित नही।

ऐसा होने पर भी अनेक विद्वानो ने उपर्युक्त श्लेष के आधार पर पुर तथा सुधाशुबिम्ब मे सादृश्य माना है। इनके अनुसार सादृश्य के लिए गुणसाम्य अथवा क्रियासाम्य आवश्यक नही। शब्दसाम्य से भी वह सम्भव है। पुर तथा सुधाशुबिम्ब मे एक साधारणधर्म है और वह है सकलकलत्व। सकलकलत्व से निकलने वाले अर्थो मे सादृश्य हो अथवा न हो, जहा तक शब्दसाम्य का प्रश्न है यहा एक ही शब्द समान रूप से पुर तथा सुधाशु-बिम्ब के साथ जुडा हुआ है। अत पुर तथा सुधाशुबिम्ब मे सादृश्य है।

---

१. "पूर्णाया क्वचित् साधारणधर्मस्यानुगामितया निर्देश। क्वचिद्वस्तु-प्रतिवस्तुभावेन। क्वचिद्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन। क्वचिच्छ्लेषेण। क्वचिदुपचारेण। क्वचित्समासान्तराश्रयेण॥"—चित्रमीमासा पृ० २१

मम्मटादि का यही मत है।[1]

मम्मटादि का यह मत समीचीन नही। केवल शब्दसाम्य के आधार पर सादृश्य मानना उचित नही। सादृश्य एक प्रकार का ज्ञान है। ज्ञान पदार्थो को अपना विषय बनाता है। अत सादृश्यज्ञान तभी सम्भव है जब उसके विषय बने हुए पदार्थो मे सादृश्य की प्रतीति हो। यह तभी सम्भव है जब उनमे गुणसाम्य अथवा क्रियासाम्य हो। द्रव्य गुणो का आधार होता है। अत ये गुण आदि द्रव्य अथवा पदार्थ मे रहते है। यदि विभिन्न पदार्थो मे एक ही गुण अथवा सदृश गुण रहेगे तो उनमे सादृश्य की प्रतीति होगी। शब्द पदार्थो मे रहते नही। वे तो केवल उसके वाचक होते है। पदार्थो तथा शब्दो मे आश्रयाश्रयिभाव का सम्बन्ध न होकर वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है। शब्दो का प्रयोजन केवल अर्थ का ज्ञान कराना होता है। अत यह कथन कि दोनो पदार्थो मे शब्दसाम्य के कारण सादृश्य सम्भव है कोई अर्थ नही रखता।

उद्योतकार का इससे मतभेद है। इनके अनुसार शब्द भी अर्थ का धर्म कहा जा सकता है।[2] उद्योतकार का यह मत युक्तिसङ्गत नही। शब्द अर्थ का धर्म नही कहा जा सकता। यदि शब्द को अर्थ का धर्म मानकर उसे सादृश्य का आधार सिद्ध किया जाता है तो अनेक विपरीत धर्म वाले पदार्थ एक शब्द के वाच्य होने के कारण सदृश कहलाएगे। कोष मे ऐसे अनेक शब्द है जिनके एक से अधिक अर्थ निकलते है। क्या एक शब्द के वाच्य होने के कारण हम उन्हे सदृश कह सकते है ? और क्या विसदृश

---

१. "यथा कमलमिव मुख मनोज्ञमेतत्कचतितराम्" इत्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा। तथा 'सकलकल पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव। तथा ह्युक्त रुद्रटेन—स्फुटमर्थालकारावेता—वुपमासमुच्चयौ किन्तु। आश्रित्य शब्दमात्र सामान्यमिहापि सम्भवत ॥"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५२१

"साधर्म्यमात्रस्योपमाप्रयोजकत्वात्, तस्य च अर्थरूपस्येव शब्दरूपस्याप्यविशेषेण सम्भवात् ॥" —प्रदीप बालबोधिनी पृष्ठ ५२१

२ 'वाचकतासम्बन्धेन तस्याप्यर्थधर्मत्वादिति भाव.।'—उद्योत

—बालबोधिनी पृष्ठ ५२१-५२२

पदार्थों के वैसादृश्य का केवल इसी कारण परिहार हो सकता है क्योंकि वे एक शब्द के वाच्य है ?

शब्द अर्थ मे सहायक अवश्य है, परन्तु यह इसका वाचकत्व ही है जो अर्थ मे सहायक है। उसका स्वरूप अर्थ मे सहायक नही। शब्द का स्वरूप ध्वनिविशेष है। यह उच्चारण के रूप मे होता है। यह उच्चारण अर्थ का अङ्ग नही कहा जा सकता।

यदि गुण तथा क्रिया के समान शब्द को पदार्थ का धर्म मानकर शब्दसाम्य के आधार पर सादृश्य माना जाता है तो प्रतीयमान गुणसाम्य अथवा क्रियासाम्य के समान प्रतीयमान शब्दसाम्य भी होना चाहिए। परन्तु ऐसी बात नही। 'मुख कमलमिव' मे मुख तथा कमल मे गुणसाम्य शब्दोपात्त न होकर प्रतीयमान है और यह सौन्दर्य के रूप मे है। इसके द्वारा मुख तथा कमल मे सादृश्य की प्रतीति होती है। परन्तु 'पुरमेतज्ज्ञात सम्प्रति सुधाशुबिम्बमिव' मे पुर तथा सुधाशुबिम्ब मे सादृश्य की प्रतीति नही होती। यदि शब्द अर्थ का धर्म हो तो सकलकलत्व के रूप मे प्रतीयमान शब्दसाम्य के आधार पर पुर तथा सुधाशुबिम्ब मे सादृश्य की प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नही होता। अत शब्द अर्थ का धर्म नही कहा जा सकता।

शब्दसाम्य को सादृश्य का कारण मानने से अन्वयव्यतिरेकभाव के आधार पर किए हुए मम्मटादि के अलकारो के वर्गीकरण मे कतिपय असगतिया आ जाएगी। मम्मट उपमा को अर्थालंकार मानते है। यदि शब्दसाम्य को सादृश्य का कारण माना जाता है तो उन्ही के अन्वयव्यतिरेकभाव के अनुसार 'सकलकल पुरमेतज्ज्ञात सम्प्रति सुधाशुबिम्बमिव' का उदाहरण अर्थालकार के अन्तर्गत न होकर शब्दालकार के अन्तर्गत हो जाएगा।

शब्दसाम्य सादृश्य का कारण नही यही विचारकर विद्यानाथ ने अपनी उपमा की परिभाषा मे 'धर्मत' शब्द का सन्निवेश किया है।[1] 'धर्मत' की व्याख्या करते हुए विद्यानाथ लिखते है —

"धर्मत इत्यनेन श्लेषालकारवैलक्षण्यम्। श्लेषे शब्दसाम्यमात्रमभ्युपगतम्, न गुणक्रियासाम्यम्।" —प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २५५

१ "स्वत सिद्धेन भिन्नेन समतेन च धर्मत ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्य चेदेकदोपमा ॥" —प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २५४

विद्यानाथ के इस उचित मत का खण्डन करते हुए अप्पयदीक्षित लिखते हैं —

"श्लेषव्यावृत्त्यर्थं धर्मत इति विशेषणमप्ययुक्तम् । तत्र न शब्दसाम्यमात्रमिवेनोच्यते, किन्तु गुणसाम्यमपीति तदव्यावृत्ते । ननु पुरे सकलकलत्व कलकलशब्दसाहित्य सुधाशुबिम्बे कलासाकल्यमिति, नैकोऽनुगतो गुणो लभ्यते, मैवम्, श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलया भेदेऽभेद इत्येवरूपया ऽतिशयोक्त्या धर्मसाधारण्यलाभात् ।" —चित्रमीमासा पृष्ठ ११

इस प्रकार अप्पयदीक्षित श्लेष के आधार पर अभेदाध्यवसाय मानते है और उसके द्वारा धर्म की साधारणता सम्भव समझते हैं। इनके अनुसार 'सकलकलम्' मे कलकलशब्दसाहित्य तथा कलासाकल्य ये दो अर्थ अवश्य हे, परन्तु श्लेष के कारण उन दोनो की पृथकता नष्ट होकर 'सकलकलम्' का एक रूप रह गया है और इसी एक रूप के आधार पर पुर तथा सुधाशुबिम्ब मे धर्मसाधारणता की प्रतीति होती है ।

अप्पयदीक्षित का यह मत युक्तियुक्त नही । श्लेष के आधार पर जब सादृश्य सम्भव नही तब उसके आधार पर अभेदाध्यवसाय कैसे सम्भव हो सकता है । 'सकलकलम्' मे शब्द की प्रतीति दोनो दशाओ मे अभिन्न रूप से भले ही हो, अर्थ की प्रतीति पृथक् ही बनी रहेगी और सादृश्य की प्रतीति मे यह अर्थप्रतीति ही विचारणीय वस्तु है ।

भामह, वामन आदि द्वारा अपनी उपमा की परिभाषा मे गुणलेश शब्द का सन्निवेश इस बात का द्योतक है कि केवल शब्दसाम्य के आधार पर सादृश्य सम्भव नही ।

यदि श्लिष्ट शब्द से निकलने वाले अर्थो मे अर्थगत कोई सादृश्य होता है तब श्लेष सादृश्य का आधार अवश्य हो सकता है । निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥" —काव्यप्रकाश ९।३७८

यहा खल तथा तुलाकोटि मे सादृश्य दिखाया गया है । इनमे उन्नति तथा अधोगति साधारणधर्म है । तुलाकोटि के साथ उन्नति का अर्थ ऊर्ध्वगमन

तथा अधोगति का अर्थ अधोगमन है। खल के साथ उन्नति का अर्थ अहकार तथा अधोगति का अर्थ दर्पभ्रश है। ऊर्ध्वगमन तथा अहङ्कार मे अवस्था के उत्कर्ष के कारण एव अधोगमन तथा दर्पभ्रश मे अपकर्ष के कारण सादृश्य सम्भव है। फलत- खल तथा तुलाकोटि मे सादृश्य है।

उपचार के द्वारा उपमेय तथा उपमान मे सादृश्य सम्भव है—

"उद्भवन्तमुदितार्चिषं ततो भानुमन्तमिव हेमभूभृत ।
पङ्कजैरिव कुमारमीक्षणैर्विस्मयेन विकचै पपुर्जना ॥"

—चित्रमीमासा पृष्ठ २२

यहा नेत्रो का सादृश्य पङ्कजो से दिखाया गया है तथा विकास को साधारणधर्म कहा गया है। विकास पुष्प का धर्म है। अत वह केवल उपमान पङ्कज मे हो सकता है उपमेय नेत्र मे नही। उपमेय मे यह उपचरित माना जाता है। ऐसा लक्षणा के द्वारा होता है। नेत्र मे बाधित होने के कारण इसका लक्ष्यार्थ विस्फारित्व निकलता है। यह नेत्र मे रहता है। मुख्यार्थ विकास तथा लक्ष्यार्थ विस्फारिता मे सादृश्य सम्बन्ध है। यह प्रसृतत्व के रूप मे है। विकसित पङ्कजो का प्रसार होता है तथा विस्फारी नेत्रो का भी प्रसार होता है। इस प्रकार विकास तथा विस्फारिता मे प्रसार के सामान्य रूप से होने के कारण नेत्र तथा पङ्कज मे सादृश्य सम्भव है।

उपचार मे गौणी लक्षणा होती है। लक्षणा मे मुख्यार्थ के बाध होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ लक्षित होता है।[1] इस प्रकार लक्षणा मे मुख्यार्थ के बाध होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ ही लक्षित होता है। गौणी लक्षणा अथवा उपचार मे यह अर्थ सादृश्य के द्वारा सम्बद्ध होता है। अत उपचार के सादृश्यमूलक होने के कारण उसके आधार पर उपमेय तथा उपमान मे सादृश्य सम्भव है।

समासभेद को प्रत्येक दशा मे सादृश्य का आधार मानना उचित नही। समासविग्रह करने पर निकलने वाले विभिन्न अर्थो मे यदि अर्थ-

---

१ "मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥"

—काव्यप्रकाश सू० १२

सम्बन्धी सादृश्य है तब तो समासभेद सादृश्य का आधार हो सकता है अन्यथा नही।

"तया विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षु कुमुद कुमार्या।
प्रसन्नचेत सलिल शिवोऽभूत् ससृज्यमान शरदेव लोक ॥"

—चित्रमीमासा पृ० २२

यहा 'विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या' विशेषण देवी तथा शरद् के साथ समास-भेद से जुडता है। देवी के साथ इसमे उपमित समास[1] होता है तथा शरद् के साथ मयूरव्यसकादि[2] समास। उपमित समास मे पूर्व पद प्रधान होता है, अत देवी के साथ 'आनन चन्द्र इव' विग्रह होकर आनन की प्रधानता है। आनन का सम्बन्ध देवी से है तथा चन्द्र का शरद् से। आनन तथा चन्द्र मे प्रतीयमान साधारणधर्म सौन्दर्य के द्वारा सादृश्य है। अत देवी तथा शरद् मे सादृश्य सम्भव है।

समासविग्रह करने पर निकलने वाले विभिन्न अर्थो मे यदि अर्थ-सम्बन्धी सादृश्य नही है तो समासभेद सादृश्य का आधार नही हो सकता —

"पृथुकार्त्तस्वरपात्र भूषितनि शेषपरिजन देव।
विलसत्करेणुगहन सम्प्रति सममावयो सदनम् ॥"

—काव्यप्रकाश ९। ३७०

यहा 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्' आदि समासो का विग्रह दो प्रकार से होता है। रक के सदन के साथ प्रथम समास का विग्रह 'पृथुकानाम् आर्तस्वरस्य पात्रम्' है तथा नृपसदन के साथ 'पृथूनि कार्तस्वरस्य पात्राणि यत्र तत्' है। इन दोनो अर्थो मे अर्थगत कोई सादृश्य नही। अत रकसदन तथा नृपसदन मे सादृश्य सम्भव नही।

अनुगामी बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि साधारणधर्मो मे से दो या अधिक के सम्मिश्रण के द्वारा सादृश्य अनेक प्रकार से सम्भव है।[3]

कभी कभी साधारणधर्म वाच्य न होकर लक्ष्य अथवा व्यग्य होता है। लक्ष्य साधारणधर्म का उदाहरण इस प्रकार है —

---

१ 'उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।'—२। १। ५६

२ 'मयूरव्यसकादयश्च।'—२। १। ७१

३. "क्वचिदेषा यथासम्भव मिश्रणेन"—चित्रमीमासा पृ० २१

"सर्प इव शान्तमूर्ति श्वेवाय मानपरिपूर्ण ।
च्चीव इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम् ॥

—रसगगाधर पृ० २३५

यहा सर्प, श्वा, च्चीव तथा मर्कट के उपमान होने के कारण शान्तमूर्तित्व आदि सावारणधर्मों का बाव हो जाता है तथा इनके विपरीत साधारणधर्म लक्षित होते हैं।[1]

धर्म के लोप होने पर साधारणधर्म व्यग्य होता है—

"मुख कमलमिवास्ति ।"

यहा साधारणधर्म सौन्दर्य व्यग्य है।

वाचक

उपमेय तथा उपमान मे जिस शब्द के द्वारा सादृश्य का निर्देश किया जाता है उसे वाचक कहते है। 'मुख कमलमिव मुन्दरम्' मे सादृश्य का निर्देश इव शब्द के द्वारा किया गया है। अत यह सादृश्य का वाचक है। इव के अतिरिक्त यथा, तुल्य आदि अन्य अनेक शब्द सादृश्य के वाचक हे। दण्डी ने इनका सविस्तर उल्लेख किया है।[2]

इव, यथा आदि तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दो मे अनेक आलङ्कारिको ने आशिक भेद किया है। उनके अनुसार इव आदि के प्रयोग करने पर साधर्म्य वाच्य होता है तथा सादृश्य अर्थगम्य होता है। तुल्य आदि का प्रयोग करने पर इसके विपरीत सादृश्य वाच्य होता है तथा साधर्म्य अर्थगम्य होता है। इसी भेद के आधार पर उन्होने उपमा के श्रौती तथा

---

१ "अत्रोपमानमहिम्ना शान्तमूर्त्यादिशब्दैर्विरुद्धा धर्मा लक्ष्यन्ते ।"

—रसगगाधर पृ० २३५

२ "इववद्वा यथाशब्दा समाननिभसनिभा ।
तुल्यसकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपका ॥
प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिन ।
सदृक्सदृशसवादिसजातीयानुवादिन ॥
प्रतिबिम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमप्रभा ।
सलक्षणसदृक्षाभसपक्षोपमितोपमाः ॥
कल्पदेशीयदेश्यादिप्रख्यातप्रतिनिधी अपि ।
सवर्णतुलितौ शब्दौ ये वान्यूनार्थवादिन ॥

आर्थी ये दो भेद किए हैं ।[1]

आलङ्कारिको का यह मत समीचीन नही । अलङ्कार की दृष्टि से इव तथा सदृश मे भेद करना उचित नही । इव का अर्थ कोष के अनुसार यदि साधर्म्य ले तो भी यह मानना पडेगा कि उसका पर्यवसान सादृश्य मे ही होता है । उपमा मे इव का प्रयोग पृथक् न होकर वाक्य के अन्तर्गत होता है । 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे इव के अतिरिक्त मुख तथा कमल आदि अन्य शब्द भी हैं । वाक्य का अर्थ करते समय इनका भी ध्यान रखना पडता है । अत यदि इव के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होती है तो मुख तथा कमल की भिन्नता के द्वारा वैधर्म्य की प्रतीति होती है । इस प्रकार वाक्य से साधर्म्य की प्रतीति न होकर सादृश्य की प्रतीति होती है । यदि यह कहा जाता है कि इव के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति पूर्व होती है तथा सादृश्य की बाद मे तथा सादृश्य के द्वारा सादृश्य की प्रतीति पूर्व होती है तथा साधर्म्य की बाद मे तो भी समय के इस आशिक

समासश्च बहुव्रीहि शशाकवदनादिषु ।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ।।
आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति ।
विडम्बयति सरुन्धे हसतीर्ष्यत्यसूयति ।।
तस्य पुष्णाति सौभाग्य तस्य कान्ति विलुम्पति ।
तेन सार्धं विगृह्णाति तुला तेनाधिरोहति ।।
तत्पदव्या पद धत्ते तस्य कक्षा विगाहते ।
तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छील तन्निषेधति ।।
तस्य चानुकरोतीति शब्दा सादृश्यसूचका ।
उपमायामिमे प्रोक्ता· कवीना बुद्धिसौख्यदा· ।।

—काव्यादर्श २ । ५७ ६५

१. "यथेवादिशब्दाना सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धरूपे साधर्म्ये एव शक्तताया यथेवादिशब्दप्रयोगस्थले साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्य वाच्य सादृश्यप्रतीतिस्त्वार्थी, तुल्यसदृशादिशब्दाना सादृश्यवति शक्ते तुल्यसदृशादि-शब्दप्रयोगस्थले सादृश्य वाच्य साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यं त्वार्थमिति सम्बन्धबोधविशेषादुपपद्यते एव श्रौत्यार्थी चेति विभाग· ।।"

—बालबोधिनी पृ० ५४६

भेद के आधार पर इव तथा सदृश का अलङ्कार-दृष्टि से भेद करना उचित नही। उपमा सादृश्य का ही दूसरा नाम है तथा इव एव सदृश इन दोनो के प्रयोग की दशा मे इस सादृश्य का बोध होता है। सदृश के प्रयोग की दशा मे इसकी प्रतीति उसी क्षण होती है तथा इव के प्रयोग की दशा मे द्वितीय क्षण मे यह मानना भी उचित नही। 'मुख कमलमिव' तथा 'मुख कमलेन तुल्यम्' इन दोनो दशाओ मे हमे सादृश्य की प्रतीति समान रूप से होती है।

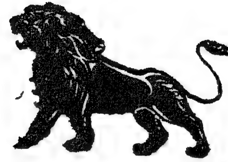
इव के प्रयोग की दशा मे सादृश्य को जो अर्थगम्य मानते है उन्हे भी इसे लक्ष्यार्थ तथा व्यग्यार्थ से भिन्न मानना पडेगा और इनमे भिन्न होने के कारण यह वाच्यार्थ का ही प्रकार हो सकता है। इस प्रकार सादृश्य का अर्थगम्यत्व वाच्यत्व के अतिरिक्त और कुछ नही।

इव तथा सदृश को भिन्न मानने से वाच्यार्थ के श्रौत तथा आर्थ दो भेद मानने पडेगे। यह उचित नही। अर्थो का विभाजन स्वरूप-भेद के अनुसार होता है और इसी आधार पर वाच्य, लक्ष्य तथा व्यग्य अर्थ बने है। इसके अतिरिक्त केवल कालक्रम को अर्थविभाजन का आधार मानना उचित नही और यदि इस कालक्रम को आधार माना भी जाय तो भी 'मुख कमलमिव' तथा 'मुख कमलेन तुल्यम्' से प्रतीत होने वाले सादृश्य मे यह कालक्रम प्रतीत नही होता।

इव का प्रयोग जिस शब्द के बाद होता है वह उपमान होता है। 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे इव का प्रयोग कमल के बाद हुआ है। अत कमल उपमान है। कमल के बाद इव का प्रयोग होने के कारण इसका सीधा सम्बन्ध उपमान कमल से है और यह उसी का विशेषण है। परन्तु उपमान कमल से सम्बद्ध होकर यह उपमेय मुख का भी सम्बन्ध कमल से स्थापित करता है। इस प्रकार 'इव' केवल उपमान मे ही साधारणधर्म की प्रतीति नही कराता अपितु उपमेय तथा उपमान का साधारणधर्म के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करके उनमे सादृश्य की प्रतीति कराता है। षष्ठी विभक्ति के प्रयोग के उदाहरण से यह स्पष्ट है। 'राज्ञो राज्यम्' मे षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध यद्यपि राजन् से है और वह उसमे स्वामित्व का बोध कराती है तथापि वह राजा तथा राज्य मे स्वस्वामिभाव के सम्बन्ध का भी बोध कराती है। यही

वात इव के प्रयोग के साथ है।[1]

तुल्य का प्रयोग उपमेय, उपमान अथवा इन दोनो के साथ हो सकता है। 'तेन तुल्य मुखम्' मे इसका प्रयोग उपमेय के साथ है, 'तत्तुल्यमस्य' मे उपमान के साथ तथा 'इद च तच्च तुल्यम्' मे दोनो के साथ है। जहा तुल्य का प्रयोग केवल उपमेय अथवा केवल उपमान के साथ होता है वहा भी उपमेय तथा उपमान मे ही सादृश्यप्रतीति होती है। सादृश्य एक वस्तु मे सम्भव नही। उसके लिए एक से अधिक वस्तुओ की आवश्यकता है। अत सदृश शब्द के वाचक होने पर प्रत्येक दशा मे सादृश्य की प्रतीति उपमेय तथा उपमान दोनो मे होती है।[1]



---

१ " 'राज्ञो राज्यम्' इत्यादौ स्वप्रकृत्यनन्तरमुपात्ता षष्ठी विभक्ति॰ स्वप्रकृत्यर्थे राजनि स्वामित्व प्रत्याययन्ती तद्विशेषण भवन्त्यपि यथा राजराज्ययो स्वस्वामिभाव सम्बन्ध प्रत्याययति तथा उपमाने उपमानता प्रत्याययन्तोऽपि यथेवादिशब्दा उपमानोपमेययो साधर्म्याख्यसबन्ध श्रवणमात्रेण उपस्थापयन्त्येव शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् ॥"—बालबोधिनी पृष्ठ ५५०

१ " 'तेन तुल्य मुखम्' इत्यादावुपमेये एव, 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने एव, 'इद च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दाना विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीति॰।"—काव्यप्रकाश ५५२

उपमा के भेदोपभेद तथा उनका वर्गीकरण

आलङ्कारिको ने उपमा के अनेक भेदोपभेद किए है। सादृश्य को ध्यान मे रखकर इनका निम्न प्रकार मे वर्गीकरण किया जा सकता है —

प्रशसोपमा, निन्दोपमा तथा तत्त्वाख्यानोपमा आदि भेद साधारणधर्म के उत्कर्ष, अपकर्ष तथा इन दोनो के अभाव के आधार पर किए गए है। प्रशसोपमा मे साधारणधर्म उत्कृष्ट होता है तथा निन्दोपमा मे यह निकृष्ट होता है। तत्त्वाख्यानोपमा मे यह न उत्कृष्ट होता है और न निकृष्ट। निम्नलिखित उदाहरणो मे यह स्पष्ट है —

'स्निग्ध भवत्यमृतकल्पमहो कलत्रम् ।'

'हालाहल विषमिवापगुण तदेव ।'

'ता रोहिणी विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले ।'

—काव्यालकारसूत्रवृत्ति पृ० ५६

इन उपमाओ मे उपमानो का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष न होकर साधारण-धर्म का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष कहना उचित होगा। उत्कर्ष तथा अपकर्ष का प्रधानत सम्बन्ध गुण से होता है, गुणी से उसका सम्बन्ध केवल गुण के द्वारा होता है। वस्तु स्वत उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट न होकर गुणविशेष को लक्ष्य करके ऐसी होती है। यह अवश्य है कि कतिपय वस्तुए अपने धर्म की प्रसिद्धि के कारण उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट प्रतीत होती है, परन्तु इसका कारण उन प्रसिद्ध धर्मो का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष ही होता है। इन वस्तुओ के श्रवणमात्र से इनका गुण हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है और हम इन वस्तुओ को उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट कह देते है। परन्तु प्रत्येक दशा मे ऐसी बात नही होती। कतिपय वस्तुए जो एक धर्म के कारण उत्कृष्ट कही जाती है वे ही अन्य धर्म के कारण निकृष्ट सिद्ध होती है। वस्तुओ मे अनेक धर्म होते है। ये धर्म सबके सब उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट हो ऐसी बात नही। इनमे से कुछ का उत्कृष्ट होना तथा कुछ का निकृष्ट होना भी सम्भव है।

भरत मुनि की प्रशसोपमा तथा निन्दोपमा[1] इसी श्रेणी के अन्तर्गत

---

१ देखिए नाट्यशास्त्र अ० १६ श्लो० ५१, ५२ देखिए नाट्यशास्त्र

आती है। भरत मुनि ने तत्त्वाख्यानोपमा का वर्णन नही किया है। वामन ने प्रशसोपमा तथा निन्दोपमा के अतिरिक्त तत्त्वाख्यानोपमा का भी निरूपण किया है।[1] दण्डी ने निन्दोपमा तथा प्रशसोपमा का उल्लेख किया है, परन्तु उनके द्वारा की हुई इन अलकारो की परिभाषाए कुछ भिन्न है।[2] परवर्ती आलङ्कारिको ने प्राय इस आधार पर उपमा के भेदो का विवेचन नही किया है। विश्वेश्वर ने अपने अलङ्कारशेखर मे निन्दोपमा का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उनकी निन्दोपमा पूर्ववर्ती आलङ्कारिको की निन्दोपमा से भिन्न है —

"यत्रोपमानस्य निन्दया प्रतिक्षेप सा निन्दोपमा —"

यथा—"नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषा ।

लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूप जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्या ॥"

यहा नागेन्द्रहस्त आदि को उरुओ से निकृष्ट बताया गया है। यहा साधारणधर्म की निकृष्टता से अभिप्राय न होकर उपमान की उपमेय से निकृष्टता दिखाने से अभिप्राय है। अत. इसे उपमा के अन्तर्गत न रखकर व्यतिरेक के अन्तर्गत रखना उचित होगा।

उपमानों तथा साधारणधर्मो की अनेकता के आधार पर भेद —

मालोपमा, परस्परोपमा, समुच्चयोपमा आदि भेद उपमानो तथा

---

१. "स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु"—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४ । २ । ७

२ "पद्म बहुरजश्चन्द्र क्षयी ताभ्याम् तवाननम् ।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ॥" २ । ३०

"ब्रह्मणोऽप्युद्भव पद्मश्चन्द्र शंभुशिरोधृत ।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशसोपमोच्यते ॥" २ । ३१—काव्यादर्श

प्रथम उदाहरण में आनन को पद्म तथा चन्द्र से उत्कृष्ट बताया गया है। अत इसे व्यतिरेक के अन्तर्गत रखना उचित है। द्वितीय उदाहरण को प्रशसोपमा का उदाहरण अवश्य कहा जा सकता है परन्तु इसमे वामनादि के उदाहरणों से यह भेद है कि वामनादि के उदाहरणो में उत्कर्ष उपमान से स्वत प्रकट होता है परन्तु यहा वह उपमान के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त शब्दो से प्रकट होता है।

साधारणधर्मो मे से किसी एक अथवा दोनो की अनेकता के आधार पर किए गए है। उपमानो की अनेकता का प्रयोजन उपमेय का केवल अनेक उपमानो मे सादृश्य बताना नही होता परन्तु इस सादृश्य के द्वारा साधारणधर्म का उत्कर्ष दिखाना होता है। मालोपमा मे यही बात होती है।

यथा—"वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥

—साहित्यदर्पण पृ० ५१८

यहा साधारणधर्म मनोहरता के द्वारा श्री का सादृश्य सरसी, निशीथिनी तथा वनिता के साथ दिखाया गया है। उपमानो की इस अनेकता से साधारणधर्म मनोहरता मे उत्कर्ष आ गया है।

उपर्युक्त उदाहरण मे केवल उपमानो की अनेकता है। कभी कभी उपमानो की अनेकता के साथ साथ साधारणधर्म की अनेकता भी सम्भव है। इसीलिए मालोपमा के भेद करते समय आलकारिको ने साधारणधर्म को भिन्न तथा अभिन्न बताया है।[1] भिन्न साधारणधर्म वाली मालोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है —

"ज्योत्स्नेव नयनानन्द सुधेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥"—काव्यानुशासन ६। ५१८

यहा नयनानन्दत्व, मदकारणत्व आदि साधारणधर्म हैं।

मालोपमा का अनेक आलकारिको ने निरूपण किया है। इनमे दण्डी, रुद्रट, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि प्रमुख है।

परस्परोपमा मे दो वस्तुओ का परस्पर सादृश्य दिखाया जाता है, परन्तु दोनो सादृश्यो मे साधारणधर्म भिन्न होता है —

"रजोभि· स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभै·।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥"

—चित्रमीमासा पृ० १०

यहा भूतल के साथ गगन के सादृश्य मे रजस् साधारणधर्म है

---

१ "इयमभिन्ने साधारणे धर्मे· ·· ·· ··इति भिन्ने वा।"

—काव्यानुशासन पृ० ३४६

बताना उचित नही क्योकि साधारणधर्म के साथ तृतीया के प्रयोग अथवा अप्रयोग से अर्थ मे कोई अन्तर नही आता ।

सादृश्य के संश्लिष्ट चित्रण आदि के आधार पर भेद—

सावयवा, निरवयवा आदि उपमाभेद सादृश्य के सश्लिष्ट चित्रण तथा ऐसे चित्रण के अभाव के आधार पर किए गए है । सावयवोपमा मे अवयवियो के सादृश्य के अतिरिक्त उनके अवयवो का सादृश्य भी रहता है । इस प्रकार इन सब के सादृश्य के द्वारा एक सश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जाता है —

"तत प्रतस्थे कौबेरी भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥"—चित्रमीमासा पृ० ६०

यहा 'रघु' तथा 'भास्वात्' के सादृश्य के अतिरिक्त शरो तथा किरणो एव उदीच्यो तथा रसो का सादृश्य भी दिखाया गया है । इस प्रकार के सादृश्य से एक सश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है । इससे बाणो के द्वारा उदीच्यो को नष्ट करने के लिए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किए हुए रघु, किरणो के द्वारा रसो को सुखाने के लिए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किए हुए रवि के समान प्रतीत होते है । उपर्युक्त उदाहरण मे अवयवियो के साथ साथ समस्त अवयवो का सादृश्य भी वाच्य है । अत यह समस्त-वस्तुविषयसावयवोपमा[1] का उदाहरण है ।

कभी कभी अवयवियो तथा अवयवो के सादृश्यो मे से किसी एक का सादृश्य व्यग्य होता है । इस दशा मे एकदेशविवर्तिनी सावयवोपमा[2] होती है —

"नेत्रैरिवोत्पलै पद्मैर्मुखैरिव सर श्रिय ।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकै स्तनैरिव ॥"—

साहित्यदर्पण पृ० ५१७

यहा उत्पल, पद्म आदि अवयवो का क्रमश नेत्र, मुख आदि से सादृश्य

---

१. देखिए चित्रमीमासा पृ० ६०

२. "एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते, भवेता यत्र साम्यस्य ।"
—साहित्यदर्पण १० । २४

वाच्य है, परन्तु सर श्रियो का ललनाओ से सादृश्य व्यग्य है। अत यह एकदेशविवर्तिनी सावयवोपमा का उदाहरण है।

निरवयवोपमा मे उपर्युक्त सश्लिष्ट चित्रण का अभाव रहता है। इसमे केवल अवयवियो का सादृश्य दिखाया जाता है अवयवो का नही —

"मुख कमलमिव सुन्दरम्"

यहा केवल मुख का कमल से सादृश्य दिखाया गया है, मुख के अवयवो का कमल के अवयवो से नही।

इस निरवयवोपमा मे उपमानो की अनेकता भी हो सकती है। इस निरवयवोपमा के दो भेद हो जाते है। प्रथम मे उपमान एक होता है तथा द्वितीय मे अनेक उपमान होते है। प्रथम उपमा को शुद्धा निरवयवोपमा तथा द्वितीय को मालानिरवयवोपमा कहते है। मालानिरवयवोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है —

"ज्योत्स्नेव नयनानन्द सुधेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥"

—साहित्यदर्पण टीका पृ० ५१८

आलङ्कारिको ने सावयवोपमा तथा निरवयवोपमा के अतिरिक्त परम्परितोपमा नामक उपमा का एक और भेद किया है। परम्परितोपमा मे उनके अनुसार एक सादृश्य अन्य सादृश्य का कारण होता है।

आलङ्कारिको का यह मत युक्तिसगत नही। दो वस्तुओ के सादृश्य का कारण उनमे विद्यमान साधारणधर्म ही हो सकता है। अन्य दो वस्तुओ का सादृश्य इन वस्तुओ के सादृश्य का कारण नही हो सकता। अन्य वस्तुओ का सादृश्य उन वस्तुओ के साधारणधर्म के आधार पर होता है। यह साधारण-धर्म इन अन्य वस्तुओ मे रहने के कारण इन्ही से सम्बद्ध हो सकता है। इनसे अतिरिक्त वस्तुओ से असम्बद्ध होने के कारण वह अतिरिक्त वस्तुओ के सादृश्य का कारण नही हो सकता। आलङ्कारिको के परम्परितोपमा के उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है —

"राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रय।
द्रुमाणामिव लोकाना मधुमास इवाभवत् ॥"—रसगगाधर पृ० २४३

जगन्नाथ के अनुसार यहा युधिष्ठिर का सादृश्य मधुमास मे तथा लोको का सादृश्य द्रुमो मे दिखाया गया है। इनमे द्वितीय सादृश्य प्रथम सादृश्य का कारण है। जगन्नाथ का यह मत उचित प्रतीत नही होता। यहा द्रुमो तथा लोको मे कोई साधारणधर्म नही। अत इनमे सादृश्य सम्भव नही। यदि इनमे किसी साधारणधर्म के आधार पर सादृश्य सम्भव मान लिया जाए तो भी वह युधिष्ठिर तथा मधुमास के सादृश्य का कारण नही हो सकता। युधिष्ठिर तथा मधुमास के सादृश्य के लिए आवश्यक है कि इन्ही मे कोई साधारणधर्म हो। अन्य वस्तुओ का साधारणधर्म इनके सादृश्य का कारण नही हो सकता।

वस्तुत उपर्युक्त श्लोक मे लोको तथा द्रुमो एव युधिष्ठिर तथा मधुमास मे पृथक् पृथक् सादृश्य दिखाने से अभिप्राय न होकर लोको तथा युधिष्ठिर के सम्बन्ध का सादृश्य द्रुमो तथा मधुमास के सम्बन्ध से दिखाने से है। उपर्युक्त श्लोक का यह अर्थ नही कि लोक द्रुमो के समान है तथा युधिष्ठिर मधुमास के समान है अपितु इसका अर्थ यह है कि युधिष्ठिर लोको के लिए वैसा ही है जैसा मधुमास द्रुमो के लिए होता है। जिस प्रकार द्रुमो तथा मधुमास मे पोष्यपोषक सम्बन्ध है उसी प्रकार युधिष्ठिर तथा लोको मे रक्ष्यरक्षक सम्बन्ध है। इस प्रकार दोनो सम्बन्धो मे सादृश्य है।

अप्पयदीक्षित का परम्परितोपमा का उदाहरण भी यह सिद्ध नही करता कि एक उपमा अन्य उपमा का कारण होती है। उदाहरण इस प्रकार है —

‘दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥’

—चित्रमीमासा पृ० ६०

यहा अम्बुराशि की उपमा अयश्चक्र से तथा वेला की उपमा अयश्चक्र की धारा से निबद्ध कलङ्करेखा से है। इस प्रकार यहा दो उपमाए है, परन्तु प्रथम उपमा को द्वितीय उपमा का कारण कहना उचित नही। यहा वेला का धारा मे निबद्ध कलङ्करेखा से सादृश्य स्वतन्त्र रूप से है, प्रथम उपमा के कारण नही। वेला तथा कलङ्करेखा दोनो मे नीलवर्ण साधारणधर्म है। अत दोनो मे सादृश्य है।

उपर्युक्त उदाहरण को समस्तवस्तुविषयमावयवोपमा का उदाहरण कहना उचित होगा। यहा अम्बुराशि की उपमा अयश्चक्र से है तथा अम्बुराशि के अवयव वला की उपमा अयश्चक्र के अवयव कलङ्करेखा मे है।

श्लिष्ट परम्परितोपमा का आलकारिको का उदाहरण भी यह सिद्ध नही करता कि एक उपमा अन्य उपमा का कारण हो सकती है। अप्पयदीक्षित का श्लिष्ट परम्परितोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है.

'राजहसायते राजा विदुषामेव मानसे'—चित्रमीमासा पृष्ठ ६१

अप्पयदीक्षित के अनुसार यहा चित्त का मानसरोवर से सादृश्य मानस मे श्लेष के कारण है तथा यह सादृश्य राजा तथा राजहस के सादृश्य का कारण है।

यह मत उचित नही। प्रस्तुत श्लोक मे मानस का मानसरोवर से तथा राजा का राजहस से सादृश्य दिखाने से तात्पर्य नही अपितु मानस तथा राजा के सम्बन्ध का सादृश्य मानसरोवर तथा राजहस के सम्बन्ध से दिखाने से है। श्लोक का अर्थ यही है कि विद्वानो के मन मे राजा उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार मानसरोवर मे राजहस। मन तथा राजा का आश्रयाश्रयी सम्बन्ध है तथा मानसरोवर एव राजहस का भी आश्रयाश्रयी सम्बन्ध है। इस प्रकार दोनो सम्बन्धो मे सादृश्य है। यद्यपि आश्रयाश्रयिभाव को लेकर दोनो सम्बन्धो मे अभेद है, परन्तु इन सम्बन्धो मे सम्बद्ध वस्तुओ के भेद के कारण भेदप्रतीति भी बनी रहती है। इस प्रकार भेद तथा अभेद के कारण दोनो सम्बन्धो मे अभेदप्रतीति न होकर सादृश्यप्रतीति ही होती है। स्वय दोनो आश्रयाश्रयिभावो मे भी कुछ अन्तर है। मानसरोवर तथा राजहस का आश्रयाश्रयिभाव मूर्त है तथा मन एव राजा का आश्रयाश्रयिभाव अमूर्त है।

अत परम्परितोपमा को भिन्न भेद मानने की आवश्यकता नही। आलकारिको के द्वारा दिए हुए परम्परितोपमा के उदाहरण प्राय सम्बन्धो के सादृश्य के अन्तर्गत आते है। उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है।

इसी प्रकार विशिष्टोपमा को भी भिन्न भेद मानना आवश्यक नही। विशिष्टोपमा के निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति।

भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसर भाति पङ्कजम् ॥"—चित्रमीमासा पृ० १५

यहा आनन का सादृश्य पङ्कज से दिखाया गया है। अक्षि तथा भृङ्ग एव दशनदीधिति तथा केशर मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अधीरत्व तथा भ्रमणशीलता एवं आविर्भाव तथा आलक्ष्यत्व मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। इस प्रकार यहा साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप मे है और यह साधारणधर्म आनन के पङ्कज से सादृश्य का कारण है। अत उपर्युक्त उदाहरण मे आनन का पङ्कज से सादृश्य मानकर अन्य अवयवो को साधारणधर्म का रूप मानना उचित होगा। यदि इन अवयवो मे विशिष्ट आनन तथा पङ्कज का सादृश्य माना जाता है तो भी अवयवो के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त बिम्बप्रतिबिम्बभाव को साधारणधर्म का हेतु मानना पडेगा, अन्यथा इन अवयवो का उपादान व्यर्थ हो जाएगा। अत विशिष्टोपमा साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव एव बिम्बप्रतिबिम्बभाव के अतिरिक्त और कुछ नही।

इस प्रकार सश्लिष्ट चित्रण तथा इस चित्रण के अभाव के आधार पर किए हुए आलङ्कारिको के दो उपमा भेद रह जाते है। ये सावयवोपमा तथा निरवयवोपमा हैं। सावयवोपमा के अतिरिक्त सम्बन्धोपमा तथा वस्तुप्रति-वस्तुभावमूलक एव बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमाओ मे भी सश्लिष्ट चित्रण होता है। निरवयवोपमा मे इस चित्रण का अभाव रहता है।

परवर्ती आलङ्कारिको ने उपमा के इन भेदो का विशद विवेचन किया है। अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ इनमे प्रमुख है। हेमचन्द्र ने समस्तविषया तथा एकदेशविषया का उल्लेख किया है।[1] विद्यानाथ ने इनके समस्त-वस्तुविषया तथा एकदेशविवर्तिनी नाम रखे है।[2] विश्वनाथ ने एकदेशवि-वर्तिनी का उल्लेख किया है।[3] पूर्ववर्ती आलङ्कारिको मे दण्डी तथा रुद्रट ने इनका उल्लेख किया है। दण्डी ने सावयवोपमा के लिए वाक्यार्थोपमा[4]

१ "अत्रोपमानोपमेययोरवयविनो' समस्तविषया। अवयवाना त्वेकदेशविषया।"
—काव्यानुशासन पृष्ठ २४७

२ प्रतापरुद्रयशोभूषण

३. साहित्यदर्पण १०।२४

४. "वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थ कोऽपि यद्युपमीयते।
एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा॥"—काव्यादर्श २।४३

शब्द का प्रयोग किया है। रुद्रट ने समस्तविषया तथा एकदेशिनी का उल्लेख किया है।[1]

सादृश्य के वाच्यत्व तथा व्यंग्यत्व के आधार पर किए गए उपमाप्रभेदों का खण्डन—

जगन्नाथ ने सादृश्य के वाच्यत्व तथा व्यंग्यत्व के आधार पर उपमालंकार के दो भेद किए हैं। ये वाच्योपमा तथा व्यंग्योपमा हैं। जगन्नाथ के अनुसार अलंकारत्व तथा व्यंग्यत्व में कोई विरोध नहीं। अलंकार का विरोध है तो केवल प्रधानता में है व्यंग्यता से नहीं। अतः अप्रधान व्यंग्य अलंकार हो सकता है।[2]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसङ्गत नहीं। अलङ्कारों का क्षेत्र वाच्य की चारुता है। अलङ्कारों में जहाँ व्यंग्य होता है वह वाच्य का उपस्कारक होता है और व्यंग्योपस्कृत यह वाच्य ही वहाँ अलंकार का स्वरूप होता है। केवल व्यंग्य चाहे वह प्रधान हो अथवा अप्रधान अलंकार का स्वरूप नहीं हो सकता। मम्मटादि ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।[3]

यदि व्यंग्यार्थ को अलंकार का स्वरूप माना जाता है तो व्यंग्यार्थ के अनेकों भेदोपभेद अलंकार के अन्तर्गत आ जाएंगे और फलतः व्यंजना का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाएगा। व्यंग्यार्थ में चमत्कार का कारण प्रधानतः व्यञ्जना होती है, सादृश्य आरोप आदि अन्य वस्तुएं नहीं। यदि सादृश्य व्यंग्य है तो वहाँ चमत्कार प्रधानतः व्यञ्जना के कारण होगा सादृश्य के कारण

---

१ "क्रियतेऽर्थयोस्तथा या तदवयवाना तथैकदेशानाम्।
परमन्या ते भवतः समस्तविषयैकदेशिन्यौ॥"—काव्यालङ्कार ८।२६

२ "न हि व्यंग्यत्वालङ्कारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः। प्राधान्येन व्यंग्यताया तु प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादलंकारलक्षणं तत्र मातिप्रसाङ्क्षीदित्युपस्कारकत्वेन पुनर्विशेषणीयम्, न त्वव्यंग्यत्वेन।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ २३७

३. "न खलु व्यंग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः, अपितु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव।"—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५६२

"उक्तव्यंग्यरूपं वैचित्र्यमनुसन्धानसाधितं भवदपि पश्चात्प्रतीतया अलंकारवैचित्र्यप्रतीतिव्यवहितप्रतीतिकत्वेनास्फुटतया च सदप्यकिञ्चित्करमेव।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

नही। सादृश्य का चमत्कार मुख्यत वाच्यता की दशा मे होता है। व्यग्यना की दशा मे चमत्कार का हेतु सादृश्य न होकर व्यञ्जना ही होती है। अत व्यग्यार्थ की दशा मे सादृश्य के सद्भावमात्र से उपमा कहना उचित नही।

भामह, उद्भट प्रभृति प्राचीन आलङ्कारिको के अनुसार वाच्यचारुत्व ही अलङ्कार का स्वरूप हे। अलङ्कारो मे जहा व्यग्यार्थ का सद्भाव है वह स्वतन्त्ररूप से न होकर वाच्यार्थ के उपस्कारक के रूप मे हे।[1]

अलङ्कार की इसी वाच्यता को ध्यान मे रखकर विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने अपनी उपमालङ्कार की परिभाषा मे वाच्य शब्द का सन्निवेश किया है।[2]

व्यग्य सादृश्य रूपक आदि मे भी होता हैं, परन्तु वहा उपमालङ्कार नही कहा जा सकता।

अप्पयदीक्षित को भी यह मत मान्य है। वे अलङ्कार के लिए अव्यंग्यत्व आवश्यक समझते हे। विशिष्टोपमा मे जहा विशेषणो का सादृश्य गम्य होता हे, वे विशेषणो के इस सादृश्य को अलङ्कार नही मानते। 'न पद्म मुखमेवेदम्' मे सादृश्य वाच्य नही, अत अप्पयदीक्षित इसे उपमालङ्कार नही मानते —

"... इति द्विविधमप्येतदुपमासामान्यलक्षणम्। अलङ्कारभूतोपमालक्षण तु एतदेवादुष्टाव्यग्यत्वविशेषितम्। विशिष्टोपमादिस्थले विशेषणाद्युपमाना वाच्यभूतविशिष्टोपमादिसिद्ध्यङ्गत्वात्। वाच्यसिद्ध्यगरूपगुणीभूतव्यग्यतयैव तासा नालङ्कारतेति न तदव्यापन दोष। 'पद्म मुखमेवेदम्' इत्यादौ नोपमालङ्कार।"—चित्रमीमासा पृ० २०

अप्पयदीक्षित का अलङ्कार को अव्यग्य कहना सर्वथा उचित है, परन्तु उपमा तथा उपमालङ्कार मे उनके द्वारा भेदकथन उचित नही। वे उपमा को वाच्य तथा व्यग्य दोनो मानते है परन्तु उपमालङ्कार को केवल वाच्य मानते है। यह युक्तियुक्त नही। उपमा से तात्पर्य उपमालङ्कार से ही है। उपमा उपमालङ्कार से अतिरिक्त कोई वस्तु नही। अत जहा सादृश्य व्यग्य हो वहा

---

१ "इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकारा प्रतीयमानमर्थ वाच्योपस्कारकतयालङ्कारपक्षनिक्षिप्त मन्यन्ते।"—सर्वस्व पृ० ४

२ "स्वत सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मत
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्य चेदेकदोपमा॥"—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २५४
"साम्य वाच्यमवैधर्म्य वाक्यैक्ये उपमा द्वयो।"—साहित्यदर्पण १०।१४

व्यग्योपमा न कहकर व्यग्य सादृश्य कहना उचित होगा। व्यग्य सादृश्य तथा व्यग्य आरोप आदि के लिए उपमाध्वनि तथा रूपकध्वनि आदि का जो प्रयोग किया जाता है वह केवल गौण रूप से होता है, और इसका प्रयोजन केवल यही बताना होता है कि यदि यही सादृश्य तथा आरोप आदि वाच्य हो तो ये उपमालकार तथा रूपकालकार आदि के उदाहरण होगे। प्रधान व्यग्य के लिए अलङ्कार का प्रयोग 'ब्राह्मणश्रमणन्याय'[1] के आधार पर जिस प्रकार गौणरूप मे माना जाता है उसी प्रकार अप्रधान व्यग्य के लिए भी अलङ्कार के प्रयोग को गौण रूप से मानना चाहिए। प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर व्यग्यार्थ के इस प्रकार भेद करना उचित नही। दोनो दशाओ मे अर्थ का स्वरूप समान होता है तथा चमत्कार व्यञ्जना के कारण होता है--

अवयवों के उपादान तथा अनुपादान के आधार पर उपमाभेद—

आलङ्कारिको ने उपमा के सम्पूर्ण अवयवो के उपादान तथा उनमे से किसी एक अथवा अधिक के अनुपादान के आधार पर उपमा के पूर्णा तथा लुप्ता दो भेद किए है। पूर्णोपमा मे उपमा के समस्त अवयव उपमेय, उपमान, साधारणधर्म तथा वाचक विद्यमान रहते है। इन समस्त अवयवो के विद्यमान रहने के कारण सादृश्य मे स्पष्टता आ जाती है।

"मुख कमलमिव सुन्दरम्।"

यहा उपमा के चारो तत्त्व उपमेय, उपमान, साधारणधर्म तथा वाचक क्रमश मुख, कमल, सौन्दर्य तथा इव के रूप मे विद्यमान है। इन समस्त तत्त्वो के उपादान के कारण मुख का कमल मे सौन्दर्य-सम्बन्धी सादृश्य स्पष्ट हो जाता है।

लुप्तोपमा मे इन तत्त्वो मे से किसी एक अथवा अधिक का लोप होता है। 'मुख कमलमिव' मे साधारणधर्म सौन्दर्य के अनुपादान के कारण मुख का कमल से सौन्दर्य-सम्बन्धी सादृश्य पहले की भाति स्पष्ट नही।

---

१ "श्रमणो बौद्धसन्यासी। यथा तस्याशास्त्रीयविधिना त्यक्तशिखासूत्रादेस्त्यक्तनित्यादिकर्मणश्च तदानीं ब्राह्मणत्वाभावेऽपि पूर्वकालिकब्राह्मणत्वमादाय ब्राह्मणत्वव्यवहारस्तथालकार्यस्यापि व्यग्यतादशायामलङ्कारत्वाभावेऽपि वाच्यतादशाया विद्यमानमलङ्कारत्वमादायालङ्कारत्वव्यपदेश इत्यर्थ।"—बालबोधिनी पृ० १३२

आलङ्कारिको ने इव तथा सदृश के भेद एव वाक्य, समास तथा प्रत्यय के आधार पर पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा के पुन अनेको उपभेद किए ह। पूर्णोपमा के इव तथा सदृश के आधार पर श्रौती तथा आर्थी दो भेद करके पुन वाक्य, समास एव तद्धित के आधार पर प्रत्येक के तीन उपभेद कर दिए है।[1] इस प्रकार पूर्णोपमा के छ भेद हो जाते है।

आलङ्कारिको द्वारा इव तथा सदृश के भेद एव वाक्य, समास तथा प्रत्यय के आधार पर इस प्रकार उपमा का विभाजन उचित नही। इव तथा सदृश के आधार पर किए हुए विभाजन का निराकरण पहले किया जा चुका है। वाक्य, समास तथा प्रत्यय के आधार पर भी विभाजन उचित नही। जहा तक सादृश्य का सम्बन्ध है वह वाक्य, समास तथा प्रत्यय मे समान रूप से अभिव्यक्त होता है। ऐसा नही कि वाक्य, समास तथा प्रत्यय के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण सादृश्य के स्वरूप मे अन्तर आ जाए। उपमा के विभाजन के समय विचारणीय वस्तु सादृश्य के स्वरूपभेद होने चाहिए वाक्य, समास तथा प्रत्यय आदि नही। वाक्य, समासादि केवल व्याकरण का विषय है। अत अलङ्कारशास्त्र से उसका विशेष सम्बन्ध नही। यही कारण है कि अप्पयदीक्षित ने इस प्रकार के विभाजन को असमीचीन बताया है।[2]

उपमा के चारो तत्त्वो मे से एक अथवा अधिक का अनेक प्रकार से लोप सम्भव होने के कारण आलङ्कारिको ने लुप्तोपमा के अनेको भेद किए है।[3] जहा तक सादृश्य की अस्पष्टता का सम्बन्ध है यह अस्पष्टता किसी एक अथवा किन्ही अनेक तत्त्वो के लोप होने पर समान रूप से रहती है। ऐसा नही कि लुप्त तत्त्वो की भिन्नता के कारण तज्जन्य सादृश्य की अस्पष्टता मे भी भेद हो और न ही यह बात है कि लुप्त तत्त्वो

---

१ "साग्रिमा श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा।"

—काव्यप्रकाश सू० १२७

२ "एवमथ पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति।"

—चित्रमीमासा पृ० ३१

३ मम्मटादि ने ये भेद किए है।

की सख्या के अनुसार तज्जन्य अस्पष्टता मे भी मात्राभेद हो। हमे न तो इस प्रकार के सादृश्यसबधी अस्पष्टता के भेदो की प्रतीति होती है और न ही इस अस्पष्टता के मात्राभेद की प्रतीति होती है। दूसरे इन तत्त्वो मे से किसी एक अथवा किन्ही अनेक के लोप का ज्ञान प्राय अलकारशास्त्र का विषय न होकर पूर्णत व्याकरण-शास्त्र का विषय बन जाता है। इन तत्त्वो मे से किसी एक अथवा किन्ही अनेक के लोप होने पर सादृश्य जिस भाषा के द्वारा अभिव्यक्त होता है उसमे कभी कभी यह जानना कठिन हो जाता है कि किस तत्त्व का लोप हुआ है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"राजा पौर सुतीयति"

यहा पौर का सादृश्य सुत से दिखाया गया है। पौर यहा उपमेय है तथा सुत उपमान है। उपमान सुत के बाद क्यच् प्रत्यय जोडा गया है। यह पाणिनि मुनि के 'उपमानादाचारे'[1] सूत्र के अनुसार हुआ है। इस क्यच् प्रत्यय मे साधारणधर्म तथा वाचक मे से किस तत्त्व का लोप हुआ है, इस विषय को लेकर विद्वानो मे मतभेद है। मम्मट के अनुसार यहा वाचक का लोप है।[2] साधारणधर्म आचार के रूप मे यहा विद्यमान है। क्यच् प्रत्यय का अर्थ पाणिनि मुनि के अनुसार आचारसामान्य होता है। जिस शब्द के बाद यह प्रत्यय जुडता है उसके अनुसार आचारविशेष का ज्ञान हो जाता है। वामनाचार्य का यही मत है।[3]

---

१ ३।१।१० २. 'वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि। कर्मकर्त्रोर्णमुलि ।।"—काव्यप्रकाश सू० १३०

३ "अत्र 'उपमानादाचारे' इति पाणिनिसूत्रेण उपमानवाचकात् सुतमिति कर्मपदात् आचारेऽर्थे क्यच्प्रत्यय । आचारोऽत्र स्नेहपालनादिरूप । स एवात्र साधारणो धर्म । क्यच आचारसामान्योऽर्थ, विशेषाचारस्तु तत्तत्पदसान्निध्यात् प्रतीयते । एव चोपमानभत-सुतकर्मकाचाराभिन्न पौरजनकर्मकाचार इति बोध । तथा चात्रोपमाप्रतिपादक-स्येवादेस्तुल्यादेर्वा प्रयोगाभावेनोपमाप्रतिपादकस्य लोप इति कर्मक्यचि वादिलुप्तेयमुपमा। क्यच्प्रत्ययस्तु नोपमाप्रतिपादक तस्य आचारेऽर्थे विहिततया आचारमात्रार्थकत्वात् आचारस्य च समानधर्मत्वादिति बोध्यम् ।।" —बालबोधिनी पृ० ५७०

विश्वनाथ उपर्युक्त उदाहरण मे वाचक का लोप न मानकर साधारण-धर्म का लोप मानते है।[1] विश्वनाथ के अनुसार कल्प, वत् आदि प्रत्ययो तथा क्यच् आदि प्रत्ययो मे कोई अन्तर नही। अत यदि कल्प, वत् आदि को औपम्य का वाचक माना जाता है तो क्यच् आदि को ऐसा मानने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए। विरोधियो का यह तर्क अर्थहीन है कि पाणिनि मुनि ने वत् आदि का इवादि के अर्थ मे विधान किया है परन्तु क्यच् आदि का केवल आचार के अर्थ मे विधान है। क्यच् आदि का केवल आचार के अर्थ मे विधान नही अपितु सदृश आचार के अर्थ मे विधान है। 'उपमानादाचारे' मे आचार के उपमान के बाद जुडने के कारण सदृश का स्वत आक्षेप हो जाता है।[2]

जगन्नाथ के अनुसार क्यच् प्रत्यय मे साधारणधर्म तथा वाचक दोनो का लोप है। क्यच् आचार के अर्थ मे अवश्य प्रयुक्त होता है, परन्तु यह आचारसामान्य होता है। आचारसामान्य साधारणधर्म नही हो सकता। साधरणधर्म बनने के लिए आचार मे विशिष्टता होनी चाहिए।[3]

---

१ " 'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोप"

—साहित्यदर्पण पृ० ५१०

२ " वत्यादिक्यङाद्योः साम्यमेवेति। यच्च केचिदाहुः—

'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्वाचाराद्यर्थे' इति। तदपि न। न खलु क्यङादय आचारमात्रार्था अपितु सादृश्याचारार्था इति।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५१२

३ "अत्रेदमवधेयम् कर्माधारक्यच्चि क्यङि च वाचकलुप्तोदाहरणम् प्राचामसगतमिव प्रतीयते, धर्मलोपस्यापि तत्र सम्भवात्। न च क्यजाद्यर्थ आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्तव्यम्, धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात्।"

जहा तक सादृश्य का सबंध है हम उपर्युक्त उदाहरण के लिए केवल इतना कह सकते है कि यहा पोर तथा सुन मे सादृश्य की प्रतीति होती है, परन्तु वह पूर्णोपमा के समान स्पष्ट नही। इस सादृश्यविधान मे वाचक का लोप हुआ है अथवा साधारणधर्म का अथवा इन दोनो का इस विषय तक सादृश्यजन्य चमत्कार की अनुभूति करने वाला व्यक्ति न तो जाता है और न ही वहा तक जाने की आवश्यकता समझता है। यह अवश्य है कि चमत्कार की अनुभूति करने वाला व्यक्ति भाषा की उपेक्षा नही कर सकता, क्योकि यह भाषा ही है जो चमत्कारानुभूति का साधन है। परन्तु भाषा वही तक उसकी दृष्टि का विषय बनती है जहा तक वह चमत्कार का साधन है। भाषा अलकार के विद्यार्थी को चमत्कारानुभूति की दिशा से इतर दिशा की ओर नही ले जा सकती और यदि ले जाती है तो उसका वह क्षेत्र चमत्कारानुभूति के क्षेत्र से बाह्य है।

अत प्रत्ययो के विवेचन से सम्बन्ध रखने वाला व्याकरण-शास्त्र का यह विषय अलकारशास्त्र से बाह्य है। इस विषय का विवेचन उद्भट से आरम्भ हुआ। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने उन्ही का अनुसरण करते हुए व्याकरणमूलक इन उपमाभेदो का सविस्तर वर्णन किया है। इन आलकारिको का व्याकरणशास्त्र का पाण्डित्य ही इस विवेचन का प्रमुख कारण है।

सादृश्य की अस्पष्टता की दृष्टि से यद्यपि उपमा के चारो तत्त्वो मे से किसी एक अथवा किन्ही अनेक तत्त्वो के लोप से भेद की प्रतीति नही होती तथापि चमत्कारानुभूति की प्रक्रिया मे जहा इन तत्त्वो का स्वत बोध हो जाता है वहा वे अलकारशास्त्र के विवेचन का विषय बन सकते है।

निम्नलिखित उदाहरण मे साधारणधर्म के लोप का स्वत ज्ञान हो जाता है·— 'मुख कमलमिव।'

यहा साधारणधर्म सौन्दर्य का लोप है।

उपमानलोप का उदाहरण इस प्रकार है —

"यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णनपरिमलोद्गारै ।

कुसुमकुलतिलक चम्पक न वय न जानु जानीम ॥'

—रसगगाधर पृ० २१५

यहा उपमेय चम्पक के उपमान का अनुपादान है।

कतिपय आलकारिको के अनुसार उपमानलोप की दशा मे सादृश्य सम्भव नही। सादृश्य का ज्ञान उपमान के द्वारा ही होना है। जहा उपमान का लोप होगा वहा पर्यवसान सादृश्य मे न होकर सादृश्याभाव मे होगा। अत वहा उपमानकार न होकर अन्य अलकार होगा। जगन्नाथ ने विरोधियो के इस मत का उल्लेख किया है।[1]

यह मत युक्तियुक्त नही। उपमानानुपादान का अर्थ सदा सादृश्याभाव नही होता। जब हमे सादृश्य का ज्ञान नही होता, तब भी उपमान-लोप सम्भव है। सादृश्यज्ञान के अभाव मे तथा सादृश्याभाव मे अन्तर है। सादृश्याभाव मे उपमान की सत्ता का निराकरण होता है। सादृश्यज्ञान के अभाव मे इसके विपरीत उपमान की सत्ता का निराकरण नही होता किन्तु केवल उसके ज्ञान का निराकरण होता है। जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर इसी मत के समर्थक है।[2]

वाचकलुप्ता का उदाहरण इस प्रकार है —

"वदन मृगशावाक्ष्या सुधाकरमनोहरम्।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५१३

यहा इव का लोप है।

---

१ "उपमानाभावेन सादृश्याभावस्य पर्यवसानात्सादृश्यपर्यवसानस्य चोपमा-जीवितत्वादलङ्कारान्तरमेवात्र नोपमानेलुप्ता।"

—रसगगाधर पृ० २१५

२ ''यस्य तुलामधिरोहसि न त वय जानीम' इत्युक्त्या अस्माकम सर्वज्ञत्वादस्मदगोचर: कोऽपि तवोपमान भविष्यतीति सादृश्यपर्यवसानम्।'

—रसगगाधर पृ० २१५

"अतोऽत्रानुपादानमात्रमुपमानस्य विवक्षित न तु वस्तुतोऽप्यसत्त्वम्।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० १११

"तस्या मुखेन सदृश लोके नास्ते —"

यहा धर्म तथा उपमान का लोप है।

"तस्या मुखाब्जम् अवलोक्य स हृष्यति"—इस उदाहरण मे साधारण-धर्म सौन्दर्य तथा वाचक 'इव' का लोप है।

"राजते मृगलोचना—"

यहा मृगलोचना का अर्थ 'मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या सा' है। इस प्रकार यहा उपमान मृगलोचन, साधारणधर्म चञ्चलता तथा वाचक 'इव' का लोप है।

अन्य भेद—

आलङ्कारिको ने उपमा के अन्य भेद भी किए है। रुद्रट विश्वनाथ आदि ने रशनोपमा का उल्लेख किया है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

"नभ इव विमल सलिल सलिलमिवानन्दकारि शशिबिम्बम्।
शशिबिम्बमिव लसद्द्युति तरुणीवदन शरत्कुरुते।।"

—काव्यालकार ८। २८

इस भेद को भिन्न मानने की आवश्यकता नही। यहा उपमाओ की एक शृङ्खला है, परन्तु इस शृङ्खला से सादृश्य के चमत्कार मे कोई वृद्धि नही होती। शशिबिम्ब का सलिल से सादृश्य, सलिल के नभस् से सादृश्य मे किसी प्रकार सहायक नही। रशनोपमा मे उपमाओ की इस शृङ्खला का सादृश्य से असबध देखकर ही मम्मट ने इसे भिन्न भेद स्वीकार नही किया है।[2]

दण्डी ने अतिशयोपमा का उल्लेख किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

---

१ "अर्थानामौपम्ये यत्र बहूना भवेद्यथापूर्वम्। उपमानमुत्तरेषा सेय रशनोपमेत्यन्या।।"
—काव्यालङ्कार ८। २७

"कथिता रसनोपमा, यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता।
—साहित्यदर्पण १०। २५

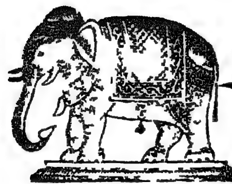
२. 'इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवविधवैचित्र्यसहस्रसभवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च।'
—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५८०

"त्वय्येव त्वन्मुख दृष्ट दृश्यते दिवि चन्द्रमा , इयत्येव भिदा नान्या ॥"
—काव्यादर्श पृ० १२७

यहा एक भेद का तत्त्व है, अन्य तत्त्व अभिन्न है। इस प्रकार यहा भेद तथा अभेद है। उपमा की सामान्य परिभाषा मे भी भेद तथा अभेद होता है। अन्तर इतना ही है कि उपमा के प्रसिद्ध उदाहरण 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे जहा अभेद का तत्त्व एक है तथा अन्य तत्त्व भिन्न हे, वहा प्रस्तुत उदाहरण मे भेद का तत्त्व एक है तथा अन्य तत्त्व अभिन्न हे। परन्तु भेद तथा अभेद के तत्त्वो की सख्या के आधार पर उपमा के भेद करना उचित नही। अत' अतिशयोपमा को अतिरिक्त भेद मानने की आवश्यकता नही। सादृश्य की प्रतीति दोनो दशाओ मे समान रूप से होती है।

भोज ने पद, वाक्य आदि के आधार पर उपमा के भेद करके उनके पुन अनेक अवान्तर भेद किए है।[1]

रुद्रट ने भी पद, वाक्य आदि के आधार पर उपमा का विभाजन किया है।[2] उपमा का यह विभाजन सादृश्य-तत्त्व के आधार पर नही।



---

१ पदवाक्यप्रपञ्चाख्यैर्विशेषैरुपपद्यते ।
पृथगष्टविधत्वेन ताश्चतुर्विंशति· पुन ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण ४,७

२ सा च त्रेधा—वाक्योपमा प्रत्ययोपमा च ।

अनन्वय

अनन्वय की परिभाषा प्रायः सभी आलकारिको ने की है। वे इस बात पर सहमत हे कि एक ही वस्तु का उपमेय तथा उपमान होना अनन्वय के लिए आवश्यक है। अत इन शब्दो का सभी आलकारिको ने अनन्वय की परिभाषा मे सन्निवेश किया हे। परन्तु एक अन्य तत्त्व को लेकर इन आलकारिको मे मतभेद ह। यह तत्त्व 'असादृश्य-विवक्षा' अथवा 'उपमानान्तरव्यवच्छेद' है। यह बात नही कि आलकारिक अनन्वय मे इस तत्त्व की सत्ता स्वीकार न करे। भेद इतना ही है कि कतिपय आलकारिक अपनी परिभाषा मे जहा इस तत्त्व का स्पष्ट निर्देश करते हे, वहा अन्य आलकारिक परिभाषा मे इस तत्त्व के निर्देश की आवश्यकता नही समझते, एक वस्तु के उपमानोपमेयत्व को ही वे पर्याप्त समझते हे। निम्नलिखित परिभाषाओ मे यह स्पष्ट है —

"एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वय"[1] —वामन

रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि की परिभाषाए इसी के समान ह।

भामह, उद्भट, जगन्नाथ आदि ने परिभाषा मे इसके अतिरिक्त असादृश्यविवक्षा अथवा इसके पर्यायवाची शब्दो का भी सन्निवेश किया है —

' यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।

असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्॥"[2] —भामह

"द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूत यदेकोपमानोपमेयक सादृश्य तदनन्वय।"[3] —जगन्नाथ

अनन्वय के प्रसिद्ध उदाहरण 'मुखमिव मुखम्' को ध्यान मे रखने पर प्रतीत होगा कि अनन्वय की परिभाषा मे एक वस्तु के

---

१ काव्यालकारसूत्र ४।३।१४

२ भामहालकार ३।४५

३ रसगगाधर पृष्ठ २७०

उपमानोपमेयत्व के अतिरिक्त असादृश्यविवक्षा का सन्निवेश भी आवश्यक है। इस उदाहरण मे चमत्कार का हेतु असादृश्यविवक्षा भी है। अत परिभाषा मे इसका निर्देश न करना उचित नही। जो वस्तु चमत्कार का हेतु है तथा जिसकी सत्ता भी आलकारिको को मान्य है, परिभाषा मे उसका निर्देश आवश्यक है। दूसरे इस तत्त्व के निर्देश न करने से परिभाषा मे अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। जब कालभेद के अनुसार उस वस्तु का उसी से सादृश्य दिखाया जाता है तब एक ही वस्तु का उपमानोपमेयभाव होता है परन्तु फिर भी हम इसे अनन्वयालकार नही कह सकते।[१] कारण यही है कि इस दशा मे उपमानान्तरव्यवच्छेद नही होता। यदि 'एकस्योपमेयोपमानत्व' को ही अनन्वय की परिभाषा माना जाता है तो उपर्युक्त दशा मे अनन्वयालकार होना चाहिए, परन्तु ऐसी बात नही।

अनन्वय के उपर्युक्त लक्षण से समुच्चयोपमा के निम्नलिखित उदाहरण मे भी अतिव्याप्ति होगी —

"पितुर्नियोगाद्वनवासमेव निस्तीर्य राम प्रतिपन्नराज्य ।

धर्मार्थकामेषु समा प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तम् "

—चित्रमीमासा पृ० ४८

यहा एक ही राम उपमेय तथा उपमान है, फिर भी यहा अनन्वयालकार नही। यहा तात्पर्य राम का राम से सादृश्य बताकर उपमानान्तर-व्यवच्छेद से नही अपितु धर्म, अर्थ एव काम मे तथा अनुजो मे समान वृत्ति के प्रतिपादन से है। यह कहना उचित नही कि उपमानोपमेयभाव एक राम मे नही अपितु धर्मादि के प्रति वृत्ति मे तथा अनुजो के प्रति वृत्ति मे है, क्योकि ऐसा मानने से "पाण्ड्योऽयमसार्पित-लम्बहार" मे भी उपमानोपमेयभाव हारादि तथा निर्झरादि मे हो जाएगा और इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव के उदाहरण

---

१ "एव च 'गगन गगनाकार सागर सागरोपम । रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव ॥' इत्यादि देशकालादिभेदेन भेदे उपमैव, तद्युगे तद्देशे वा यथा गगन तथा एतद्युगे एतद्देशेऽपीति बोधात्।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ५८२

का लोप हो जाएगा।[1]

इस अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिए अप्पयदीक्षित ने अपनी अनन्वय की परिभाषा मे 'अनुगाम्येकधर्मिका' शब्द का सन्निवेश किया है।[2] इस शब्द के सन्निवेश से अप्पयदीक्षित का प्रयोजन असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद का बोध कराना ही है। अत इस प्रयोजन का स्पष्ट निर्देश न करके प्रकारान्तर से इसके सूचक शब्दो को रखना उचित नही। अनन्वय मे असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद चमत्कारप्रतीति का आवश्यक अग है। अत परिभापा मे इसका स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है।

अप्पयदीक्षित ने इस शब्द के सन्निवेश के द्वारा अनन्वय शब्द की सार्थकता बताने का प्रयत्न किया है।[3] इनका यह प्रयत्न अनावश्यक है। परिभाषा का उद्देश्य अलकारजन्य चमत्कारप्रतीति के स्वरूप को बताना होता है, अलकार के नाम की सार्थकता को सिद्ध करना नही।

मम्मट ने अनन्वय की परिभाषा मे 'एकवाक्यगे' शब्द का भी सन्निवेश किया है।[4] परिभाषा मे इस शब्द का सन्निवेश उचित

१ "न चैतषु क्वचिद्धर्मादिषु वृत्तेखरजेषु वृत्तेश्चोपमानोपमेयभाव ... न तु क्वचिदप्येकस्यैव धर्मिण उपमानोपमेयभाव। विशिष्टान्वयिनोऽपि विशेष्यबाधे विशेषणसक्रमौचित्यादिति वाच्यम्। यथा धर्मार्थकामेषु समवृत्ति प्रपेदे तथावरजेष्वित्यादिप्रकारेणैकस्यैवोपमानोपमेयभावे निबद्धेऽपि तस्य विशेषणसक्रान्तिकल्पने 'पाण्डयोऽयमसार्पितलम्बहार' इत्यादीनामपि हारनिर्झरादीनामेवोपमानोपमेयभाव स्यादिति बिम्बप्रतिबिम्बोदाहरणमात्रविलोपप्रसगात्॥"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ४८

२ "स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका।
अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरित॥"

चित्रमीमासा पृष्ठ ४६

३ 'धर्मैक्ये हि स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीत्यनन्वय इत्यन्वर्थ नाम भवति।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ४६

४ "उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे।"—काव्यप्रकाश सू० १३५

नही । एकवाक्यत्व अनन्वयजन्य चमत्कारप्रतीति के स्वरूप का अग नही । इसका पता तो हमे तब चलता है जब हम चमत्कार-प्रतीति की स्थिति से हटकर तर्कदृष्टि से अलकार का विश्लेषण करते है।

अत भामह आदि की अनन्वय की परिभाषा ही निर्दोष सिद्ध होती है। इस परिभाषा के अनुसार असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद परिभाषा का आवश्यक अग है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्य-वच्छेद अनन्वय का आवश्यक अग है तो इसे सादृश्यमूलक अलकारो की श्रेणी मे रखने का क्या आधार है । आलकारिको ने अनन्वय का फल सादृश्य अथवा औपम्य न बताकर सादृश्याभाव अथवा अनौपम्य बताया है ।[1] अत इसे सादृश्यमूलक अलकारो के अन्तर्गत रखना उचित नही।

इसका उत्तर यह हो सकता है कि सादृश्यमूलकता तथा उपमानान्त रव्यवच्छेद मे निश्चित विरोध नही । सादृश्यमूलकता के लिए यह आवश्यक नही कि पर्यवसान सादृश्य मे हो । यदि प्रक्रिया सादृश्य की है तो सादृश्याभाव मे पर्यवसान उस प्रक्रिया के सादृश्यसम्बन्धी स्वरूप पर प्रभाव नही डाल सकता । अनन्वय मे यही होता है । इस अलकार मे कवि की चित्तवृत्ति सादृश्य को लक्ष्य करके चलती है। यदि मुख कवि का वर्ण्य विषय है तो वह मुख के धर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख से सदृश वस्तु का अन्वेषण करता है। इस प्रकार कवि के ज्ञान का विषय सादृश्यान्वेषण होता है। इस सादृश्या-न्वेषण का पर्यवसान सादृश्यप्राप्ति मे नही होता केवल इतने से हम प्रक्रिया के सादृश्यमय स्वरूप को अन्यथा नही कह सकते ।

---

१ "एव चात्रोपमानान्तरव्यवच्छेदेन चमत्कार, उपमाया तु साम्यप्रतीत्या चमत्कार • •।।"—बालबोधिनी पृष्ठ ५८२

"ततश्च स्वस्य स्वेनापि सादृश्यासभवादनुपमेयत्वे पर्यवसानम् ।।"

—कुवलयानन्द पृष्ठ १०

"अनन्वयार्थनिबन्धनवशाच्चानुपमत्वद्योतनफलपर्यन्त धावेत् ।।"

चित्रमीमासा पृष्ठ ४६

कवि जब मुख के धर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख से सदृश वस्तुओ को ढूढने का प्रयत्न करता है तब उसकी दृष्टि अन्य वस्तुओ मे उस साधारणधर्म को देखने के प्रयत्न तक ही सीमित रहती है। ऐसा नही होता कि अन्य वस्तु मे उस साधारणधर्म के न मिलने पर कवि उस वस्तु के मुख मे वैधर्म्य के आधार पर वैसादृश्य को अपना लक्ष्य बना ले। वैधर्म्य अथवा विरोध की प्रतीति अनन्वय मे नही होती।

अनन्वय के उदाहरण 'मुखमिव मुखम्' मे मुख को मुख के समान कहा गया है, परन्तु सादृश्य की परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' के अनुसार वही वस्तु उसी वस्तु के समान नही हो सकती। समता अथवा सादृश्य के लिए आवश्यक है कि वस्तुओ की सत्ता भिन्न हो। अत प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त उदाहरण मे मुख का सादृश्य किस मे है। अथवा प्रस्तुत उदाहरण मे सादृश्य को असम्भव मानकर हम कह दे कि यहा वाच्यार्थ का सर्वथा बाध हो जाता है और इसके फलस्वरूप उपमानान्तरव्यवच्छेद की प्रतीति होती है। अप्पयदीक्षित ने ऐसा ही माना है।[1]

अनन्वय मे वाच्यार्थ के बाध की प्रतीति हो ऐसी बात नही। जब कहा जाता है कि मुख के समान मुख है तब हमे यह प्रतीति अवश्य होती है कि मुख के समान अन्य कोई वस्तु नही, परन्तु इस प्रतीति के पूर्व मुख के मुख से सादृश्य के बाध की प्रतीति भी हो ऐसी बात नही। वस्तुस्थिति तो यह है कि उपर्युक्त वाक्य से सीधे ही हमे यह प्रतीति हो जाती है कि मुख के समान अन्य कोई वस्तु नही, बीच मे उसी वस्तु के उसी से सादृश्य के बाध की प्रतीति को व्यवधान के रूप मे मानने की आवश्यकता नही। इसीलिए विश्वेश्वर ने अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन किया है।[2]

---

१ "ततश्च स्वस्य स्वेनापि सादृश्यासम्भवादनुपमेयत्वे पर्यवसानम्"

—कुवलयानन्द पृष्ठ १०

२ "यत्तु चित्रमीमासायाम्—स्वस्मिन् स्वसादृश्यस्याप्यसम्भवादुपमानान्तरव्यावृत्ति—इति, तदसत्।" —अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ १७२

अत अनन्वय मे उसी वस्तु के उसी से सादृश्य के बाध की प्रतीति को मानना उचित नही। परन्तु समस्या का समाधान इतने मे नही होता। यदि इस अलकार मे सादृश्य के इस बाध की प्रतीति नही होती है तो सादृश्य किस का किस से होता है और उसका क्या स्वरूप होना है यह प्रश्न ज्यो का त्यो बना हुआ है। आलकारिको ने इसके भिन्न भिन्न उत्तर दिए है।

सुधासागरकार के अनुसार अनन्वय मे उपमेय तथा उपमान मे वास्तविक भेद तो नही होता किन्तु आहार्य[1] भेद होता है। इस आहार्य भेद के कारण यहा सादृश्य सम्भव है।[2]

सुधासागरकार का यह उत्तर सन्तोषजनक नही। अनन्वय मे हमे जो चमत्कार की प्रतीति होती है वह उसी वस्तु का उसी से सादृश्य समझने के कारण उत्पन्न होती है। यदि यह सादृश्य उस वस्तु का उसी से प्रतीत न होकर किसी भिन्न वस्तु से प्रतीत होता है तो अनन्वयजन्य चमत्कार सम्भव नही।

रुय्यक तथा समुद्रबन्ध ने भी इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार शब्दभेद के कारण एक ही अर्थ भिन्न सा प्रतीत होता है। अत इस भिन्न प्रतीति के कारण अनन्वय मे उसी वस्तु का उसी से सादृश्य सम्भव है।[3]



१ "बाधकालिकेच्छाजन्य ज्ञानमाहार्यम्"—काव्यप्रकाश टिप्पणी पृष्ठ ५८५

इस प्रकार अनन्वय मे 'मुख के समान मुख नही हो सकता' यह ज्ञान बाधक है। इस ज्ञान के समय मुख को मुख के समान बताने की इच्छा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आहार्य है।

२ "यद्यप्यसति सादृश्य नोपमानोपमेयभाव सादृश्य च भेदघटितमित्येकस्योपमानोपमेयत्वमनुपपन्न तथाप्याहार्योऽत्र भेदो द्रष्टव्य।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ५८२

३ "वाच्याभिप्रायेण पूर्वरूपानुगम"—सर्वस्व सू० १२

इसकी व्याख्या करते हुए समुद्रबन्ध लिखते है —

"एक एवार्थ शब्देन द्विरभिहितो भिन्नवदवभासते। तस्मादर्जुनोऽर्जुन इवेत्यादौ एकस्यैवार्जुनस्य शब्दवाच्याकारपर्यालोचनेन भेदावभासात् पूर्वनिर्दिष्टस्य साधर्म्यादिरूपस्यानुगमः।"

—समुद्रबन्ध टीका पृष्ठ २८

रुय्यक एव समुद्रबन्ध का यह उत्तर भी सन्तोषजनक नही । अर्थ का एक होना तथा उसका भिन्नवत् प्रतीत होना ये दोनो बाते परस्पर-विरोधी है। यदि अर्थ एक है तो प्रतीति एकता की ही होगी भिन्नता की सी नही, और यदि अर्थ भिन्न से प्रतीत होने है तो उन्हे एक कहना उचित नही। कतिपय आलङ्कारिक शब्दभेद को भेद का कारण अवश्य मानते है परन्तु यहा तो वह भी नही है। दूसरे यदि अर्थो मे भिन्नता की प्रतीति मानी जाती है तो उपमानान्तरव्यवच्छेद मे पर्यवसान सम्भव नही ।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार हो सकता है —

सादृश्य मे दो तत्त्व होते है—साधर्म्य तथा वैधर्म्य । कवि जब किसी वस्तु के सदृश अन्य वस्तु को ढूढता है तब वह उस वस्तु के धर्म को लक्ष्य करके उसे कही ढूढने का प्रयत्न करता है। यदि वह धर्म उसे अन्यत्र कही मिल जाता है तो धर्म की एकता से उत्पन्न साधर्म्यप्रतीति के अतिरिक्त प्रस्तुत एव अप्रस्तुत वस्तुओ के भिन्न अवयवो को लेकर वैधर्म्य-प्रतीति भी उसे हो जाती है। परन्तु कभी कभी वह धर्म कवि को अन्यत्र नही मिलता अपितु उसी वस्तु मे उसकी पुन प्रतीति होती है। उस वस्तु के धर्म की पुन उसी वस्तु मे प्रतीति का बाधक कोई कारण नही होता। कवि का उद्देश्य उस धर्म को पुन एक बार देखना होता है। यदि इस धर्म के दर्शन उसे अन्यत्र नही होते तो उसे वह पुन वही देख सकता है । परन्तु उस धर्म को पुन वही देखने का परिणाम यह होता है कि उसे उस वैधर्म्य अथवा भेद का ज्ञान नही हो सकता जो अवयवो की भिन्नता पर आश्रित है। इस प्रकार कवि उपर्युक्त दशा मे केवल साधर्म्यप्रतीति तक ही सीमित रहता है। इस साधर्म्य-प्रतीति का यह अर्थ नही कि एक वस्तु के धर्मो की अन्यत्र प्रतीति होती है, परन्तु इसका अर्थ केवल इतना है कि प्रस्तुत धर्म की प्रतीति कवि को पुन उसी रूप मे होती है। इस प्रकार अनन्वय मे सादृश्य प्रक्रिया का बाध नही होता। इतना अवश्य है कि वह उपमादि की सादृश्य-प्रक्रिया से भिन्न है ।

उस वस्तु के धर्म की पुन उसी वस्तु मे प्रतीति उस धर्म के अन्य वस्तुओ मे न मिलने के फलस्वरूप होती है, अत इसका अर्थ यह होता है कि अन्य कोई वस्तु प्रस्तुत वस्तु के समान नही । यही कारण है कि अनन्वय मे उपमानान्तरव्यवच्छेद माना गया है।

अनन्वय के लिए आवश्यक है कि उपमेय तथा उपमान का उपादान एक ही शब्द के द्वारा हो। यदि दोनो मे शब्दैक्य न होकर शब्दभेद है तो अभीष्ट चमत्कार की उत्पत्ति नही हो सकती। 'अस्या वदनमिवास्या वक्त्रम्' मे शब्दभेद है। अत अभीष्ट चमत्कार उत्पन्न नही होता।[1] चक्रवर्तिभट्टाचार्य ने अनन्वय मे इस शब्दैक्य का समर्थन किया है।[2]

अनन्वय मे शब्दैक्य अवश्य होता है, परन्तु यह अलकारजन्य चमत्कार का प्राण नही। चमत्कार की प्रतीति हमे उसी वस्तु के उसी से सादृश्य के रूप मे होती है, शब्दैक्य इस चमत्कार-प्रतीति का अग नही बन पाता। यही कारण है कि विश्वनाथ ने अनन्वय मे शब्दैक्य को प्रधान न कहकर केवल आनुषङ्गिक कहा है।[3]

दण्डी ने अनन्वय को उपमा का एक भेद मानकर इसका नाम असाधारणोपमा[4] रखा है। अनन्वय को उपमा का भेद मानना उचित नही। दोनो अलकारो से उत्पन्न चमत्कार मे अन्तर है, अत दोनो को पृथक् मानना उचित होगा।

हेमचन्द्र अनन्वय को उपमा से भिन्न नही मानते —

"एव यत्रासाधारणताप्रतिपादनार्थमेकस्यापि भेद कल्प्यते तत्राप्युपमा भवति, यथा ' ते तद्विलासा '।"

—काव्यानुशासन पृ० ३४०

हेमचन्द्र का यह मत समीचीन नही। अनन्वय मे उपमेय तथा उपमान मे भेदकल्पना नही होती। यदि किसी रूप से भेद कल्पना मानी जाती है तो यह तो हेमचन्द्र भी मानते है कि उपमा तथा अनन्वय मे क्रमश साम्यप्रतिपादन तथा असाधारणताप्रतिपादन होता है। अत इस भेद के आधार पर दोनो को भिन्न मानना उचित होगा।

---

१ "एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेद, अत 'अस्या वदनमिवास्या वक्त्रम्' इत्यत्र नानन्वयप्रसगः।"—बालबोधिनी पृ० ५८२

२ "एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेद शब्दतोऽर्थतश्चैकत्वस्य विवक्षितत्वात्।"—बालबोधिनी पृ० ५८२

३. "अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५२०

४ काव्यादर्श २। ३७

असमालंकार

जगन्नाथ आदि परवर्ती आलकारिको ने इस अलकार का निरूपण किया है। प्राचीन अलकारग्रन्थो मे इसका उल्लेख नही मिलता। जगन्नाथ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है —

"सर्वथैवोपमानिषेधोऽसमाख्योऽलकार" —रसगगाधर पृ० २७८

इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

"भुवनत्रितयेऽपि मानवै परिपूर्णे विबुधैश्च दानवै ।
न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप यस्ते भजते तुलापदम् ।।"

—रसगगाधर पृ० २७९

अनन्वय की तथा इसकी सादृश्य प्रक्रिया मे साधारण सा अन्तर है। अनन्वय मे प्रस्तुत वस्तु के धर्म के अन्यत्र न मिलने के कारण कवि उसे पुन उसी वस्तु मे देखता है। असम मे भी कवि को प्रस्तुत वस्तु के धर्म की अन्यत्र प्राप्ति नही होती। परन्तु इसके फलस्वरूप वह उसे देखने के लिए उस वस्तु की ओर न मुडकर स्पष्ट कह देता है कि इस वस्तु के समान अन्य कोई वस्तु नही। अनन्वय मे उसी वस्तु के धर्म को उसी मे देखने के कारण जिस उपमानान्तरव्यवच्छेद की प्रतीति होती है असम मे उसका स्पष्ट निर्देश होता है।

उपमानान्तरव्यवच्छेद अनन्वय तथा असम दोनो मे होता है। इस दृष्टि से दोनो मे अभेद है। परन्तु दोनो मे उपमानान्तरव्यवच्छेद के स्वरूप मे अन्तर होता है। असम मे जहा इसका स्पष्ट निर्देश होता है वहा अनन्वय मे यह उसी वस्तु के उसी से सादृश्य दिखाने के रूप मे होता है और इसका यह रूप ही वहां चमत्कार का कारण होता है।

उदाहरणालंकार तथा इसका खण्डन

जगन्नाथ ने उदाहरण नामक एक भिन्न अलकार माना है। इसकी परिभाषा इन्होने इस प्रकार की है—

"सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेश निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम् ।" —रसगगाधर पृ० २८१

जगन्नाथ के अनुसार सामान्य अर्थ तथा विशेष अर्थ मे भेद सम्भव नही। विशेषार्थ सामान्यार्थ के ही अन्तर्गत आ जाता है, अत वह सामान्यार्थ मे भिन्न नही हो सकता। अत जहा सामान्य तथा विशेष मे सादृश्य-निरूपण होगा वहा भेदाभाव के कारण उपमा न होकर उदाहरणालकार होगा।[1]

जगन्नाथ का यह मत उचित नही। इसका खण्डन उपमा के प्रकरण मे किया जा चुका है। प्राचीन आलकारिक भी जगन्नाथ के इस मत से सहमत नही। उनके अनुसार सामान्य तथा विशेष मे भेद सम्भव न हो ऐसी बात नही। सामान्य विशेष के बिना नही रहता। अत सामान्य के इस विशेष को लेकर प्रकृत विशेष से उसका सादृश्य सम्भव है।[2] अत उदाहरणालकार को उपमा से भिन्न मानना उचित नही।

---

१ " • न चात्र पदार्थलशुनयोरुपमा शक्या वक्तुम् । तयो. सामान्यविशेषभावेन सादृश्यस्यानुल्लासात् ।" , रसगगाधर पृष्ठ २८२

२ "प्राञ्चस्तु नायमलकारोऽतिरिक्त । उपमयैव गतार्थत्वात् । न च सामान्यविशेषयो सादृश्यानुल्लासात्कथमुपमेति वाच्यम् । 'निर्विशेष न सामान्यम्' इति सामान्यस्य यत्किञ्चिद्विशेष विना प्रकृतत्वायोगात्तादृश विशेषमादाय विशेषान्तरस्य सादृश्योल्लासे बाधकाभावादिवादिभिरामुखे प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य परिणामे सादृश्य एव विश्रान्तेः—इत्यप्याहु. ।"

—रसगगाधर पृष्ठ २८५, २८६

उपमेयोपमा

उपमेयोपमा की परिभाषा प्राय सभी आलकारिको ने की है। इनमे मे अधिकतर की परिभापा भामह की निम्नलिखित परिभाषा के समान है —

उपमानोपमेयत्व यत्र पर्यायतो भवेत्।
उपमेयोपमा नाम ब्रुवते ता यथोदिताम्॥ —भामहालकार ३।३७

दण्डी, मम्मट, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि की परिभापाए इसी के समान ह। इनकी परिभाषाओ मे शब्दो के साधारण हेरफेर के अतिरिक्त और कोई भेद नही। इन परिभापाओ के अनुसार एक वस्तु का अन्य वस्तु मे सादृश्य दिखाकर पुन अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य दिखाना ही उपमेयोपमा है।

उद्भट, रुद्रट, जगन्नाथ आदि की परिभापाए उपर्युक्त परिभापा मे कुछ भिन्न है। इन्होने उपर्युक्त परिभापा के तत्त्व का अपनी परिभापाओ मे सन्निवेश अवश्य किया है, परन्तु ये उपमेयोपमा के लिए इसके अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व की भी आवश्यकता समझते है। यह तत्त्व तृतीयसदृशव्यवच्छेद है। उपमेयोपमा मे दो वस्तुओ का परस्पर सादृश्य दिखाने से यह प्रयोजन होता है कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नही।

"कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनु।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५२०

यहा मति का कमल मे तथा कमल का मति से सादृश्य दिखाने से यह प्रयोजन है कि अन्य कोई तीसरी वस्तु मति तथा कमल के समान नही। इस प्रकार दो वस्तुओ के पारस्परिक सादृश्य का प्रयोजन तृतीयसदृशव्यवच्छेद होता है। यह तृतीयसदृशव्यवच्छेद उपमेयोपमाजन्य चमत्कार का आवश्यक अग है। अत परिभाषा मे इसका सन्निवेश आवश्यक है।

इस तृतीयसदृशव्यवच्छेद को उपमेयोपमा का आवश्यक अग मानते हुए जगन्नाथ ने उपमेयोपमा की परिभाषा की है —

"तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूत परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयो सादृश्यमुपमेयोपमा।" —रसगगाधर पृ० २६२

जिन आलङ्कारिको ने परिभाषा मे इस तृतीयसदृशव्यवच्छेद का निर्देश नही किया है, उन्हे भी उपमेयोपमा मे यह तत्त्व मान्य है। अत परिभाषा मे इसका स्पष्ट निर्देश आवश्यक है।

परिभाषा मे इस तत्त्व का निर्देश न करने के कारण अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। परस्परोपमा मे भी दो वस्तुओ का परस्पर सादृश्य होता है परन्तु इस सादृश्य के द्वारा तृतीय सदृश का व्यवच्छेद नही होता।

"रजोभि स्यन्दनोद्भूतैर्गजैश्च घनसन्निभै ।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥

—चित्रमीमासा पृ० ४०

यहा व्योम का भुवस्तल से तथा भुवस्तल का व्योम से सादृश्य दिखाया गया है। परन्तु इस पारस्परिक सादृश्य का यह अर्थ नही कि व्योम तथा भुवस्तल के समान अन्य कोई वस्तु नही। साधारणधर्म रजस् के द्वारा व्योम का सादृश्य भुवस्तल से दिखाकर पुन गज तथा घन के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के द्वारा भूतल का व्योम से सादृश्य दिखाने का पर्यवसान तृतीयसदृशव्यवच्छेद मे नही होता। अत उपर्युक्त श्लोक को उपमेयोपमा का उदाहरण नही माना जा सकता। परन्तु यदि तृतीयसदृशव्यवच्छेद का उपमेयोपमा की परिभाषा मे सन्निवेश नही किया जाता है तो यह श्लोक उपमेयोपमा का उदाहरण बन जाएगा।[1]

इसी अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिए अप्पयदीक्षित ने अपनी परिभाषा मे एकधर्माश्रया शब्द का सन्निवेश किया है —

"अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।

एकधर्माश्रया या स्यात्सोपमेयोपमा मता ॥"—चित्रमीमासा पृ० ८५

'एकधर्माश्रया' के सन्निवेश से उपमेयोपमा की परिभाषा मे उपर्युक्त अतिव्याप्ति दोष का परिहार अवश्य हो जाता है, परन्तु उपमेयोपमा मे

१ किं च 'रजोभि स्यन्दनोद्भूतै—'इति प्रागुदाहृताया परस्परोपमायामतिव्याप्ति। न च तत्राप्युपमेयोपमा। तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतीते।'

—चित्रमीमासा पृ० ४३

जिस चमत्कार की प्रतीति होती है उसकी अभिव्यक्ति इससे नही होती। चमत्कार का स्वरूप एकधर्माश्रय न होकर तृतीयसदृशव्यवच्छेद है। एकधर्माश्रय तर्कदृष्टि मे इस चमत्कार का कारण अवश्य है, परन्तु परिभाषा का उद्देश्य चमत्कार के हेतु का तार्किक विश्लेषण न होकर चमत्कार के स्वरूप का ही निर्देश करना होता है।

परिभाषा मे 'व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा' के सन्निवेश के द्वारा अप्पय-दीक्षित ने इसे उभयविश्रान्तसादृश्योपमा मे अतिव्याप्त होने से रोकने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार उभयविश्रान्तसादृश्योपमा मे दो वृत्तियो का आश्रय लेना पडता है, व्यञ्जना का तथा अभिधा का। निम्नलिखित उदाहरण मे यह स्पष्ट है —

'इद च तच्च तुल्यम्'।

यहा तुल्य शब्द इद तथा तत् के साथ जुडा हुआ है। अत इद तथा तत् दोनो प्राकरणिक हे। अप्राकरणिक अर्थ का यहा निर्देश नही। उपमान अप्राकरणिक अर्थ ही होता है। अत प्रतीति यह होती है कि दोनो परस्पर उपमान हे।[1] इस प्रकार अन्योन्यप्रतियोगित्व अश यहा गम्य है। सादृश्य अश यहा वाच्य है। अत लक्षण के यहा अतिव्याप्त होने की आशका नही।[2]

अप्पयदीक्षित का यह प्रयत्न अनावश्यक है। प्रथम तो उभयविश्रा-न्तसादृश्योपमा मे अन्योन्यप्रतियोगित्वाश की प्रतीति ही नही होती है, और यदि होती भी हे तो परिभाषा मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद के सन्निवेश के द्वारा इस अतिव्याप्ति दोष का सरलता से निराकरण किया जा सकता है।

---

१. "प्राकरणिकाप्राकरणिकयो• सादृश्यवर्णनेऽप्राकरणिकस्यैवोपमानत्वलाभेऽप्युभ-योरपि प्राकरणिकत्वे विनिगमनाविरहेण परस्परोपमानत्वप्रतीते•।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ४६

२ "ततश्चोभयविश्रान्तसादृश्योपमायामन्योन्यप्रतियोगिकत्वाशे व्यक्ति• सादृश्य-रूपाशे वृत्त्यन्तरमिति तयो करम्बितत्वान्नातिव्याप्तिशका।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ४५

तृतीयसदृशव्यवच्छेद उपमेयोपमा का उपमा से विभेदक है। सादृश्य-विधान इन दोनो अलङ्कारो मे होता है, परन्तु उपमा मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद नही होता। अत उपमा मे उपमेयोपमा का अन्तर्भाव कदापि उचित नही।

अप्पयदीक्षित को उपमा मे उपमेयोपमा का अन्तर्भाव करने मे कोई अनौचित्य नही दिखाई देता —

"इत्यादि प्रतीपमुपमेयोपमा चेत्युभयमपि सग्राह्यमेवेति न तदव्यापन लक्षणस्य दोष। • न चोपमायामय नियमो यदप्रकृतेन प्रकृतसादृश्यवर्णनात्मनैव तया भाव्यमिति।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ १८

इसके बाद वे लिखते है —

"उपमेयोपमादेरुपमान्तर्गतत्वेऽपि व्यग्यादिकृतवैचित्र्यविशेषेण पृथग्गणन न विरुध्यते रूपकपरिणामवत्।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ १९

अप्पयदीक्षित की यह द्वितीय उक्ति उनकी प्रथम उक्ति की असत्यता सिद्ध करती है। तृतीयसदृशव्यवच्छेद के रूप मे व्यग्य उपमेयोपमा का अनिवार्य अग है। अत इसकी उपेक्षा करके उपमेयोपमा का उपमा मे अन्तर्भाव उचित नही।

अप्पयदीक्षित ने मम्मट-विरचित उपमा के लक्षण 'साधर्म्यमुपमा भेदे' को उद्धृत करते हुए अपने पक्ष के समर्थन मे कहा है कि मम्मट ने इस लक्षण के द्वारा उपमा की केवल अनन्वय से भिन्नता दिखाई है।[1]

अप्पयदीक्षित का यह विचार युक्तिसगत नही। अनन्वय के निराकरण का हम यह अर्थ नही ले सकते कि मम्मट को उपमा मे उपमेयोपमा का अन्तर्भाव करने मे कोई आपत्ति नही। मम्मट ने उपमेयोपमा का पृथक् लक्षण किया है तथा 'इतरोपमानव्यवच्छेदपरा' शब्द के द्वारा उसका उपमा से भेद बताया है।[2]

---

१ "इममेव विशेषमभिप्रेत्य काव्यप्रकाशकादिलक्षणेष्वनन्वयव्युदासार्थमेव यत्न' कृतो नोपमेयोपमादिव्युदासार्थम्।" —चित्रमीमासा पृ० १८

२ "इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा"

—काव्यप्रकाश पृ० ५८३

प्रश्न उठता है कि उपमेयोपमा मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद की प्रतीति कैसे तथा क्यो होती है। जब मुख का कमल से तथा कमल का मुख से सादृश्य दिखाया जाता है तो यह मानने की क्या आवश्यकता है कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नही।

आलङ्कारिको ने इसके विभिन्न उत्तर दिए है। इन्दुराज ने विरोधी की शका के समाधान के समय इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—

उपमेय प्राकरणिक तथा उपमान अप्राकरणिक होता है। उपमेयोपमा मे उपमेय के उपमान के साथ सादृश्य के अतिरिक्त उपमान का भी उपमेय से सादृश्य दिखाया जाता है। यदि उपमेय के साथ उपमान के सादृश्य का पर्यवसान उनके सादृश्य मे ही मान लिया जाता है तो उपमेय अप्राकरणिक हो जाएगा, परन्तु यह उचित नही। अत यहा पर्यवसान उनके सादृश्य मे न मानकर अन्य सादृश्य के अभाव मे मानना पडेगा।[1]

इन्दुराज का यह उत्तर सन्तोषजनक नही। उपमेयोपमा मे हम तृतीयसदृशव्यवच्छेद इसलिए नही मानते क्योकि वैसा न मानने से किसी प्रकार का अनौचित्य होगा, परन्तु हमे वस्तुत तृतीयसदृशव्यवच्छेद की प्रतीति होती है। यह प्रतीति किसी सम्भावित अनौचित्य के निराकरण के उद्देश्य से उत्पन्न न होकर अलकारविधान से स्वत होती है। उपमेयोपमा मे उपमेय के साथ उपमान का सादृश्य अनुचित प्रतीत हो यह बात भी नही। अत इसके अनौचित्य पर तृतीयसदृशव्यवच्छेद को आश्रित मानना उचित नही।

अप्पयदीक्षित का इस विषय मे उत्तर इस प्रकार है—जब एक वस्तु को अन्य वस्तु के सदृश कहा जाता है तब अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य भी अर्थ के द्वारा स्वत प्रतीत हो जाता है।

---

१ "ननु च प्राकरणिक साम्याभिधानसम्बन्धि उपमेयम्, अप्राकरणिकमुपमानम्। यदि चात्रोपमेयस्योपमानत्वमभिधीयते एव सति तस्य प्राकरणिकत्व व्याहन्यते इत्याशक्योक्तम्-पक्षान्तरहानिगाम्। नात्रोपमानोपमेयत्वे तात्पर्यम् किन्तु एतदेव द्वयमेवविध विद्यते न त्वन्यदेतयो सदृश वस्त्वन्तरं विद्यते इति।'

—लघुवृत्ति पृष्ठ ७२

अत शब्दो के द्वारा उसके उपादान का उद्देश्य उनका सादृश्य दिखाना न होकर तृतीयसदृशव्यवच्छेद होता है।[1]

अप्पयदीक्षित का यह मत युक्तिसगत नही। एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य दिखाने से प्रतीति यही होती है कि उस वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य है, यह नही कि अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य है। जब मुख को कमल के समान कहा जाता है तो इससे प्रतीति यही होती है कि मुख का कमल से सादृश्य है, यह नही कि कमल का सादृश्य मुख से है। कमल के मुख से सादृश्य को तर्कप्रणाली के द्वारा हम भले ही सिद्ध कर दे, परन्तु जहा तक अलकारजन्य चमत्कार प्रतीति का सम्बन्ध है कमल का मुख से यह सादृश्य उस प्रतीति के अन्तर्गत नही आता। 'मुख कमल के समान है' यदि इस प्रयोग से कमल के मुख से सादृश्य की प्रतीति सम्भव मानी जाती है तो 'मुख तथा कमल परस्पर समान है' तथा 'मुख कमल के समान है' इन दोनो वाक्यो से उत्पन्न प्रतीतियो मे कोई अन्तर न रहेगा। परन्तु ऐसा मानना उचित नही। यदि 'मुख कमल के समान है' इस वाक्य से कमल के मुख से सादृश्य की प्रतीति सम्भव भी हो तो भी इस सादृश्य-प्रतीति का शब्दो द्वारा उपादान तृतीयसदृशव्यवच्छेद का जनक हो यह आवश्यक नही। इस सादृश्यप्रतीति के शब्दो द्वारा उपादान का प्राय यही अर्थ हो सकता है कि कमल का मुख से सादृश्य निस्सदिग्ध तथा निश्चित है, यह नही कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नही।

इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित हो सकता है—

उपमेयोपमा मे कवि एक वस्तु के धर्म को अन्यत्र ढूढता है और उसे अन्य वस्तु मे इसकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार प्रथम वस्तु की द्वितीय वस्तु के साथ उसे सादृश्य-प्रतीति होती है। इसके बाद वह द्वितीय वस्तु के धर्म को अन्यत्र ढूढने का प्रयास करता है। इसके लिए उसे पीछे की ओर मुडना पडता है। मुख के सादृश्य के लिए वह कमल की ओर

---

१ "धर्मार्थयोर्हि कस्यचित्केनचित्सादृश्ये वर्णिते तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थसिद्धमपि मुखतो वर्ण्यमान तृतीयसदृशव्यवच्छेद फलति ॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ११

बढा था परन्तु कमल के सादृश्य के लिए उसे पीछे हटकर फिर वही कमल पर आना पडा। इस मुडने के फलस्वरूप मुख तथा कमल का सादृश्यसबधी क्षेत्र आगे नही बढ सका अपितु उन्ही दोनो तक सीमित रहा। अन्य वस्तुओ का सादृश्य सम्बन्धी क्षेत्र उनके इस क्षेत्र से बाह्य हो गया। अत प्रतीति यह हुई कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नही।

जिन अलङ्कारो मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद की प्रतीति नही होती उनका अन्तर्भाव उपमेयोपमा मे नही किया जा सकता। युगपदुपमा ऐसा ही अलङ्कार है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

"रामरावणौ मिथस्तुल्यौ"

इसमे केवल इतनी ही प्रतीति होती है कि राम तथा रावण परस्पर तुल्य है, यह नही कि इनके समान अन्य कोई तीसरा व्यक्ति नही। यह तृतीयसदृशव्यवच्छेद तो तब होता जब राम को रावण के समान कहकर, रावण के सादृश्य के लिए पुन राम की ओर मुडा जाता और इस प्रकार अन्य वस्तुओ के सादृश्यसबधी क्षेत्र को राम तथा रावण के सादृश्यसबधी क्षेत्र मे बाह्य कर दिया जाता। परन्तु यहा ऐसी बात नही। अत इसका उपमेयोपमा मे अन्तर्भाव उचित नही।

ऐसा होने पर भी कतिपय आलकारिको ने युगपदुपमा का अन्तर्भाव उपमेयोपमा मे किया है। अप्पयदीक्षित का यही मत है —

"परस्परतुलामित्यनेन द्वयोरपि प्रतियोगित्वस्य प्रतिपाद्यमानतया उपमेयोपमेत्यवयवार्थस्याविशिष्टत्वात्। अर्थादपि सिध्यत परस्परप्रतियोगित्वस्य मुखत प्रतिपादनेन तृतीयसदृशव्यवच्छेदरूपफललाभाच्च।"

—चित्रमीमासा पृ० ४३

इस उक्ति से स्पष्ट है कि अप्पयदीक्षित परस्परप्रतियोगित्व को उपमेयोपमा का मूल मानते है। यह परस्पर-प्रतियोगित्व उपमेयोपमा तथा युगपदुपमा दोनो मे होता है। प्रथम मे यह अर्थ से सिद्ध होता है तथा द्वितीय मे इसका स्पष्ट प्रतिपादन होता है। अत इस परस्परप्रतियोगित्व के द्वारा उपमेयोपमा मे जिस प्रकार तृतीय-सदृशव्यवच्छेद होता है उसी प्रकार युगपदुपमा मे भी होता है।

अप्पयदीक्षित का यह मत उचित नही । उपमेयोपमा मे परस्पर प्रतियोगित्व होता अवश्य है परन्तु चमत्कार की प्रतीति परस्परप्रतियोगित्व के मार्ग मे न होकर सीधे उपमेयोपमा मे प्रयुक्त शब्दो के अर्थ से होती है । उपमेयोपमा मे चमत्कार का कारण परस्परप्रतियोगित्व नही अपितु एक वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य दिखाकर पुन उस अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य दिखाना ही इसमे चमत्कार का हेतु है । युगपदुपमा मे इसके विपरीत चमत्कार का कारण परस्परप्रतियोगित्व होता है । अत चमत्कारहेतु मे इस भेद के रहते हुए युगपदुपमा का उपमेयोपमा मे अन्तर्भाव मानना उचित नही ।

जिन अलकारो मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद तो होता है किन्तु यह उपमेय तथा उपमान के पारस्परिक सादृश्य के फलस्वरूप न होकर शब्दो द्वारा निर्दिष्ट होता है उन्हे भी उपमेयोपमा के अन्तर्गत नही रखा जा सकता । नियमोपमा ऐसा ही अलकार है । दण्डी ने उपमा के भेद के रूप मे इसका उल्लेख किया है । इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

"त्वन्मुख कमलेनैव तुल्यम्"[1]

इस उदाहरण मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद अवश्य है, परन्तु मुख तथा कमल के पारस्परिक सादृश्य का वर्णन नही । अत यह उपमेयोपमा का उदाहरण नही कहा जा सकता ।

जगन्नाथ भी उपमेयोपमा के लिए उपमेय तथा उपमान के इस पारस्परिक सादृश्यविधान को अनिवार्य मानते है ।[2]

---

१ "त्वन्मुख कमलेनैव तुल्य नान्येन केनचित् ।
इत्यन्यसाम्यव्यावृत्तेरिय सा नियमोपमा ॥"

—काव्यादर्श २ । १६

२ "इति तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषये सादृश्येऽतिव्याप्तिवारणाय परस्परमिति ।" —रसगगाधर पृष्ठ २६२

दण्डी ने उपमेयोपमा का नाम अन्योन्योपमा[1] रखा है तथा उपमा मे इसको अन्तर्भाव किया है। रुद्रट तथा भोज ने इसका नाम उभयोपमा[2] रखा है तथा इसे उपमा का भेद बताया है। उपमेयोपमा का इन विभिन्न नामो से उल्लेख तो आपत्तिजनक नही परन्तु उपमा मे इसका अन्तर्भाव उचित नही।

साधारणधर्म के अनुगामित्व, बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि के आधार पर उपमेयोपमा के अनेक भेद हो सकते हे। अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने इनका सविस्तर वर्णन किया हे।

पूर्वोक्त अलकारो मे सादृश्यविधान की दृष्टि से एक वस्तु सर्वत्र समान रूप से विद्यमान हे और वह है एक वस्तु के धर्म अथवा धर्मो को अन्यत्र ढूढने की प्रक्रिया। उपमा तथा उपमेयोपमा में इस प्रक्रिया मे सफलता मिलती है। अत इनमे अन्य वस्तु तथा प्रस्तुत वस्तु के अन्य धर्मो के आधार पर वैधर्म्य प्रतीति भी होती है। अनन्वय तथा असम मे इस प्रक्रिया मे सफलता नही मिलती। अत इनमे वैधर्म्यप्रतीति नही होती। अन्य वस्तु मे प्रस्तुत धर्म के न मिलने पर अनन्वय मे उसके दर्शन कवि को पुन उसी वस्तु मे होते हे। असम मे इसके विपरीत प्रस्तुत धर्म के अन्यत्र न मिलने पर कवि कह देता हे कि प्रस्तुत वस्तु के समान अन्य कोई वस्तु नही।

---

१ "तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव त मुखम्।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी॥"

—काव्यादर्श २। १८

२ "वस्त्वन्तरमस्त्यनयोर्न सममिति परस्परस्य यत्र भवेत्।
उभयोरुपमानत्व सक्रममुभयोपमा सान्या॥"

—काव्यालङ्कार ८। ६

विपर्यासोपमा तासु प्रथमाथोभयोपमा।
अथोत्पाद्योपमा नाम तुरीयानन्वयोपमा॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४। २३

प्रतीप तथा उसका अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव

रुद्रट, वाग्भट, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय-दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने इस अलकार का उल्लेख किया है । इन आलकारिको ने प्राय इस अलकार की कोई एक सामान्य परिभाषा न करके विभिन्न उदाहरणो को लक्ष्य करके परिभाषा मे विभिन्न तत्त्वो का सन्निवेश किया है । मम्मट ने उपमान का आक्षेप तथा उपमान की उपमेयता इन दो तत्त्वो का लक्षण मे सन्निवेश किया है —

"आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥"

—काव्यप्रकाश सू० २०१

बाद मे मम्मट एक अन्य उदाहरण को लक्ष्य करके प्रतीप की परिभाषा पृथक् करते है —

"अनयैव रीत्या यत् असामान्यगुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूत-पूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् ।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ७३७

विश्वनाथ के सात भी यही बात है । अप्पयदीक्षित ने प्रतीप के पाच उदाहरणो को लक्ष्य करके उनके पृथक् पृथक् लक्षण कर दिए है ।

आलकारिको के द्वारा प्रतीप के एक सामान्य लक्षण न करने के इस दोष की ओर जगन्नाथ ने सकेत किया हे । वे लिखते है —

"कि च त्वदुक्तप्रतीपभेदानामपि परस्परवैलक्षण्येन पृथक्पृथगलकारत्व स्यात्, न तु प्रतीपप्रभेदत्वम् । प्रतीपस्य सकलप्रभेदसाधारणसामान्य-लक्षणाभावात् ।"

—रसगगाधर पृष्ठ ६७१

काव्यप्रकाशादि के टीकाकारो ने प्रतीप का सामान्य लक्षण करने का प्रयत्न किया हैं। चक्रवर्ती आदि ने उपमान के अपकर्ष को प्रतीप का सामान्य लक्षण कहा है ।[1] कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथसूरि

---

१ "अत्राहुश्चक्रवर्त्यादय —'उपमानापकर्षबोधानुकूलो व्यापार. प्रतीपमिति सामान्यलक्षणम्' ।"

— बालबोधिनी पृष्ठ ७३५

ने भी उपमान-निरस्कार को प्रतीप का सामान्यलक्षण कहा है ।[1]

अब देखना है कि यह उपमानतिरस्कार प्रतीप के सब उदाहरणो मे विद्यमान है या नही और यदि है तो इसके आधार पर प्रतीप को पृथक् अलकार मानना उचित है या नही ।

अप्पयदीक्षित का प्रथम प्रतीप का उदाहरण निम्नलिखित है —

"त्वल्लोचनसमम पद्म त्वद्वक्त्रसदृशो विधु ।" ८ । १२

—कुवलयानन्द

कतिपय आलकारिको के अनुसार यहा पद्म को उपमेय बनाने से उसका तिरस्कार प्रतीत होता है । मम्मट का यही मत है ।[2] उपमान को उपमेय बना देने से उसकी तिरस्कारप्रतीति इन आलकारिको के अनुसार निम्नलिखित कारण से होती है —

उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य दिखाकर कवि जिस धर्म की प्रतीति उपमेय मे कराना चाहता है वह उपमान मे पूर्वसिद्ध होता है परन्तु उपमेय मे वह साध्य होता है । धर्म के पूर्वसिद्ध होने के कारण उपमान मे उसकी प्रसिद्धि होती है । अत वहा उसका उत्कर्ष स्वाभाविक है । उपमेय मे इसके विपरीत बात होती है ।[3]

आलकारिको का यह मत तो उचित है कि साधारणधर्म उपमान मे सिद्ध होता है तथा उपमेय मे साध्य, परन्तु इस सिद्ध और साध्य के आधार पर उपमान तथा उपमेय मे क्रमश गुणाधिक्य तथा गुण न्यूनत्व मानने की आवश्यकता नही । जहा तक अलकारजन्य चमत्कार-प्रतीति का सम्बन्ध है हमे उपमान तथा उपमेय मे गुण की दृष्टि से यह मात्राभेद लक्षित नही होता । यदि चमत्कारप्रतीति के समय

---

१ "एव चोक्तप्रकारेणोपमानप्रातिकूल्यस्य प्रतीपपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वकथनेन प्रसिद्धोपमानप्रतिकूलधर्म प्रतीपमिति प्रतीपपञ्चकसाधारण सामान्यलक्षणमिति सूचितम् ।—प्रतिकूलत्व च तिरस्कारप्रयोजकत्वम् ।"

—अलकार चद्रिका पृष्ठ १२

२ "इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादर. ।" —काव्यप्रकाश पृष्ठ ७३७

३ "वस्तुतस्तु उपमाने साधारणधर्मसम्बन्धोऽनूद्यते उपमेये तु विधीयते । तेन प्रसिद्धसादृश्यतयोपमानस्याधिक्यम् साध्यसादृश्यतया चोपमेयस्य न्यूनत्व बोध्यम्"—प्रभा —बालबोधिनी पृष्ठ ७३७

उपमान तथा उपमेय मे गुणो की दृष्टि मे यह मात्राभेद लक्षित हो तो 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' के प्रयोग से मुख मे सौन्दर्य की न्यूनता प्रतीत होनी चाहिए। परन्तु ऐसी बात नही। इस प्रयोग के द्वारा कवि का उद्देश्य मुख मे सौन्दर्य के उत्कर्ष की प्रतीति कराना होता है और यही प्रतीति पाठक को होती है। अत जब एक वस्तु का अन्य वस्तु मे सादृश्य दिखाया जाता है तब उपमान तथा उपमेय मे साधारणधर्म की दृष्टि से मात्राभेद की प्रतीति न होकर अभेद की ही प्रतीति होती है। उपर्युक्त उदाहरण मे यही बात है। अत यह उपमा का उदाहरण है। जगन्नाथ ने भी इसे उपमा के अन्तर्गत माना है।[१]

द्वितीय तथा तृतीय प्रतीप के उदाहरण क्रमश निम्नलिखित हैं —

"अल गर्वेण ते वक्त्र कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृश ।"

—कुवलयानन्द ८। १३

'क क्रौर्यदर्पस्ते मृत्यो त्वत्तुल्या सन्ति हि स्त्रिय ।'

—कुवलयानन्द ४। १८

यहा प्रथम उदाहरण मे उपमान के तिरस्कार का निर्देश न होकर उपमेय वक्त्र के तिरस्कार का निर्देश है। द्वितीय उदाहरण मे उपमान मृत्यु के तिरस्कार का निर्देश अवश्य है, परन्तु इन उदाहरणो मे चमत्कार का हेतु उपमेय तथा उपमान के तिरस्कार का निर्देश नही अपितु उपमेय तथा उपमान का सादृश्य ही इनमे चमत्कार का कारण है। प्रथम उदाहरण मे वक्त्र के साथ चन्द्रमा का सादृश्य तथा द्वितीय उदाहरण मे मृत्यु के साथ स्त्रियो का सादृश्य चमत्कार का कारण है। इन उदाहरणो मे उपमेय तथा उपमान के तिरस्कार का निर्देश साधनमात्र है। इसका उद्देश्य प्रस्तुत सादृश्यविधान के लिए अवसर प्रदान करना ही है। 'अल गर्वेण ते वक्त्र' के द्वारा कवि का उद्देश्य मुख का अनादर करना नही अपितु मुख के साथ चन्द्रमा के सादृश्य को अनोखे ढग से

---

१ "न ह्याद्ये प्रतीपे 'मुखमिव कमलम्' इत्यादौ सादृश्यस्यानिष्पत्तिरसौन्दर्य वास्ति येनोपमातो बहिर्भाव स्यात्, सौन्दर्यविशेषस्य त्वथाप्यभ्युपगमात्। विशेषस्य सामान्यानिवारकत्वात्। न च प्रसिद्धकमलादिप्रतियोगिकमेव सादृश्यमुपमेति राजाज्ञास्ति।" —रसगगाधर पृष्ठ ६७०

का उपमेय से अपकर्ष दिखाया जाए। उपमान का उपमेय से अपकर्ष दिखाने मे तथा उपमेय का उपमान मे उत्कर्ष दिखाने मे वस्तुत कोई भेद नही। मुख कमल से उत्कृष्ट है तथा कमल मुख से निकृष्ट है इन दोनो वाक्यो के अर्थ मे कोई अन्तर नही।

आलङ्कारिको ने प्रतीप के उपर्युक्त भेद तथा व्यतिरेक मे भेद दिखाने का प्रयत्न किया है। उद्योतकार के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण मे उपमा की निष्पत्ति नही होती, अत यहा उपमान का अपकर्ष प्रतीत होता है। व्यतिरेक मे इसके विपरीत उपमा की निष्पत्ति हो जाती है फिर भी वहा उपमेय का आधिक्य प्रतीत होता है।[1]

उपमा की निष्पत्ति तथा अनिष्पत्ति के आधार पर व्यतिरेक तथा उपर्युक्त प्रतीप मे भेद करना उचित नही। जहा तक सादृश्य का प्रश्न है इसकी प्रतीति दोनो दशाओ मे समान रूप से होती है। 'कमल मुख की समता नही कर सकता, इस वाक्य का यह अर्थ नही कि मुख तथा कमल मे किसी प्रकार का सादृश्य नही। इसका अर्थ केवल इतना है कि जिस साधारणधर्म के आधार पर कमल का मुख से सादृश्य अभिप्रेत है उसकी उपमान मे न्यूनता है। यही बात व्यतिरेक मे होती है। वहा भी साधारणधर्म को उपमेय तथा उपमान मे समान रूप से न बताकर उपमेय मे उसका आधिक्य बताया जाता है। अत जहा तक सादृश्य के तत्त्वो का सम्बन्ध है प्रतीप का उपर्युक्त भेद व्यतिरेक से भिन्न नही। जगन्नाथ को भी यह मत मान्य है।[2]

---

१. "उपमित्यनिष्पत्तिरिति—अत एव व्यतिरेकाद्भेद, तत्रोपमितिनिष्पत्तावपि उपमेयाधिक्यप्रतीते' • ।" उद्योत

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३६

२ "पञ्चमस्य तु गतिरुक्तैव प्रभेदस्य।" —रसगगाधर पृष्ठ ६७१

जगन्नाथ ने चतुर्थ भेद को ही पञ्चम भेद माना है। इस पञ्चम भेद की क्या गति है इसे रसगगाधर के टीकाकार मथुरानाथभट्ट ने अपनी निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट कर दिया है.—

"अनुक्तवैधर्म्ये व्यतिरेकेऽन्तर्भाव इत्यर्थ"

—सरला टीका पृष्ठ ६७१

पञ्चम प्रतीप का उदाहरण निम्नलिखित है —

"दृष्ट चेद्वदन तस्या कि पद्मेन किमिन्दुना ।"

—कुवलयानन्द ४ । १६

यहा मुख के सामने कमल तथा चन्द्रमा को व्यर्थ कहा गया है। व्यर्थता मे कमल तथा चन्द्रमा का अपकर्ष प्रतीत होता है। वामनाचार्य तथा चक्रवर्ती आदि ने भी उपमान की व्यर्थता का अर्थ उपमान का अपकर्ष लिया है —

"इन्दु कि घटित इत्यादिना तिरस्कारार्थमुपमानस्य वैयर्थ्यमात्र प्रतिपाद्यते न तूपमेयस्याविक्यमिति न व्यतिरेकप्रसग ॥"

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३६

"अत्राक्षेपप्रयुक्त उपमानस्यापकर्षबोध "—चक्रवर्ती

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३६

इन उक्तियो से यह तो निर्विवाद है कि उपर्युक्त उदाहरण मे उपमान के अपकर्ष का बोध होता है। परन्तु ये आलङ्कारिक उपमान के अपकर्ष तथा उपमेय के उत्कर्ष मे भेद करके उपर्युक्त भेद का व्यतिरेक से भेद करते है। यह उचित नही। उपमान के उपमेय से अपकर्ष मे तथा उपमेय के उपमान से उत्कर्ष मे वस्तुत कोई भेद नही। अत यदि उपमेय के उपमान से उत्कर्ष को व्यतिरेकालकार माना जाता है तो उपमान के उपमेय से अपकर्ष को वैसा मानने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए। स्वय मम्मट ने भी यह बात स्वीकार की है। मम्मट व्यतिरेक के दो हेतु मानते है—उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष।[1] अत उपर्युक्त भेद को व्यतिरेक के अन्तर्गत मानना उचित होगा।

प्राचीन आलकारिको मे प्रतीप का वर्णन बहुत कम मिलता है। दण्डी ने इसके लिए विपर्यासोपमा[2] शब्द का प्रयोग किया है तथा इसे उपमा के अन्तर्गत माना है। भोज भी इसे विपर्यासोपमा कहते है।[3] रुद्रट ने प्रतीप

---

१ "व्यतिरेकस्य हेतु उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् उपमानगतमपकर्षकारणम् ।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६४७

२ "त्वदाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति ।
सा प्रसिद्धिविपर्यासाद् विपर्यासोपमेष्यते ॥" —काव्यादर्श २ । १७

३ देखिए, सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४१२

का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उनका इस अलकार का लक्षण अन्य आलकारिको के लक्षणो से भिन्न है। वे किसी दौर्वस्थ्य के कारण उपमेय के उपमान सदृश बन जाने को प्रतीप कहते है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

'वदनमिद ममसिन्दो सुन्दरमपि ते कथ चिर न भवेत् ।
मलिनयति यत्कपोलौ लोचनसलिल हि कज्जलवत् ॥''

—काव्यालकार ८ । ७७

इस उदाहरण मे मुख का चन्द्र से सादृश्य दिखाया गया है । अत इसे उपमा के अन्तर्गत मानना उचित होगा ।



व्यतिरेक

व्यतिरेक मे उपमा के समान ही दो तत्त्व होते है— भेद तथा अभेद अथवा साधर्म्य एव वैधर्म्य, परन्तु उपमा से इसमे एक भेद है और वह यह कि उपमा मे जहा ये दोनो तत्त्व तुल्य होते है वहा इसमे भेद अथवा वैधर्म्य तत्त्व प्रधान होता है। उपमा के उदाहरण 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे साधारणधर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख तथा कमल मे साधर्म्य की प्रतीति होती है तथा अन्य धर्मो के आधार पर इनमे वैधर्म्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य प्रतीति के समान रूप से सम्मिलन के द्वारा दोनो मे सादृश्य-प्रतीति का जन्म होता है। व्यतिरेक के उदाहरण 'मुख कमलमतिशेते' मे साधारणधर्म सौन्दर्य की प्रतीति अवश्य होती है परन्तु यहा मुख तथा कमल मे विद्यमान सौन्दर्य मे मात्राभेद है। साधारणधर्म मे यह मात्राभेद मुख तथा कमल मे वैधर्म्य की प्रतीति कराता है। व्यतिरेक मे इस वैधर्म्य की प्रतीति प्रधान रूप से होती है और साधर्म्य से युक्त यह वैधर्म्यप्रतीति ही व्यतिरेक मे चमत्कार का कारण है।[1]

---

१ दण्डी तथा भोज का इससे मतभेद है। इनके अनुसार व्यतिरेक के लिए केवल इतना पर्याप्त है कि उपमेय तथा उपमान मे भेद अथवा वैधर्म्य का कथनमात्र हो। यह आवश्यक नही कि यहा वैधर्म्य तत्त्व प्रधान हो —

"शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयो ।

तत्र यद्भेदकथन व्यतिरेक स कथ्यते ।" —काव्यादर्श २ । १८०

भोज ने भी व्यतिरेक की यही परिभाषा की है।

दण्डी तथा भोज का यह मत समीचीन नही। केवल वैधर्म्य के कथनमात्र से व्यतिरेक की सिद्धि मानना उचित नही। जहा तक वैधर्म्य की प्रतीति का सम्बन्ध है यह प्रतीति हमें उपमा मे भी होती है। यहा व्यतिरेक मे वैधर्म्य का कथनमात्र इस वैधर्म्यप्रतीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करा सकता। अत ऐसी दशा मे व्यतिरेक न मानकर उपमा मानना ही उचित होगा। जहा इस वैधर्म्य के कथन से उपमेय के उत्कर्ष के फलस्वरूप वैधर्म्य की प्रधानता प्रतीत होती है वहा व्यतिरेक माना जा सकता है।

सभी आलङ्कारिको ने व्यतिरेक मे इस वैधर्म्यप्रतीति को स्वीकार किया है, परन्तु यह वैधर्म्यप्रतीति किस रूप मे होती है इस विषय को लेकर इनमे मतभेद है। कतिपय आलङ्कारिक इसे केवल उपमेय के उत्कर्ष के रूप मे मानते है। अन्य आलङ्कारिको के अनुसार यह उपमेय के उत्कर्ष तथा उसके अपकर्ष इन दोनो मे से किसी भी रूप मे हो सकती है। मम्मट, हेमचन्द्र, जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि प्रथम पक्ष के समर्थक है तथा उद्भट, रुय्यक, विद्यानाथ आदि द्वितीय मत के समर्थक है। निम्नलिखित परिभाषाओ से यह स्पष्ट है —

"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेक स एव स"

—काव्यप्रकाश सू० १४५

"भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेक"

—सर्वस्व सू० २८

अन्य आलङ्कारिको की परिभाषाए उपर्युक्त परिभाषाओ मे से किसी एक के समान है।

अब देखना है कि ये आलकारिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष का क्या अर्थ लेते है। किसी वस्तु का अन्य वस्तु से उत्कर्ष दो प्रकार से सम्भव है—उसके सद्गुणो को लक्ष्य करके अथवा उसमे तथा अन्य वस्तु मे विद्यमान साधारणधर्म को लक्ष्य करके। पूर्व दशा मे उपमेय का अधिक-गुणवत्त्व उपमान से उसके उत्कर्ष का कारण होता है। द्वितीय दशा मे साधारणधर्म का आधिक्य उपमेय के उपमान से उत्कर्ष का कारण होता है। यह आवश्यक नही कि गुणवत्त्व तथा साधारणधर्म की मात्रा के आधार पर किए हुए उत्कर्ष अथवा अपकर्ष सम्बन्धी हमारे ये निर्णय सदा समान हो। यदि साधारणधर्म गुणविशेष है तब तो हमारे निर्णय दोनो दशाओ मे समान होगे, परन्तु यदि साधारणधर्म गुणविशेष न होकर अवगुणविशेष है तो हमारे निर्णय दोनो दशाओ मे परस्पर विपरीत होगे। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"दुर्जन सर्पादतिरिच्यते"

यदि यहा गुणवत्त्व को उत्कर्षापकर्ष का आधार माना जाता है तो प्रतीति यह होगी कि दुर्जन सर्प से निकृष्ट है। इस प्रकार दुर्जन का

अपकर्ष प्रतीत होगा। परन्तु यदि साधारणधर्म भयकरता को उत्कर्षापकर्ष का आधार माना जाता है तो दुर्जन का उत्कर्ष प्रतीत होगा।

जगन्नाथ गुणवत्त्व को उत्कर्षापकर्ष का आधार मानते है। उन्होने अपनी व्यतिरेक की परिभाषा मे इसका स्पष्ट निर्देश किया है।[1] रुय्यक का भी यही मत है। ये 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्। विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यात तु ॥' इस उदाहरण मे गुणवत्त्व के आधार पर यौवन तथा चन्द्र के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का निर्णय करते है। चन्द्र मे पुन पुन वृद्धि गुण है। यौवन मे इसके विपरीत अनिवर्तन गुण है। अत चन्द्र यौवन से उत्कृष्ट है।[2]

मम्मट का मत जगन्नाथ तथा रुय्यक के मत से भिन्न है। ये साधारणधर्म के अतिशय को उत्कर्ष का आधार मानते है।

'क्षीण क्षीणोऽपि ' इस उदाहरण मे यौवन का चन्द्र से सादृश्य दिखाया गया है। यहा साधारणधर्म 'क्षय' है। इस साधारणधर्म का यौवन मे अतिशय है, क्योकि वह क्षीण होने पर फिर वृद्धि को प्राप्त नही होता। अतः इस साधारणधर्म की दृष्टि से यौवन मे उत्कर्ष है।[3]

उत्कर्षापकर्षसम्बन्धी निर्णयो के इन दोनो आधारो के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि मम्मट का मत ही समीचीन है। व्यतिरेक एक सादृश्यमूलक अलकार है। अत इसमे उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का निर्णय इसमे विद्यमान सादृश्य को लक्ष्य करके होना चाहिए। सादृश्य साधर्म्य अथवा साधारणधर्म पर आश्रित रहता है। अत.

---

१ "उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।"

—रसगगाधर पृष्ठ ४६७

२. "'क्षीण' क्षीणोऽपि ·· ' अत्र–चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्। शशिवैलक्षण्येन गतस्यापुनरागमनात्।"

—सर्वस्व पृष्ठ ८५

३ "'क्षीणः क्षीणोऽपि · ' इत्यादौ उपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तम् तदयुक्तम्। अत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम्।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६४५

व्यतिरेक मे विद्यमान उत्कर्ष अथवा अपकर्ष इसी साधारणधर्म की अधिकता अथवा न्यूनता के आधार पर सम्भव है। व्यतिरेक मे कवि का उद्देश्य दो वस्तुओ के गुणदोष का विवेचन करके उनमे से एक का उत्कर्ष तथा अन्य का अपकर्ष दिखाना नही होता अपितु उनका किसी साधारणधर्म के आधार पर सादृश्य दिखाकर उनमे से एक मे साधारणधर्म का आधिक्य तथा अन्य मे उसकी न्यूनता दिखाना होता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"क्षीण क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।

विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यात तु ॥"

यहा यौवन का सादृश्य चन्द्रमा से दिखाया गया है। यदि गुण दोष के आधार पर यहा उत्कर्षापकर्ष का निर्णय किया जाता है तो चन्द्रमा का उत्कर्ष तथा यौवन का अपकर्ष प्रतीत होगा। रुय्यक ने ऐसा ही किया है। परन्तु यह उचित नही। यहा कवि का उद्देश्य यौवन तथा चन्द्रमा के गुणदोष का विवेचन नही अपितु साधारणधर्म क्षीणता के आधार पर उनका सादृश्य दिखाकर एक मे इसकी अधिकता तथा अन्य मे इसकी न्यूनता दिखाना ही कवि को अभिप्रेत है। उपर्युक्त श्लोक मे चन्द्रमा के साथ क्षीण शब्द जुडा हुआ है तथा यौवन के साथ 'यातम्' शब्द जुडा हुआ है। इन दोनो शब्दो का अर्थ एक ही है और वह है क्षय अथवा विनाश। इस प्रकार यह क्षय दोनो मे साधारणधर्म के रूप मे है। परन्तु इन दोनो मे एक वैधर्म्य है। यह वैधर्म्य चन्द्रमा की पुन अभिवृद्धि तथा यौवन के अनिवर्तन के रूप मे है। इस वैधर्म्य के द्वारा यौवन मे साधारणधर्म की अधिकता तथा चन्द्रमा मे उसकी न्यूनता प्रतीत होती है। इस प्रकार यहां कवि का उद्देश्य यौवन की अस्थिरता का आधिक्य बताना है और यही आधिक्य प्रकृत अर्थ मानप्रसादन के अनुकूल है।

सादृश्यमूलक अलकारो मे उत्कर्ष तथा अपकर्ष का निर्णय साधारणधर्म के आधिक्य तथा न्यूनता के आधार पर ही होता है, गुणदोष के आधार पर नही। जब वाणी को अमृत से बढकर कहा जाता है तब आधिक्य साधारणधर्म माधुर्य को लक्ष्य करके होता

है, परन्तु वही वाणी जब विष से बढकर कही जाती है तब आधिक्य माधुर्य को लक्ष्य न करके साधारणधर्म कटुता को लक्ष्य करके होता है।

अत' यह तो निश्चित है कि व्यतिरेक मे उत्कर्ष तथा अपकर्ष साधारणधर्म को लक्ष्य करके होते है, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर अभी तक बाकी है कि व्यतिरेक मे उपमेय का सदा उत्कर्ष ही दिखाया जाता है अथवा उसका अपकर्ष भी कभी कभी वहा सम्भव है।

मम्मट ने उत्कर्ष के उपर्युक्त अर्थ को लेकर भी यह माना है कि व्यतिरेक मे उपमेय का केवल उत्कर्ष होता है। उन्होने 'क्षीण क्षीणोऽपि .... ' इस उदाहरण मे उपमेय की न्यूनता के सिद्धान्त का खण्डन करके इसमे उपमेय का आधिक्य दिखाया है।

जहा तक उपर्युक्त उदाहरण का सम्बन्ध है, मम्मट का इसमे उपमेय-सम्बन्धी उत्कर्ष दिखाना सर्वथा उचित है, परन्तु मम्मट का सिद्धान्त व्यतिरेक के सब उदाहरणो पर लागू हो ऐसी बात नही। ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते है जिनमे कवि का उद्देश्य उपमेय का उत्कर्ष न दिखाकर उसका अपकर्ष दिखाना होता है। निम्नलिखित उदाहरण इन्ही मे से एक है—

"हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषा हसैर्दूतपथ सितीकृत"

—साहित्यदर्पण पृ० ५६०

यहा नल का हनुमान् आदि से सादृश्य है। इनमे दूतकर्म साधारणधर्म है। हनुमान् आदि मे इसका उत्कर्ष है तथा नल मे अपकर्ष है। इस प्रकार यहा उपमेय नल का अपकर्ष दिखाया गया है और यह अपकर्ष ही नल के निर्वेद का कारण है। विश्वनाथ ने भी उपर्युक्त उदाहरण मे उपमेय का अपकर्ष बताया है।[1]

उद्योतकार ने इस उदाहरण मे उपमेय का आधिक्य दिखाया है—

---

१. " 'हनूमदाद्यैर्यशसा · ' इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्त 'न्यूनताथवा ··· · ' इति।" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५६०

"अत्र नलमहीपते स्वनिन्दया लब्धनिर्वेदातिशयरूपप्रकृतवाक्यार्थे दूत्यगतन्यूनताया एवानुगुणत्वेनाधिक्यरूपत्वात् ।"

—बालबोधिनी पृ० ६४६

यहा उद्योतकार नल मे दूत्यगत न्यूनता मानते है, फिर भी उसे आधिक्यरूप कहते है। यह परस्परविरोध है। जो वस्तु न्यूनता के रूप मे है वह अधिकता के रूप मे कैसे हो सकती है। यह कहना कि वाक्यार्थ के प्रति अनुकूल होने के कारण यह न्यूनता अधिकता बन जाएगी उचित नही। वाक्यार्थ के प्रति अनुकूलता वस्तु के स्वरूप को परिवर्तित नही कर सकती। इसका प्रभाव केवल वस्तु के वाक्यार्थ-विषयक सम्बन्ध पर पडता है वस्तु के स्वरूप पर नही। हम केवल इतना कह सकते है कि उपमेय की उपमान मे यह न्यूनता वाक्यार्थ की उत्कर्षक है यह नही कि इससे उपमेय का उत्कर्ष हो जाता है। यदि वाक्यार्थ के प्रति अनुकूलता को उपमेय के उत्कर्ष का आधार माना जाता है तो उपमान के विषय मे भी यह आधार लागू होना चाहिए। इस प्रकार उपमेय तथा उपमान दोनो का उत्कर्ष हो जाएगा और उपमान के अपकर्ष का व्यतिरेक मे लोप हो जाएगा। साथ मे ऐसा मानने से इस अनौचित्य की भी प्रतीति होगी कि उपमेय जिस उपमान से उत्कृष्ट है वह उपमान भी उस उपमेय से उत्कृष्ट है। इतना ही नही इस आधार के द्वारा तो उपमा मे भी उपमेय का उत्कर्ष हो जाएगा और फलत उपमा तथा व्यतिरेक के भेद का लोप हो जाएगा।

उद्योतकार के उपर्युक्त मत की इस प्रकार असमीचीनता सिद्ध हो जाने पर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर के निम्नलिखित इसी जैसे मतो की असमीचीनता मे सन्देह नही रह जाता —

"उत्कर्षापकर्षौ ह्यत्र न वास्तवाभिमतौ, किन्तु प्रकृतार्थातिशायकत्वानतिशायकत्वस्वरूपौ। प्रकृतश्चात्र नलनिर्वेद, तदुत्कर्षकत्वं च दौत्यनिष्ठोक्तापकर्षस्याप्यस्तीति।"

—अलकारकौस्तुभ पृ० २९७

"किं च यत्र क्वापि शाब्द उपमेयस्यापकर्षस्तत्रापि स तस्य वाक्यार्थपर्यवसायितया उत्कर्षात्मना परिणमति।"

—रसगगाधर पृ० ४७५

उपमेयगत उत्कर्ष के इतने प्रबल समर्थक होते हुए भी जगन्नाथ उपमेय के न्यूनताविषयक सिद्धान्त का सर्वथा परिहार कर सके हो ऐसी बात नही। अन्त मे उन्हे भी इस सिद्धान्त को स्पष्टत स्वीकार करना पडा।[1]

अप्पयदीक्षित व्यतिरेक मे उपमेय के आधिक्य अथवा न्यूनता के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व भी मानते है। यह है अनुभयपर्यवसायिता। व्यतिरेक के इस भेद मे उपमेय का न उत्कर्ष होता है और न अपकर्ष।[2]

अप्पयदीक्षित का यह मत समीचीन नही। व्यतिरेक मे उपमेय तथा उपमान मे वैधर्म्य का प्रधानत निर्देश अनिवार्य है। यदि उपमेय का न उत्कर्ष दिखाया गया है और न अपकर्ष तो वहा या तो वैधर्म्य का निर्देश होगा ही नही और यदि होगा भी तो केवल गौण होगा। इस प्रकार यह व्यतिरेक का उदाहरण न होकर उपमा का उदाहरण होगा।

प्राचीन आलकारिको मे भामह ने व्यतिरेक के किसी भेद का निर्देश नही किया है। दण्डी ने व्यतिरेक का सविस्तार निरूपण किया है। उनके उपमा के भेद प्रतिषेधोपमा[3] का अन्तर्भाव इसी व्यतिरेक मे किया जा सकता है। उद्भट ने उत्कर्षनिमित्त के उपादान तथा अनुपादान के आधार पर व्यतिरेक के भेद किए है तथा वैधर्म्यदृष्टान्त नामक एक

---

१. "यदि तु न्यूनत्वमपि व्यतिरेक इत्याग्रहस्तदेदमुदाहार्यम्—

'जगत्त्रयत्राणधृतव्रतस्य क्षमातल केमलमेव रक्षन्।

कथं समारोहसि हन्त राजन् सहस्रनेत्रस्य तुला द्विनेत्र ॥'

अत्र धर्मद्वयेनैव न्यूनोऽसि धर्मान्तरेण तु सम इति प्रतीतिकृतविच्छित्ति-विशेषादलकारता। एव च लक्षणेऽपकर्षोऽप्येवजातीयो देय।"

—रसगगाधर पृष्ठ ४७७

२ "अनुभयपर्यवसायी यथा—दृढतरनिबद्धमुष्टे कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य। कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेद ॥

—कुवलयानन्द पृष्ठ ६६

३ "न जातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम्।

अन्य भेद माना है।[१] भोज ने व्यतिरेक के सोलह भेद किए है।[२] उनके भेद के आधार सादृश्य की अभिधीयमानता तथा प्रतीयमानता को तो परवर्ती आलकारिको ने स्वीकार किया है, परन्तु जाति, व्यक्ति, सादृश्य, वैसादृश्य आदि भेद के अन्य आधारो का इन आलकारिको ने अनुमरण नही किया है।

मम्मट ने व्यतिरेक के चौईस भेद किए है। भेद के लिए इन्होने जिन हेतुओ को आधार माना है उनका प्राय सभी आलकारिको ने अनुमरण किया है। इनके द्वारा प्रतिपादित भेद के हेतु निम्नलिखित है—

व्यतिरेकस्य हेतु उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् उपमानगतमपकर्षकारणम् तयोर्द्वयोरुक्ति, एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम्, एतद्भेद-चतुष्टयमुपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदा आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव एव द्वादश। एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदा।"
—काव्यप्रकाश पृ० ६४७

इस प्रकार मम्मट ने व्यतिरेक के भेदो के तीन कारण माने है। प्रथम कारण उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष है, द्वितीय कारण औपम्यवाचक शब्दो का निर्देशप्रकार है तथा तृतीय कारण शब्दो की श्लिष्टता तथा अश्लिष्टता है। प्रथम कारण के अनुसार व्यतिरेक के चार

कलङ्किनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा॥" —काव्यादर्श २।३४

१. "विशेषापादन यत्स्यादुपमानोपमेययो।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्या व्यतिरेक द्विधा तु स.॥"
—काव्यालकारसारसग्रह २।६

"यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वित।
व्यतिरेकोऽत्र सोपीष्टो विशेषापादनान्वयात्॥"
—काव्यालकारसारसग्रह २।७

२. "स्वजातिव्यक्त्युपाधिभ्यामेकोभयभिदा च स:।
सादृश्याद्वैसादृश्याच्च भिन्न. षोढाभिजायते॥"
—सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३३

भेद हो जाते है, द्वितीय के अनुसार इनमे से प्रत्येक के पुन तीन भेद हो जाते है तथा तृतीय के अनुसार इनमे से प्रत्येक के पुन. दो भेद हो जाते है। इस प्रकार कुल चोईस भेद हो जाते है।

भेदो के इन कारणो के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि प्रथम कारण सर्वथा उचित है। उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वैधर्म्य से सीधा सम्बन्ध है और यह वैधर्म्य व्यतिरेक के मूल मे है। इस आधार पर व्यतिरेक के चार भेद होते है। मम्मट व्यतिरेक मे उपमेय का अपकर्ष नही मानते। अत उनके अनुसार ये चार भेद ही बनते है। परन्तु जैसा हमने ऊपर सिद्ध किया है व्यतिरेक मे उपमेय का अपकर्ष भी सम्भव है। इस दशा मे व्यतिरेक के आठ भेद बन जाते हैं। विश्वनाथ ने ऐसा ही माना है।[1]

द्वितीय कारण को भेद का आधार मानना उचित नही। साम्यसूचक शब्दो का निर्देशप्रकार व्यतिरेक मे विद्यमान साधर्म्य तथा वैधर्म्य के स्वरूप पर प्रभाव नही डाल सकता। हम 'अकलंकं मुख तस्या न कलङ्की विधुर्यथा' कहे अथवा 'तस्या अकलङ्क मुख कलङ्कि-विधुवन्नास्ति' कहे अथवा 'तस्या अकलङ्क मुख कलङ्किन विधु जयति' कहे, हमे सब दशाओ मे मुख के विधु से उत्कर्ष की समान रूप से प्रतीति होगी।

तृतीय कारण श्लेष प्रत्येक दशा मे व्यतिरेक का आधार नही बन सकता। व्यतिरेक का आधार बनने के लिए आवश्यक है कि श्लेष से निकलने वाले अर्थो मे अर्थसम्बन्धी कोई सादृश्य हो। यदि ऐसा नही है तो श्लेष व्यतिरेक का आधार नही बन सकता। इसका विवेचन उपमा-प्रकरण मे किया जा चुका है। निम्नलिखित उदाहरण से भी यह स्पष्ट है—

"नाल्प कविरिव स्वल्पश्लोको देव महान् भवान्।"

—काव्यप्रकाश ९। ३८०

---

१. "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५८

यहा श्लोक के दो अर्थ है—यश तथा पद्य । राजा के साथ इसका अर्थ यश लगता है तथा कवि के साथ पद्य । यश तथा पद्य मे किसी प्रकार का सादृश्य नही । अत श्लोक शब्द राजा तथा कवि मे किसी साधर्म्य का बोध नही करा सकता । जब इन दोनो मे किसी साधर्म्य का बोध ही सम्भव नही तब यह कहना कि इनमे से एक मे साधर्म्य का उत्कर्ष है कोई अर्थ नही रखता ।

रूपक

उपमा मे उपमेय तथा उपमान मे किसी एक अथवा किन्ही अनेक धर्मो को लेकर सावर्म्य होता है तथा अन्य धर्मो को लेकर वैधर्म्य होता है। रूपक मे उपमेय तथा उपमान के इस सावर्म्य का इतना विस्तार होना है कि वैधर्म्य का सर्वथा लोप हो जाता है । इस प्रकार यह सावर्म्य यहा साधर्म्य न रहकर ताद्रूप्य बन जाता है। उपमा के उदाहरण 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे मुख का कमल से जो सादृश्य था वह रूपक के उदाहरण 'मुख कमलमस्ति' मे ताद्रूप्य मे परिणत हो गया है। उपमा मे मुख कमल के केवल समान था । यहा वह कमल के तद्रूप बन गया है। अत रूपक मे ताद्रूप्यप्रतीति का चमत्कार होता है। दण्डिविरचित रूपक की निम्नलिखित परिभाषा मे यही बात है:—

"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते" —काव्यादर्श २। ६६

कतिपय आलकारिक रूपक मे ताद्रूप्यप्रतीति न मानकर अभेद-प्रतीति मानते है। मम्मट इसी मत के समर्थक है —

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो " —काव्यप्रकाश सू० १३९

इस प्रकार रूपक के स्वरूप के विषय मे आलकारिको के दो मत है। कतिपय आलकारिक इसका स्वरूप ताद्रूप्यप्रतीति मानते है तो अन्य इसका स्वरूप अभेदप्रतीति मानते है। विश्वेश्वर ने इन दोनो मतो का स्पष्ट उल्लेख किया है —

"अभेदारोप एव रूपकमिति काव्यप्रदीप । अन्ये तु
सारूप्यमेव रूपकमित्याहु. ।" —अलकारकौस्तुभ पृ० २०६

रूपक मे एक वस्तु का अन्य पर आरोप होता है, इस बात से तो सभी सहमत है, परन्तु यह आरोप उन वस्तुओ के ताद्रूप्य के रूप मे होता है अथवा अभेद के रूप मे इस विषय को लेकर उनमे मतभेद है। कतिपय आलकारिक आरोप का अर्थ जहा ताद्रूप्य लेते है वहा अन्य उसका अर्थ अभेद लेते है।

रूपक के उदाहरण 'मुख कमलमस्ति' को ध्यान मे रखने पर प्रतीत होगा कि रूपक मे अभेद-प्रतीति मानना उचित नही। अभेद के लिए आवश्यक है कि वस्तुओ के पृथक् अस्तित्व का लोप हो जाए। गुणो का ऐक्य ही अभेद के लिए पर्याप्त नही, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि एक वस्तु का अस्तित्व अन्य मे विलीन हो जाए और फलस्वरूप दो वस्तुए न रहकर एक ही वस्तु रह जाए। जब जीव तथा ब्रह्म का अभेद बताया जाता है तो इसका यह तात्पर्य नही कि जीव तथा ब्रह्म का अस्तित्व तो पृथक् है परन्तु उनमे गुण एक ही है, अपितु इसके विपरीत इसका अर्थ यह है कि इनका अस्तित्व एक दूसरे से पृथक् नही। ये दोनो वस्तुए वस्तुत एक ही तत्त्व है। रूपक के उपर्युक्त उदाहरण मे ऐसी बात नही। यहा मुख तथा कमल का अस्तित्व पृथक् बना हुआ है। मुख का मुखत्व तथा कमल का कमलत्व यहा मिलकर एक नही बन जाते। यहा केवल इतना कहा गया है कि मुख तथा कमल मे ताद्रूप्य है। यदि यहा अभेदप्रतीति मानी जाती है तो मुख का अस्तित्व कमल मे विलीन हो जाना चाहिए और फलत कमल ही अवशिष्ट रह जाना चाहिए। यहा ऐसी बात नही।

जब तक दो वस्तुएं बनी हुई है और हम उनको दो वस्तुओ के रूप मे ही देखते है तब तक उनमे अभेद सम्भव नही। दो वस्तुओ को हम सादृश्य के आधार पर कितना ही समीप क्यो न लाए जब तक उनमे द्वित्व की प्रतीति बनी रहेगी तब तक उनमे अभेद अथवा अद्वैत सम्भव नही। उपर्युक्त उदाहरण मे यही बात है। हम यहा मुख को मुख मानकर चलते है। तथा कमल को कमल मानकर चलते है और तब इन्हे सादृश्य के आधार पर समीप लाने का प्रयत्न करते है। सादृश्य की यह प्रक्रिया ताद्रूप्य-प्रतीति से आगे नही बढ सकती।

जहा तक उपमेय तथा उपमान के निर्देश का सम्बन्ध है रूपक तथा उपमा मे कोई भेद नही। इनमे भेद केवल यही है कि जहा उपमा मे उपमेय को उपमान के समान कहा जाता है वहा रूपक मे उस पर उपमान का आरोप कर दिया जाता है। उपमा मे उपमेय तथा उपमान की उपर्युक्त समानता गुणो को लक्ष्य करके होती है। अत रूपक मे भी उपर्युक्त आरोप इनके गुणो को लक्ष्य करके सम्भव है। इस प्रकार रूपक मे ताद्रूप्यप्रतीति ही होती है अभेद-प्रतीति नही।

रूपक मे अभेद प्रतीति नही होती इसी बात को लक्ष्य करके हेमचन्द्र ने अपनी रूपक की परिभाषा मे भेदेन शब्द का सन्निवेश किया है ।[1] रुय्यक ने भी अपनी रूपक की परिभाषा मे अभेद का सन्निवेश न करके 'अभेदप्राधान्य' का सन्निवेश किया है ।[2] अभेद की प्रधानता का अर्थ यही है कि रूपक मे भेद की सत्ता अवश्य होती है ।[3]

अप्पयदीक्षित ने रूपक मे ताद्रूप्यप्रतीति का खण्डन किया है,[4] परन्तु बाद मे अपनी रूपक की परिभाषा मे 'उपरञ्जकता' शब्द का सन्निवेश करके उसका अर्थ ताद्रूप्य ही लिया है ।[5] यह परस्पर विरोध है ।

अप्पयदीक्षित कहते है कि रूपक मे ताद्रूप्य-प्रतीति तथा अतिशयोक्ति मे अभेद प्रतीति मानने का कोई आधार नही क्योकि इसके विपरीत बात भी कही जा सकती है ।[6] दीक्षित का यह मत युक्तिसंगत नही । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूपक मे ताद्रूप्यप्रतीति सर्वथा न्यायसगत है । अत इसमे सन्देह का कोई कारण नही दिखाई देता ।

---

१ "सादृश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम् ।"

—काव्यानुशासन ६ । ५

२ "अभेदप्राधान्ये आरोप आरोपविषयानपह्नवे रूपकम् ।"

—सर्वस्व सू० १५

३ "अभेदस्य प्राधान्याद् भेदस्य वस्तुत' सद्भाव "— सर्वस्व पृष्ठ ३२

४ ' ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेद । इति चेत् । न । वैपरीत्यस्यापि वक्तु शक्यत्वात् ।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ५२

५. "बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते ।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा ।" —चित्रमीम'सा पृष्ठ ५६

"उपरञ्जकतामाहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेति ।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ५७

६. "ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेद. । इति चेत् । न । वेपरीत्यस्यापि वक्तु शक्यत्वात् ।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ५२

रूपक मे इस ताद्रूप्य प्रतीति की क्या प्रक्रिया है इस विषय को लेकर आलङ्कारिको मे मतभेद है। प्राचीन आलङ्कारिको के अनुसार यह प्रतीति लक्षणा के द्वारा होती है। इनके अनुसार 'मुख कमलमस्ति' इस वाक्य मे सारोपा लक्षणा है। यहा कमल के मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ कमल के गुणो से युक्त पदार्थ निकलता है। यह लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ के साथ गुणो के सादृश्य के द्वारा सम्बद्ध है। 'मुख कमलमस्ति' मे मुख का सम्बन्ध इस लक्ष्यार्थ के साथ होता है और इससे प्रयोजन के रूप मे मुख तथा कमल मे ताद्रूप्य की प्रतीति होती है।[1]

नव्य आलङ्कारिको का इससे मतभेद है। इनके अनुसार रूपक मे लक्षणा मानने की आवश्यकता नही। नाम तथा अर्थो के पारस्परिक संसर्ग से ही उनके सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण मे मुख को कमल कहने से ही मुख तथा कमल मे ताद्रूप्य प्रतीति सम्भव है। अत यहा लक्षणा मानकर प्रयोजन के रूप मे ताद्रूप्यप्रतीति की क्लिष्ट कल्पना अनावश्यक है।[2]

दोनो मतो के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि द्वितीय मत प्रथम की अपेक्षा उचित है। जब मुख को कमल कहा जाता है तब इससे सीधे ही हमे इन दोनो मे ताद्रूप्यप्रतीति हो जाती है। यह नही कि कमल के मुख्यार्थ का पहले बाध हो और बाद मे लक्ष्यार्थ का ज्ञान होने पर प्रयोजन के रूप मे हमे यह ताद्रूप्यप्रतीति हो। 'मुख कमलमस्ति' इस वाक्य मे हम कमल को उससे सम्बद्ध गुणो के रूप मे देखते है। अत इन गुणो से युक्त कमल के साथ

---

१. "तत्र प्राञ्च'—'विषयिवाचकपदेन विषयिवृत्तिगुणवतो लक्षणया सारोपयोपस्थितौ, विषये तस्याभेदेन ससर्गेण विशेषणतयान्वयः। एव च मुख चन्द्र इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्न मुखमिति धीः ' इत्याहु।"

—रसगगाधर पृष्ठ ३१८–३१९

२ "नव्यास्तु —नामार्थयोरभेदससर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्चन्द्राभिन्न मुखमिति लक्षणा विनैव बोध। फलस्यान्यथैवोपपत्तेर्लक्षणाकल्पनस्यान्याय्यत्वात्।"

—रसगगाधर पृष्ठ ३१९

इन्ही गुणो से युक्त मुख का सम्बन्ध स्वत हो जाता है। यह बात भी नही कि मुख तथा कमल की आकृतियो मे भेद है अत इनका स्वत सम्बन्ध नही हो सकता । उपर्युक्त वाक्य मे मुख तथा कमल की स्थूल आकृतियो से प्रयोजन नही अपितु उनकी कल्पनाजन्य आकृतियो से प्रयोजन है और इन कल्पनाजन्य आकृतियो मे ताद्रूप्य है। जिस सौन्दर्य को लक्ष्य करके मुख तथा कमल का ताद्रूप्य दिखाया गया है वह सौन्दर्य इनकी आकृतियो के रूप मे ही है। अत इनकी आकृतियो मे असमानता बताकर दोनो का असम्बन्ध बताना उचित नही । जिस धर्म को लक्ष्य करके दो वस्तुओ का ताद्रूप्य बताया जाता है वह यदि उनकी आकृतियो से सम्बद्ध नही तब तो उन वस्तुओ के सीधे सम्बन्ध का बाधकर लक्षणा स्वीकार की जा सकती है अन्यथा नही ।

"गौर्वाहीक"[1] मे जाड्य मान्द्य आदि धर्मो को लक्ष्य करके वाहीक को गौ कहा गया है। इन धर्मों का गौ की आकृति से कोई सम्बन्ध नही। जब गौ शब्द का उच्चारण किया जाता है तब नेत्रेन्द्रियगम्य रूप ही सर्वप्रथम हमारे सामने आता है। यह उसकी आकृति और उससे सम्बद्ध गुणो के रूप मे होता है। इसका बाध हो जाने पर जाड्यमान्द्य आदि अन्य धर्म हमारी बुद्धि के विषय बनते है। अत यहा लक्षणा स्वीकार की जा सकती है।

इस प्रकार रूपक मे प्राय अभेदससर्ग के द्वारा काम चल सकता है। परन्तु जिन गुणो को लक्ष्य करके वस्तुओ का तादात्म्य दिखाया जाता है वे यदि अर्थज्ञान के बाद सीधे उपस्थित न हो तो लक्षणा स्वीकार की जा सकती है।

रूपक एक सादृश्यमूलक अलकार है। अत यह आवश्यक है कि इसमे विद्यमान आरोप सादृश्य पर आश्रित हो। यदि आरोप सादृश्य पर आश्रित न होकर कार्यकारणभावादि पर आश्रित है तो हम इसे रूपक का उदाहरण नही कह सकते ।

"नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलकृता ।"[2] यहा चन्द्र को

---

१. काव्यप्रकाश पृष्ठ ४८

२ चित्रमीमासा पृष्ठ ५५

आनन्द कहा गया है। चन्द्र यहा कारण है तथा आनन्द कार्य है। इस प्रकार आनन्द तथा चन्द्र मे कार्यकारणसम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ताद्रूप्य-सम्बन्ध से भिन्न है। ताद्रूप्य-सम्बन्ध के लिए आवश्यक है कि इसके द्वारा परस्पर सम्बद्ध वस्तुओ मे एक जैसे गुण हो। यहा ऐसी बात नही। यहा चन्द्र को आनन्द इसलिए नही कहा गया क्योकि उनमे एक जैसे गुण विद्यमान है अपितु इसलिए कि चन्द्र आनन्द का जनक है। इसीलिए विद्वानो ने उपर्युक्त उदाहरण मे रूपक न मानकर हेत्वलकार माना है। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

उपमा के समान रूपक मे भी कवि का उद्देश्य कभी कभी वस्तुओ का ताद्रूप्य न दिखाकर उनके सम्बन्धो का ताद्रूप्य दिखाना होता है। वस्तुओ का सम्बन्ध तीन प्रकार से होता है—अनुकूल रूप से, प्रतिकूल रूप से तथा असम्भव रूप से। जगन्नाथ ने प्रथम दो प्रकारो का निरूपण किया है।[2] असम्भव सम्बन्ध का जगन्नाथ ने उल्लेख नही किया है परन्तु उनके निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है—

"त्वयि कोपो महीपाल सुधाशौ हव्यवाहन।"

—रसगगाधर पृ० ३१८

यहा राजा तथा कोप के असम्भव सम्बन्ध का ताद्रूप्य चन्द्र तथा अग्नि के असम्भव सम्बन्ध से दिखाया गया है।

उपमा के समान रूपक मे भी साधारणधर्म का निर्देश अनुगामित्व बिम्बप्रतिबिम्बभावादि अनेक प्रकार से हो सकता है। साधारणधर्म के इन प्रकारो का रूपक मे निरूपित ताद्रूप्य से कोई विरोध नही होता अपितु ये साधारणधर्म ही विस्तृत होकर वस्तुओ के ताद्रूप्य मे परिणत हो जाते है। दो वस्तुओ के ताद्रूप्य का यह अर्थ नही कि उनके समस्त सम्भव गुण एक जैसे हो अपितु इसका अर्थ यह है कि जिस साधारणधर्म

---

१ "यत्तु 'सादृश्यप्रयुक्त सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयो' सामानाधिकरण्यनिर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्।''' ''इति रत्नाकरेणोक्तम्, तन्न।"

—रसगंगाधर पृष्ठ २६८

२. "... इत्यत्रारोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्चानुकूल्ये रूपकयोरनुग्राह्यानुग्राहकभावो दर्शितः। प्रातिकूल्ये यथा ''।" —रसगगाधर पृष्ठ १३५

को लक्ष्य करके दो वस्तुए हमारी दृष्टि का विषय बनती है वह हमे उन वस्तुओ का स्वरूप प्रतीत हो और उसके आधार पर उन दोनो मे ताद्रूप्य दिखाई दे। जहा साधारणधर्म का निर्देश नही होता वहा भी ताद्रूप्यप्रतीति प्रतीयमान साधारणधर्म को लक्ष्य करके होती है। 'मुख कमलमस्ति' मे साधारणधर्म सौन्दर्य व्यग्य है। मुख तथा कमल मे ताद्रूप्यप्रतीति इसी साधारणधर्म को लक्ष्य करके होती है। यह साधारणधर्म हमे मुख तथा कमल का रूप प्रतीत होता है। मुख का रूप यही सौन्दर्य होता है और कमल का रूप भी यही होता है। अत: दोनो मे ताद्रूप्यप्रतीति स्वाभाविक है।

साधारणधर्म के अनिर्देश की अवस्था मे भी जब ताद्रूप्यप्रतीति प्रतीयमान साधारणधर्म को लक्ष्य करके मानी जाती है तब उस साधारण-धर्म के निर्देश की अवस्था मे उसके आधार पर ताद्रूप्यप्रतीति मानना सर्वथा उचित है।

"नरानम्ब त्रातु त्वमिह परम भेषजमसि" —रसगगाधर पृ० ३२४

यहा निर्दिष्ट साधारणधर्म त्राण को लक्ष्य करके भेषज तथा भागीरथी का ताद्रूप्य दिखाया गया है।[1]

अनुगामी साधारणधर्म के समान बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारण-धर्म भी वस्तुओ की ताद्रूप्य-प्रतीति का कारण बन सकता है। बिम्बप्रति-बिम्बभाव की अवस्था मे साधारणधर्म के उपमेय तथा उपमान मे भिन्न स्वरूप होते है परन्तु इन भिन्न स्वरूपो मे एक सामान्य तत्त्व होता है। यही सामान्य तत्त्व विस्तृत होकर उपमेय तथा उपमान के ताद्रूप्य का कारण बनता है। जिस प्रकार साधारणधर्म की अनुगामिता वस्तुओ के रूप मे परिणत होकर उनकी ताद्रूप्यप्रतीति का कारण बनती है, उसी प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्म का यह सामान्यतत्त्व भी वस्तुओ की ताद्रूप्यप्रतीति का कारण बन सकता है।

"कुङ्कुमद्रवलिप्ताग काषायवसनो यति ।
कोमलातपबालाभ्र सन्ध्याकालो न सशय ॥"

—रसगगाधर पृ० ३१८

---

१. "अत्र त्रातुमिति तुमुन्नन्तेन शब्देनोपात्त' जडान्धादित्राणं भेषजभागीरथ्यो.।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ३२४

यहा यति पर सन्ध्याकाल का आरोप है। कुङ्कुमद्रव तथा काषायवसन एव कोमलातप तथा बालाभ्र मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। साधारणधर्म का यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही उपर्युक्त आरोप का कारण है।

अप्पयदीक्षित रूपक मे साधारणधर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव नही मानते। इसीलिए उन्होने अपनी रूपक की परिभाषा मे 'बिम्बाविशिष्टे' शब्द का सन्निवेश किया है।[1] जहा साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के साथ आरोप होता है वहा अप्पयदीक्षित रूपक न मानकर निदर्शना मानते है।

अप्पयदीक्षित का यह मत उचित नही। रूपक का स्वरूप ताद्रूप्य-प्रतीति है। यह ताद्रूप्यप्रतीति साधारणधर्म की अनुगामिता के कारण होती है अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण, होगी यह ताद्रूप्यप्रतीति ही। अत केवल साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण हम इसे रूपक से भिन्न अलकार के अन्तर्गत नही रख सकते। दूसरे जब उपमा मे साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर सादृश्य सम्भव है तब रूपक मे उसके आधार पर ताद्रूप्यप्रतीति कैसे सम्भव नही। यही कारण है कि जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के उपर्युक्त मत का खण्डन किया है।[2]

उपमा मे साधारणधर्म के लिए जो नियम लागू होते हे प्राय वे ही रूपक मे उन पर लागू होते हे। अत इनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नही।

आलकारिको ने उपमा के समान रूपक के भी संश्लिष्ट चित्रण तथा इस चित्रण के अभाव के आधार पर भेद किए हे। ये भेद साग, निरग तथा परम्परित रूपक है। साग रूपक मे सश्लिष्ट चित्रण होता है। इसमे अवयवियो के आरोप के अतिरिक्त अवयवो का भी आरोप होता है।

---

१. "बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपक तदा॥" —चित्रमीमासा पृष्ठ ५६

२ "यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ३०१

अवयवो का आरोप इसमे अवयवियो के आरोप का कारण नही होता परन्तु उसका पोषकमात्र होता है। अवयवियो का आरोप उनमे विद्यमान साधारणधर्म के आधार पर सम्भव है।[1] सावयवोपमा के समान इसके भी समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति ये दो भेद होते है।

निरग रूपक मे इस चित्रण का अभाव होता है। निरवयवोपमा के समान इसके शुद्ध तथा मालारूप दो भेद होते है।

परम्परित रूपक को भिन्न भेद मानने की आवश्यकता नही। परम्परित रूपक मे एक आरोप को अन्य आरोप का कारण बताकर आलकारिको ने इसे पृथक् भेद सिद्ध करने का यत्न किया है। परन्तु जिस प्रकार एक सादृश्य अन्य सादृश्य का कारण नही हो सकता उसी प्रकार एक आरोप भी अन्य आरोप का कारण नही हो सकता। उपमा के प्रकरण मे इसका विवेचन किया जा चुका है। निम्नलिखित उदाहरण से भी यह स्पष्ट है —

"सद्व शमुक्तामणि" —काव्यप्रकाश १० । ३८०

यहा वंश पर वेणु के आरोप को राजा पर मुक्तामणि के आरोप का कारण कहा गया है परन्तु यह उचित नही। यहा वंश पर वेणु का आरोप सम्भव नही और यदि सम्भव हो भी तो वह राजा पर मुक्तामणि के आरोप का कारण नही हो सकता। वस्तुत यहा कवि का तात्पर्य राजा तथा मुक्तामणि मे ताद्रूप्य दिखाने से नही अपितु वंश तथा राजा के सम्बन्ध एव वेणु तथा मुक्तामणि के सम्बन्ध मे ताद्रूप्य दिखाने से है। अत परम्परित रूपक मे सम्बन्धो का ताद्रूप्य होता है।

---

१. "सागरूपके तु वर्णनीयस्यागिनः रूपण सुप्रसिद्धसाधर्म्यनिमित्तकमेव न तु तत्रागरूपणमेव निमित्त तस्य तद्विनाप्युपपत्ते., तत्रागरूपक तु सुप्रसिद्ध-साधर्म्यनिमित्तकस्य अगिरूपकस्य परिपोषकमात्रम्।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ६००

रूपक का उपर्युक्त आधार पर विभाजन प्राचीन काल से आरम्भ हो गया था। शनैं शनैं इसका विकास होता गया। भामह ने समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति ये दो भेद रूपक के किए है।[1] दण्डी ने समस्तवस्तुविषय का नाम सकलरूपक[2] रखा है तथा अवयवरूपक एवं अवयविरूपक का उल्लेख किया है।[3] उद्भट ने समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति के अतिरिक्त एकदेशवृत्तिरूपक[4] का भी उल्लेख किया है। इसकी परिभाषा उन्होने 'पररूपेण रूपणात्'[5] की है। अत यह श्लिष्टपरम्परित रूपक से मिलता जुलता है। रुद्रट ने रूपक के सावयव, निरवयव तथा सकीर्ण भेद करके इनके अन्य उपभेद किए है।[6] मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने साग, निरग तथा परम्परित का भेदो सहित निरूपण किया है।

दण्डी ने समास के आधार पर रूपक के तीन भेद किए है। ये समस्त, व्यस्त तथा समस्तव्यस्त है।[7] रुद्रट ने समास तथा वाक्य के

---

१. "समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत्तच्चोच्यते यथा॥" —भामहालङ्कार २। २२

२. "ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम्।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम्॥ ६६
अङ्गुल्यादौ दलादित्व पादे चारोप्य पद्मताम्।
तद्योग्यस्थानविन्यासादेतत् सकलरूपकम्॥ ७०
—काव्यादर्श २। ६६, ७०

३. देखिए काव्यादर्श पृष्ठ १६२, १६३

४,५. बन्धस्तस्य यत. श्रुत्या श्रुत्यर्थाभ्या च तेन तत्।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च॥
समस्तवस्तुविषय मालारूपकमुच्यते।
यद्वेकदेशवृत्ति स्यात् पररूपेण रूपणात्॥
—काव्यालंकारसारसग्रह १। १२, १३

६. "सावयवं निरवयव सकीर्ण चेति भिद्यते भूय।
द्वयमपि पुनर्द्विधैतत्समस्तविषयैकदेशितया॥"—काव्यालकार ८। ४१

७. इत्येतदसमस्ताख्य समस्त पूर्वरूपकम्।
स्मित मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम्॥
—काव्यादर्श २। ६८

आधार पर रूपक के समासरूपक तथा वाक्यरूपक दो भेद किए है।[1] समास तथा वाक्य के आधार पर रूपक का यह विभाजन उचित नही। रूपक का स्वरूप ताद्रूप्य है। उसका विभाजन के इस आधार से कोई सम्बन्ध नही।

अप्पयदीक्षित ने ताद्रूप्य तथा अभेद के आधार पर रूपक के दो भेद करके पुन अधिकता, न्यूनता तथा अनुभयपर्यवसायिता के आधार पर प्रत्येक के तीन भेद किए है।[2]

दीक्षित का यह विभाजन उचित नही। रूपक मे अभेदप्रतीति नही होती है। न्यूनता तथा अधिकता भी रूपक मे नही होती। अभेद के उदाहरण अतिशयोक्ति के अन्तर्गत आ जाते है तथा अधिकता के व्यतिरेक के अन्तर्गत।

दण्डी ने युक्त, अयुक्त, ललित, हेतु आदि रूपक के अनेक भेद किए है।[3] इस विभाजन का रूपक के तत्त्व ताद्रूप्य से कोई सम्बन्ध नही। अत इन्हे पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नही।

---

१ उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयो ।
यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ॥ —काव्यालङ्कार ८-४०

२ "ततश्च रूपक तावद्द्विविधम्—अभेदरूपकं ताद्रूप्यरूपक चेति । द्विविधमपि प्रत्येकं त्रिविधम्– प्रसिद्धविषय्याधिक्यवर्णनेन, तन्न्यूनतावर्णनेनानुभयोक्त्या चैवं रूपक षड्विधम् ।"

—कुवलयानन्द पृ० १६

३ स्मितपुष्पोज्ज्वल लोलनेत्रभृगमिद मुखम् ।
इति पुष्पद्विरेफाणा सगत्या युक्तरूपकम् ॥ ७७
इदमार्द्रस्मितज्योत्स्न स्निग्धनेत्रोत्पलमुखम् ।
इति ज्योत्स्नोत्पलयोगादयुक्त नाम रूपकम् ॥ ७८
रूपणादङ्गिनोऽङ्गाना रूपणारूपणाश्रयात् ।
रूपक विषम नाम ललित जायते यथा ॥ ७९
गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभिः सागरो गिरिः ।
कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम् ॥ ८६

—काव्यादर्श द्वि० परि०

दण्डी ने उपमारूपक तथा रूपकरूपक ये रूपक के दो भेद और माने हे। जयदेव ने रूपकरूपक के लिए रूपितरूपक[1] शब्द का प्रयोग किया है। उपमारूपक मे आरोप तथा सादृश्य दोनो होते हैं।

यथा— "अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमा ।
सनद्धोदयरागस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति ॥"

—काव्यादर्श २ । ८९

रूपकरूपक मे एक वस्तु पर एक साथ दो वस्तुओ का आरोप होता है।

यथा— "मुखपकजरगेऽस्मिन् भ्रूलतानर्तकी तव ।
लीलानृत्त करोतीति ॥" —काव्यादर्श २ ।९३

विश्वनाथ ने अधिकारूढवैशिष्ट्य रूपक का उल्लेख किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

"इद वक्त्र साक्षाद्विरहितकलक: शशधर ॥"—साहित्यदर्पण पृ० ५२७

यहा मुख का चन्द्रमा से उत्कर्ष दिखाया गया है। अत यह उदाहरण रूपक का न होकर व्यतिरेक का है।

---

१ "अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादि रूपितरूपकम्" —चन्द्रालोक ५–२१

परिणाम तथा उसका रूपक में अन्तर्भाव

कतिपय आलङ्कारिको ने परिणाम को रूपक से पृथक् अलङ्कार माना है। इनमे रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि उल्लेखनीय है। रुय्यक ने परिणाम की परिभाषा इस प्रकार की है —

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम" —सर्वस्व सू० १६

विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि की परिभाषाओ मे इससे साधारण भेद है। इन्होने विषयात्मतया अथवा इसके पर्यायवाची शब्द का सन्निवेश और किया है —

"विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि।

परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा।"

—साहित्यदर्पण १०। ३४

"परिणाम क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना।"

—कुवलयानन्द ६। २१

"विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः।"

—रसगगाधर पृ० ३२९

विद्याधर की परिभाषा इनमे विपरीत है —

"यत्रारोपविषय प्रकृतकार्यसिद्ध्यर्थमारोप्यमाणात्मतया परिणमति तत्र यथार्थाभिधान परिणाम।" —एकावली

. इन सब परिभाषाओ मे एक तत्त्व सामान्य है और वह है प्रकृतार्थोपयोगित्व। यह प्रकृतार्थोपयोगित्व दो प्रकार से सम्भव है – आरोप्यमाण का आरोपविषय के रूप से अथवा आरोपविषय का आरोप्यमाण के रूप से। विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ प्रथम मत के समर्थक है तथा विद्याधर द्वितीय मत के। रुय्यक ने परिभाषा मे तो इसका उल्लेख नही किया परन्तु उनकी व्याख्या मे ये दोनो बाते मिलती है —

"परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति।" —सर्वस्व पृ० ३८

दोनो बातो का उल्लेख होने के कारण रुय्यक की उपर्युक्त उक्ति मे पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है।

इन तत्त्वो के आधार पर परिणाम की रूपक से तुलना करने पर प्रतीत होगा कि परिणाम रूपक से पृथक् नही। जहा तक प्रकृतोपयोगित्व का प्रश्न है यह परिणाम तथा रूपक मे समान रूप मे विद्यमान है। रूपक मे दो वस्तुओ का ताद्रूप्य होना है। इस ताद्रूप्य का प्रकृत अर्थ के लिए उपयोगी होना आवश्यक है। दो वस्तुओ का ताद्रूप्य इसीलिए दिखाया जाता है कि इससे प्रकृत अर्थ मे चमत्कार आए। यदि ताद्रूप्य से यह चमत्कार नही आता है तो वह ताद्रूप्य निरर्थक होगा और उसे अलकार की श्रेणी मे ही नही रखा जाएगा।

रुय्यक तथा विश्वनाथ का मत है कि रूपक मे आरोप्यमाण आरोपविषय का केवल उपरञ्जक होता है परिणाम के समान प्रकृत अर्थ का उपयोगी नही होता:—

"रूपके 'मुखचन्द्र पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोग ।" — साहित्यदर्पण पृ० ५२९

यह मत युक्तियुक्त नही। 'मुखचन्द्र पश्यामि' मे प्रकृत अर्थ दर्शन क्रिया नही अपितु दर्शन का विषय है और इसमे ताद्रूप्य से चमत्कार अवश्य आता है।

स्वय अप्पयदीक्षित जो परिणाम के समर्थक है रूपक मे प्रकृतार्थोपयोगित्व स्वीकार करते है। उन्होने रुय्यक के रूपक के उदाहरणो मे प्रकृतार्थोपयोगित्व की ओर सकेत करके इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि प्रकृतार्थोपयोगित्व परिणाम का रूपक से विभेदक है।[1]

परिणाम का दूसरा तत्त्व है आरोप्यमाण का आरोपविषय मे परिणत होना अथवा आरोविषय का आरोप्यमाण मे परिणत होना। यह तत्त्व ताद्रूप्य से भिन्न नही। ताद्रूप्य दो वस्तुओ मे होता है। हम

१ " 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम ' इति तल्लक्षणमुक्तम्। तत्र शङ्क्यते—

'यामि मनोवाक्कायै. शरण करुणात्मक जगन्नाथ।
जन्मजरामरणार्णवतरणतरण्ड तवाङ्घ्रियुगम्।।'

इति श्लोकेष्वारोप्यमाणाना तरण्डनयनप्रसूनाना तरणनिरीक्षणावतंसनरूपप्रकृतकार्योपयोगे सत्यप्युक्तलक्षणालकारसर्वस्वकारेणैव रूपकमगीकृतम्।"

चित्रमीमासा पृ० ६२—६३

प्रथम वस्तु का द्वितीय वस्तु से ताद्रूप्य कहे अथवा द्वितीय वस्तु का प्रथम से ताद्रूप्य कहे, ताद्रूप्य के स्वरूप मे अन्तर नही आता। यह कहना उचित नही कि ताद्रूप्य मे केवल उपमान का प्रकृत अर्थ से सीधा सम्बन्ध होता है, अतः जहा उपमान का यह सम्बन्ध ठीक नही बैठता वहा उसकी उपमेय मे परिणति मानकर परिणाम अलङ्कार मानना आवश्यक हो जाता है।

ताद्रूप्य मे उपमेय तथा उपमान की सत्ता पृथक् बनी रहती है। अत कवि उनमे से किसी एक का सीधा सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से जोडने मे स्वतन्त्र है। हा यह अवश्य है कि यदि वह उपमेय का सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से जोडता है तो वह उपमान के ताद्रूप्य से युक्त उपमेय को लेकर ऐसा करता है और यदि वह उपमान का सीधा सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से जोडता है तो वह उपमेय के ताद्रूप्य से युक्त उपमान को लेकर ऐसा करता है। यदि ताद्रूप्य मे उपमेय का सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से नही स्थापित किया जा सकता तो परिणाम अलङ्कार के आविष्कार से उस सम्बन्धनिर्वाह की व्याख्या किस प्रकार सम्भव है जहा उपमान का प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध नही बैठता। अप्पयदीक्षित ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है—

"प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा।"

प्रसन्नेनेति-अत्र हि अब्जस्य वीक्षणोपयोगित्व निबध्यते न तु दृश, मयूरव्यंसकादिसमासेनोत्तरपदार्थप्राधान्यात् । अब्जस्य वीक्षणोपयोगित्व न स्वात्मना सभवति। अतस्तस्य प्रकृतदृगात्मना परिणत्येक्षणात् परिणामालंकार.।"

—कुवलयानन्द पृ० २०, २१

अप्पयदीक्षित का यह प्रयत्न सफल नही कहा जा सकता। अप्पयदीक्षित 'दृगब्ज' मे 'मयूरव्यंसकादि' समास के अनुसार अब्ज की प्रधानता मानते है और कहते है कि वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगित्व अब्ज का ही दिखाया गया है, परन्तु साथ मे वे यह भी कहते है कि अब्ज वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगी नही हो सकता। यह परस्पर विरोध है। यदि अब्ज का वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगित्व दिखाया गया है तो उसे वैसा होना चाहिए और यदि ऐसा नही है तो इसका

यही अर्थ है कि अब्ज का वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगित्व नही दिखाया गया है। यह कहना कि अब्ज स्वत वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगी न हो सकने के कारण दृक् के रूप मे परिणत होकर वैसा हो जाएगा उचित नही। प्रथम तो अब्ज की दृक् मे परिणति मानना उचित नही। हमने पहले 'दृगब्ज' मे मयूरव्यसकादि समास के अनुसार दृक् की अब्ज मे परिणति मानी है, तो क्या अब उलटे उस अब्ज की दृक् मे परिणति मानकर हम इस पूर्व प्रक्रिया के विपरीत जाए। दूसरे यदि यह परिणति माने भी तो हमे कहना होगा कि अब्ज दृक् मे परिणत होकर वीक्षणक्रिया का उपयोगी हो गया। परन्तु क्या हमे ऐसी प्रतीति होनी है? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। हम उपर्युक्त उदाहरण मे वीक्षणक्रिया से दृक् का सम्बन्ध जोडते है कमल का सम्बन्ध नही जोडते। यह अवश्य है कि यह दृक् कमल के ताद्रूप्य को लिए हुए है और फलस्वरूप इससे वीक्षणक्रिया मे चारुता आ जाती है। कमल का वीक्षण के साथ सम्बन्ध सम्भव न होने के कारण उसे नेत्र के रूप मे परिणत करके वीक्षण के साथ उसका सम्बन्ध दिखाने के इस जटिल प्रयत्न से तो यही अच्छा है कि कमल के ताद्रूप्य से युक्त नेत्र का हम सीधे ही वीक्षणक्रिया से सम्बन्ध मान ले।

नेत्र के वीक्षणक्रिया के साथ सम्बन्ध का अप्पयदीक्षित परिहार कर सके हो ऐसी बात भी नही। उन्हे भी कमल का नेत्र मे परिणाम मानना पडा। और जब कमल का नेत्ररूप मे परिणाम हो गया तो उस नेत्र का वीक्षण क्रिया से स्वत सम्बन्ध हो गया। अत अप्पयदीक्षित जिसका परिहार चाहते थे वही बात घूम फिर कर उन्हे माननी पडी।

कतिपय आलंकारिको ने उपर्युक्त श्लोक की अन्य प्रकार से व्याख्या की है। वे 'दृगब्ज' मे मयूरव्यंसकादि समास न मानकर उपमित समास मानते है। 'उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे'[1]

---

१. पाणिनि— २।१।५६

के अनुसार वे यह अवश्य स्वीकार करते है कि उपमित समास मे साधारण-धर्म का निर्देश न होना चाहिए। परन्तु इस साधारणधर्म से तात्पर्य जिस किसी साधारणधर्म से न होकर सादृश्य के निमित्तभूत साधारणधर्म से है। उपर्युक्त उदाहरण मे दृक् तथा अब्ज के सादृश्य का निमित्त 'प्रसन्नत्व' न होकर रामणीयकत्व आदि है। अत प्रसन्नेन शब्द का सन्निवेश 'दृगब्ज' के उपमित समास होने मे बाधक नही। उपमित समास होने के कारण दृक् का सम्बन्ध वीक्षण से स्थापित किया जा सकता है।[1]

इस प्रकार ये विद्वान् भी वीक्षण का सम्बन्ध नेत्र से ही स्थापित करते है। उपर्युक्त उदाहरण मे हम कोई समास माने इतना निश्चित है कि यहा वीक्षणक्रिया के साथ सम्बन्ध नेत्र का दिखाया गया है कमल का नही।

परिणाम के अन्य उदाहरणो मे भी जहा उपमान का प्रकृत अर्थ से सीधा सम्बन्ध नही बैठता वहा उपमान की उपमेय के रूप मे परिणति मानकर उसका प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा यह उचित होगा कि सीधे उपमेय का प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध मान लिया जाए। रूपक मे उपमेय का प्रकृत अर्थ से सीधा सम्बन्ध निषिद्ध हो यह कोई नियम नही। रूपक के लिए केवल एक वस्तु आवश्यक है और वह है ताद्रूप्य। ताद्रूप्य उन दो वस्तुओ के पृथक् अस्तित्व को मानकर चलता है जिनमे ताद्रूप्य है। अत ताद्रूप्य मे इनमे से किसी एक का सम्बन्ध प्रकृत अर्थ के साथ स्थापित किया जा सकता है। उपमेय के प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध के निषेध की स्थिति तो तब आती है जब उपमेय का उपमान मे सर्वथा विलय हो जाता है और फलत ताद्रूप्य ताद्रूप्य न रहकर सर्वथा अभेद मे परिणत

---

१. "तत्र न्यायपञ्चाननादयः—उपमैवेय भवितुमर्हति। न च प्रसन्नत्वरूपधर्म-प्रयोगस्तद्बाधकः, तदतिरिक्तरमणीयत्वादिधर्मनिमित्तकसादृश्यस्य विवक्षितत्वात्। उपमानिमित्तधर्मप्रयोग एव उपमितसमासनिषेधस्य 'भाष्याब्धिः क्वाति-गम्भीरः इत्याद्यनुरोधेन स्वीकारादित्याहु.॥"

—अलकारकौस्तुभ पृ० १६१

हो जाता है। रूपक मे अनेक विद्वानो को प्रकृत अर्थ के साथ उपमान के समान उपमेय का भी सीधा सम्बन्ध स्वीकार है।[1]

१. "केचित्तु' · ···· एव च परिणामद्वयात्मकमिद रूपकमेव भवितुमर्हति। विषयतावच्छेदकविषयितावच्छेदकान्यतरपुरस्कारेण निश्चीयमानविषयि-विषयान्यतरत्वस्य तल्लक्षणत्वात् · · · ' इति वदन्ति।"

—रसगंगाधर पृष्ठ २३४

उल्लेख

रुय्यक, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि ने उल्लेख का निरूपण किया है। इन आलकारिको की इस अलकार की परिभाषाए प्राय समान है —

"एकस्यापि निमित्तवशादनेकधाग्रहणमुल्लेख" —सर्वस्व सू० १९

"क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतृणा विषयाणा तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो य स उल्लेख उच्यते ॥"

—साहित्यदर्पण १० । ३७

इन परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण उल्लेख अलकार होता है। ग्रहण का अर्थ ज्ञान है। अत एक वस्तु का अनेक प्रकार से ज्ञान ही इस अलकार का स्वरूप है। एक वस्तु मे अनेक प्रकार का ज्ञान होने के दो कारण है—ग्रहीतृभेद तथा विषयभेद।

ग्रहीता वस्तु को अपने ज्ञान का विषय बनाता है। वस्तु के साथ उसके गुण अथवा धर्म अभिन्न रूप से जुडे हुए रहते है और इन गुणो के रूप मे ही वह वस्तु ग्रहीता के ज्ञान का विषय बनती है। ग्रहीता के लिए यह सम्भव नही कि वह वस्तु के समस्त सम्भव गुणो को अपने ज्ञान का विषय बना ले। अत वह वस्तु के केवल उसी अथवा उन्ही धर्मो को अपने ज्ञान का विषय बनाता है जो उसके चित्त पर सबसे अधिक प्रभाव डालते है। व्यक्तियो के चित्त की अवस्थाओ मे भेद होता है। अत ज्ञान का विषय बनने वाले गुणो मे भेद स्वाभाविक है।[1]

'नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरै स्वकीयापगे—
त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसवैरपि ।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसङ्गैरिय

---

१ "यथारुचि यथार्थित्व यथाव्युत्पत्ति भिद्यते ।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधित ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३४

तनोतु मम शं तनो' सपदि शन्तनोरङ्गना ॥'

—रसगगाधर पृ० ३५९

यहा गगा ज्ञान का विषय है। उसमे वरगतिप्रदान आदि अनेक गुण है। दर्शको को अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार इनमे से किसी एक के रूप मे गगा के दर्शन होते है।[1]

अनेक प्रकार के ज्ञान का दूसरा कारण है विषयभेद, आश्रयभेद आदि। यहा विभिन्न वस्तुओ के सम्पर्क मे आने के कारण प्रस्तुत वस्तु के विभिन्न गुणो का प्रस्फुटन होता है। प्रथम कारण मे दर्शको की चित्तवृत्तियो का भेद ज्ञान का विषय बनी हुई प्रस्तुत वस्तु के विभिन्न रूपो का कारण था। यहा ज्ञान का विषय बनी हुई वस्तुए प्रस्तुत वस्तु की चित्तवृत्तियो के भेद का कारण है।

यथा —"दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया कि च मुग्धी।
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्ति ।"

—रसगगाधर पृ० ३६२

यदि प्रस्तुत वस्तु अचेतन है तो हम उसमे चित्तवृत्तिभेद न कहकर केवल स्वरूपभेद कहेगे।

कतिपय आलकारिको ने विषय का अर्थ प्रस्तुत वस्तु के अवयव अथवा धर्म भी लिया है। निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है —

"अकृश कुचयो कृश वलग्ने विपुल चक्षुषि विस्तृत नितम्बे।"

—चित्रमीमासा पृ० ८१

एक वस्तु मे अनेक प्रकार के ज्ञान के इन दो कारणो के आधार पर उल्लेख के उपर्युक्त दो भेद माने गए है। इन भेदो के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इनके लिए सादृश्यमूलक होना अनिवार्य नही। इनके लिए केवल एक बात अनिवार्य है और वह है एक वस्तु मे अनेक प्रकार का ज्ञान। यह अनेक प्रकार का

---

१ "अत्र च लिप्सारुचिभ्या निमित्ताभ्यामस्त्यनेकग्रहीतृकवरगतिप्रदानत्वाद्यनेकप्रकारकग्रहणसमुदायो गगाविषयकरतिभावोपस्कारक ।"

—रसगगाधर पृष्ठ ३५६

ज्ञान बिना सादृश्य के भी सम्भव है । जब दर्शको की चित्तवृत्ति के भेद के अनुमार अथवा विषयभेद के अनुसार प्रस्तुत वस्तु मे विभिन्न धर्मों के दर्शन होते है और ज्ञान की प्रक्रिया इन्ही धर्मो के दर्शन तक सीमित रहती है तब यह ज्ञान सादृश्य के अन्तर्गत नही आता । उपर्युक्त उदाहरणों मे यही बात है । इस प्रकार के ज्ञान मे युक्त उल्लेख को अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ ने शुद्ध उल्लेख कहा है ।[1]

उल्लेख मे ज्ञान की प्रक्रिया सदा वस्तु के गुणदर्शन तक ही सीमित रहे ऐसी बात नही । वह प्राय इससे आगे भी बढती है और ज्ञान के विषय बने हुए गुणो से युक्त अन्य वस्तुओ के साथ प्रस्तुत वस्तु का सादृश्य, तादात्म्य आदि भी स्थापित करती है। ज्ञानप्रक्रिया का यह क्षेत्र सादृश्य के अन्तर्गत आता है । सादृश्य के जिस प्रकार ताद्रूप्य, अभेद आदि अनेक स्वरूप होते है उसी प्रकार यहा भी उसके ये रूप सम्भव है । सादृश्य के इन रूपो से मिलकर उल्लेख सकीर्ण अलंकार का रूप धारण करता है। इस अवस्था मे उल्लेख मे चमत्कार के दो हेतु होते है—एक तो स्वय उल्लेख का स्वरूप और दूसरा सादृश्य का स्वरूप ।

"स्त्रीभि: कामोऽर्थिभि' स्वद्रु' काल: शत्रुभिरैक्षि स' ।"

—चित्रमीमांसा पृ० ७८

यहा स्त्रियो, याचक आदि को अपनी चित्तवृत्ति के भेद के अनुसार प्रस्तुत राजा मे विभिन्न गुण दिखाई देते है और इन गुणो के आधार पर वे काम आदि का राजा से अभेद स्थापित करते है । इस प्रकार यहा चमत्कार के दो हेतु है—एक वस्तु मे दर्शको की चित्तवृत्ति के भेद के अनुसार अनेक प्रकार का ज्ञान तथा अभेद-प्रतीति । प्रथम को लेकर उल्लेख बनता है तथा द्वितीय को लेकर अतिशयोक्ति । इस प्रकार यहा उल्लेख तथा अतिशयोक्ति का सकर है ।

कतिपय आलकारिक उपर्युक्त उदाहरण मे चमत्कार के द्वितीय हेतु को अभेदप्रतीति न मानकर ताद्रूप्यप्रतीति मानते है । इस

---

१ 'शुद्ध एवात्रायमुल्लेखालकार:, रूपकाद्यमिश्रणात् ।'

—रसगगाधर पृष्ठ ३५६

प्रकार उनके अनुसार यहा उल्लेख का अतिशयोक्ति के साथ सकर न होकर रूपक के साथ सकर है। उपर्युक्त उदाहरण मे मिलते जुलते निम्नलिखित उदाहरण पर उनकी व्याख्याओ मे यह स्पष्ट है —

"यस्तपोवनमिति मुनिभि, यमनगरमिति शत्रुभि, वज्रपञ्जरमिति शरणागतै · अगृह्यत।"

"तत्र यदि यमनगरत्वादीनामुपरञ्जकतामात्रेण न्वयस्तदा रूपकसकर"

—चित्रमीमासा पृ० ७९

"केचिदाहु 'वज्रपञ्जरमिति शरणागतै ' इह रूपकालकारयोग।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५३५

आलङ्कारिको का यह मत समीचीन नही। ताद्रूप्यप्रतीति के लिए आवश्यक है कि दर्शक को ताद्रूप्य के द्वारा सम्बद्ध वस्तुओ का पृथक् अस्तित्व प्रतीत हो। यहा ऐसी बात नही। यहा शरणागतो को श्रीकण्ठ-जनपद की प्रतीति न होकर केवल वज्रपञ्जर की प्रतीति होती है। शरणागत श्रीकण्ठजनपद तथा वज्रपञ्जर की पृथक् अनुभूति करके उनमे ताद्रूप्य स्थापित करे ऐसी बात नही अपितु उन्हे केवल वज्रपञ्जर की ही अनुभूति होती है और उसी का चित्र उनके सम्मुख आता है। श्रीकण्ठ-जनपद की ओर शब्द के निर्देश से हम यह नही कह सकते कि शरणागतो को उसकी भी प्रतीति होती है। जनपद का निर्देश शरणागतो के लिए नही अपितु पाठक के लिए है जिससे उसे एक वस्तु मे इन विभिन्न प्रतीतियो का द्योतन हो सके। उपर्युक्त उदाहरण मे वज्रपञ्जर की प्रतीति का सीधा सम्बन्ध शरणागतो से है और उनकी इस प्रतीति का स्वरूप ही चमत्कार का कारण है। अत उपर्युक्त उदाहरण मे ताद्रूप्यप्रतीति की अपेक्षा अभेदप्रतीति मानना उचित है। इसी प्रकार 'स्त्रीभि कामो · ··' इस श्लोक मे भी चमत्कार का कारण ताद्रूप्यप्रतीति न होकर अभेदप्रतीति ही है।

उल्लेख की इस सकर अवस्था को प्राय सभी आलङ्कारिको ने स्वीकार किया है।[1] अप्पयदीक्षित भी इसे स्वीकार करते हे। परन्तु उनका

१. "संकरप्रतीतिस्त्वंगीकृतैव" —सर्वस्व पृष्ठ ४६

"द्विविधश्चायमुल्लेखः—शुद्धोऽलंकारान्तरसंकीर्णश्च"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ७८

जगन्नाथ आदि से थोडा सा मनभेद है और वह यह है कि ये अपह्नुति के साथ उल्लेख का मकर स्वीकार नही करते —

"यदि 'कान्त्या चन्द्र विदु केचित्सौरभेणाम्बुज परे ।

वक्त्र तव वय ब्रूम तपसैक्य गत द्वयम् ॥'

इत्यपह्नवोदाहरणविशेषेऽतिव्याप्ति शङ्कया, तदानीमेकत्रोल्लेखनम् निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम् ।" —चित्रमीमासा पृ० ७८

दीक्षित का यह मत यथार्थ नही । जब उल्लेख का अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कारो के साथ सकर हो सकता है तब अपह्नुति के साथ उसका संकर होने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए । इस मत की इस अयथार्थता के कारण ही जगन्नाथ ने इसकी आलोचना की है ।[1]

उल्लेख की इस सकर अवस्था के विषय मे विचार करने पर प्रतीत होगा कि जहा तक सादृश्य तत्त्व का सम्बन्ध है उसका कोई निश्चित स्वरूप अलकार के इस भेद के मूल मे नही होता किन्तु इस तत्त्व के विभिन्न स्वरूपो मे से एक अथवा अधिक स्वरूप इसके मूल मे हो सकते है । इस प्रकार उल्लेख की अवस्था मे एक अथवा अधिक सादृश्यमूलक अलंकारो का चमत्कार होता है ।

प्रश्न उठता है कि यदि उल्लेख की सकर अवस्था मे किसी अथवा किन्ही सादृश्यमूलक अलकारो का चमत्कार होता है तो उल्लेख के इस भेद को उन सादृश्यमूलक अलकारो के अन्तर्गत ही क्यो न मान लिया जाए । उल्लेख के द्वारा उत्पन्न अनेक प्रकार का ज्ञान उस सादृश्यमूलक अलकार के भेद के रूप मे हो सकता है । इस प्रकार सादृश्यमूलक अलकार से उल्लेख का संकर मानने की आवश्यकता नही ।

प्रश्न सर्वथा उचित है और इसे स्वीकार करने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए । केवल अनेक प्रकार के ज्ञान के आधार पर

१. 'द्विविधश्चायमुल्लेख शुद्धोऽलकारान्तरसकीर्णश्च' इत्युक्त्वा "श्रीकण्ठ-जनपदवर्णने 'यस्तपोवनमिति मुनिभिरगृह्यत' इत्यादौ शुद्ध., 'यमनगरमिति शत्रुभि:, वज्रपञ्जरमिति शरणागतै.' इत्यादौ भ्रान्तिरूपकादिसकीर्ण:" इति स्वयमेवोक्तत्वात् । इहाप्यपह्नुत्या सकीर्ण उल्लेख इत्यस्य सुवचत्वात् ।

—रसगंगाधर पृष्ठ ३६०

सादृश्यमूलक अलङ्कार से उल्लेख की पृथक्ता सिद्ध करना उचित नही। यह अनेक प्रकार का ज्ञान सादृश्यमूलक अलङ्कारो मे न होता हो ऐसी बात नही। मालोपमा, मालारूपक आदि मे इस प्रकार के ज्ञान का सद्भाव होता है।

इसके उत्तर मे उल्लेख के समर्थको का कहना है कि मालारूपक आदि मे अनेक प्रकार का ज्ञान तो होता है परन्तु वहा ग्रहीता अनेक नही होते। जगन्नाथ का यही मत है —

"'धर्मस्यात्मा भागधेय क्षमाया' इत्यादिमालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकैर्ग्रहीतृभिरित्यविवक्षितबहुत्वक ग्रहणविशेषणम्।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३५८

जगन्नाथ का यह मत असमीचीन है। जब अनेक प्रकार का ज्ञान अलङ्कारभेद का प्रयोजक नही हो सकता तो अनेकग्रहीतृत्व को भी अलङ्कार-भेद का प्रयोजक नही मानना चाहिए।

अनेकग्रहीतृत्व भी सादृश्यमूलक अलङ्कारो मे देखने को मिलता है। उल्लेख के समर्थक आलङ्कारिको ने भी यह स्वीकार किया है—

"'नृत्यत्त्वद्वाजिराजिप्रखरखुरपुटप्रोद्धतैर्धूलिजालै-
रालोकालोकभूमीधरमतुलनिरालोकभाव प्रयाते।
विश्रान्ति कामयन्ते रजनिरिति धिया भूतले सर्वलोका
कोकाः क्रन्दन्ति शोकानलविकलतया कि च नन्दन्त्युलूका ॥'

अत्र धूलिजालरूपस्यैकस्य वस्तुनोऽनेकैर्लोककोकोलूकैर्ग्रहीतृभिरेकेनैव रजनीत्वरूपेण प्रकारेण ग्रहणमिति तत्रातिप्रसङ्गवारणायानेकप्रकारमिति।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३५८

इससे स्पष्ट है कि जगन्नाथ न तो केवल अनेक प्रकार के ज्ञान को अलङ्कार-भेद का प्रयोजक मानते है और न केवल अनेकग्रहीतृत्व को, परन्तु इन दोनो का निर्दिष्ट सम्मिश्रण ही इनके अनुसार अलङ्कार-विभेद का प्रयोजक है।

अप्पयदीक्षित इससे भी आगे बढ जाते है। वे इन दोनो तत्त्वो के अतिरिक्त निमित्तभेद को भी विभेदक कारण मानते है। जगन्नाथ तो निमित्त

विश्वनाथ का यह मत युक्तिसङ्गत नही। यहाँ गाम्भीर्य आदि साधारण-धर्म के अतिरिक्त और कुछ नही। इन साधारणधर्मो के आधार पर यहा एक व्यक्ति का समुद्र आदि से ताद्रूप्य दिखाया गया है। अत उपर्युक्त श्लोक मालारूपक का उदाहरण है।

अत. उचित होगा कि सकीर्ण उल्लेख को पृथक् अलङ्कार न मानकर सादृश्यमूलक अलङ्कारो का भेद ही मान लिया जाए।

अपह्नुति

रूपक मे उपमेय तथा उपमान की प्रतीति समान रूप से होती है। जिस साधारणधर्म को लक्ष्य करके उपमेय तथा उपमान कवि की दृष्टि के विषय बनते है वह उसे उनमे समान रूप से प्रतीत होता है। अत वह उस साधारणधर्म को उन वस्तुओ का स्वरूप मानकर उनमे ताद्रूप्य स्थापित करता है। अपह्नुति मे कवि को उपमेय मे साधारणधर्म के जिस स्वरूप की प्रतीति होती है वह उसे सामान्यत' उपमेय मे सम्भव नही दिखाई देता। अत उम साधारणधर्म को उसकी आश्रयभूत वस्तु के रूप मे देखते हुए उसे कहना पडता है कि यह अमुक वस्तु नही अपितु अन्य वस्तु है। यदि मुख उसका वर्ण्य विषय है तो वह कहेगा—'चन्द्रोऽयम् न मुखम्'। कवि को इस दशा मे मुख की प्रतीति न होती हो ऐसी बात नही किन्तु केवल इतना होता है कि जिस सौन्दर्य को लक्ष्य करके कवि मुख को अपना विषय बनाता है वह सौन्दर्य उसे मुख-सामान्य मे सम्भव नही दिखाई देता। इस प्रकार कवि को मुख मे मुखत्व की तो प्रतीति होती है परन्तु सौन्दर्य की दृष्टि से उसे प्रतीति केवल चन्द्र की होती है।

उपमेय मे साधारणधर्म के सम्भव प्रतीत न होने के दो कारण होते है—साधारणधर्म का उत्कर्प अथवा भौतिक दृष्टि से साधारणधर्म का उपमेय मे सम्भव न होना। 'चन्द्रोऽय न मुखम्' मे साधारणधर्म सौन्दर्य का उत्कर्ष है। इस दशा मे मुख—सामान्य मे सौन्दर्य की सत्ता अवश्य होती है, परन्तु प्रस्तुत सौन्दर्य इतना उत्कृष्ट है कि मुख-सामान्य मे उसकी सत्ता सम्भव नही।

द्वितीय कारण की अवस्था मे उपमेय मे परिस्थितिविशेष के कारण ऐसा धर्म आ जाता है जो भौतिक दृष्टि से उसमे सम्भव नही।

"नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्क., सिन्धोरौर्वोऽयमुत्थित ।"

—कुवलयानन्द ११।२७

यहा तीव्रता धर्म के कारण चन्द्रमा का निषेध किया गया है। चन्द्रमा मे भौतिक दृष्टि से शीतलता होती है। अत शीतलता के विपरीत दाहकता उसमे सम्भव नही। परन्तु यहा विरहावस्था

के कारण चन्द्रमा मे तीव्रता अथवा दाहकता प्रतीत होती है। इस द्वितीय कारण वाली अपह्नुति को अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने हेत्वपह्नुति कहा है —

"स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुति"

—कुवलयानन्द ११।२७

हेत्वपह्नुति मे जिस साधारणधर्म की उपमेय मे प्रतीति होती है उसका प्राय [redacted] मे वस्तुत सद्भाव नही होता किन्तु उसकी वहा केवल प्रतीति होती है। यह प्रतीति दर्शक की चित्तवृत्ति तथा उस चित्तवृत्ति पर पडने वाले उपमेय के प्रभाव पर निर्भर करती है। उपर्युक्त उदाहरण मे दर्शक का चित्त विरह से व्याकुल है। अत चन्द्रमा का दर्शन दर्शक की प्रिय वस्तुओ के स्मरण को उद्दीप्त करके उसकी इस व्याकुलता मे वृद्धि करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य सादृश्यमूलक अलकारो के समान अपह्नुति के मूल मे भी सादृश्य स्थित है। अपह्नुति मे एक वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु की जो स्थापना की जाती है वह उन दोनो वस्तुओ के सादृश्य को लेकर होती है। इसी बात को लक्ष्य करके अनेक आलङ्कारिको ने अपनी परिभाषाओ मे सादृश्य, ताद्रूप्य अथवा इनके पर्यायवाची शब्दो का सन्निवेश किया है —

'अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतर्थापह्नवादस्या क्रियते चाभिधा यथा॥' —भामहालकार ३।२१

'प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा॥' —चित्रमीमासा पृ० ८२

"उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुति।" —रसगगाधर पृ० ३६६

अन्य आलङ्कारिक भी जिन्होने अपनी परिभाषाओ मे इस प्रकार के शब्दो का सन्निवेश नही किया है प्राय इस बात को मानकर चलते है कि अपह्नुति के मूल मे सादृश्य होता है। परन्तु दण्डी का मत इन सबसे भिन्न है। इसके अनुसार अपह्नुति के लिए सादृश्यमूलकता आवश्यक

"अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम् ।
न पञ्चेषु स्मरस्तस्य सहस्र पत्रिणामिति ॥" —काव्यादर्श २ । ३०४

भोज ने भी 'औपम्यवती अनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते'[1] कहकर दण्डी का अनुसरण किया है। विश्वनाथ भी अपनी अपह्नुति के द्वितीय भेद मे सादृश्यमूलकता नही मानते।[2]

दण्डी आदि का यह मत युक्तिसगत नही। प्रथम तो बिना किसी सादृश्य के आधार के केवल एक वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु की स्थापना चमत्कार की जनक नही होती और यदि इसमे थोडा बहुत चमत्कार होता भी है तो इसे उन सादृश्यमूलक अलकारो के अन्तर्गत रखना उचित नही जिनमे चमत्कार का प्रधान कारण सादृश्य का कोई स्वरूप होता है।

कतिपय आलङ्कारिको के अनुसार अपह्नुति के लिए सादृश्यमूलकता तो आवश्यक है परन्तु यह आवश्यक नही कि निषेध केवल प्रस्तुत का हो। इनके अनुसार उपमेय तथा उपमान मे से किसी का भी निषेध हो सकता है। इस सिद्धान्त का अनुसरण करके ये 'नाय सुधाशु कि तर्हि सुधाशुः प्रेयसीमुखम्' मे अपह्नुति अलकार मानते है।[3] अप्पयदीक्षित इसी मत का अनुसरण करके पर्यस्तापह्नुति की सत्ता स्वीकार करते है।[4]

---

१. 'अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।
औपम्यवत्यनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते ॥'—सरस्वतीकण्ठाभरण ४ । ४१

२ 'गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुतिः ।'—सहित्यदर्पण १०–३८

३ "अत्र 'उपमेयम्' इत्याद्युपलक्षणम् किञ्चिदपह्नुत्य कस्यचित्प्रदर्शनमपह्नुतिरित्येव लक्षणम् ।' एव च 'नाय सुधाशुः किं तर्हि सुधाशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यादावुपमाननिषेधेऽपि अपह्नुतिरेव । · ·· एतेन 'नायं सुधाशु·' इत्यादौ 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्व विषमुच्यते' इत्यादौ च नापह्नुति· किं तु दृढारोपरूपकमित्यपास्तम् ।" —बालबोधिनी पृ० ६०७

४. "यत्र क्वचिद्वस्तुनि तदीयधर्मनिह्नवः, अन्यत्र वर्णनीये वस्तुनि तस्य धर्मस्यारोपार्थं सा पर्यस्तापह्नुति· । यथा— चन्द्रे चन्द्रत्वनिह्नवो वर्णनीये मुखे तदारोपार्थ· ॥ —कुवलयानन्द पृ० २७, २८

आलकारिको का उपर्युक्त मत उचित नही। यदि अपह्नुति मे उपमेय के समान उपमान का निषेध स्वीकार कर लिया जाए तो भी उपर्युक्त उदाहरण अपह्नुति के अन्तर्गत नही आता। अपह्नुति के लिए दो तत्त्व आवश्यक है—किसी वस्तु का निषेध तथा उसके स्थान पर अन्य वस्तु का आरोप। उपर्युक्त उदाहरण मे इन दोनो मे से कोई तत्त्व विद्यमान नही। वाक्य के प्रथम अग मे 'न' का जो प्रयोग किया गया है उसका सम्बन्ध सुधाशु से नही अपितु 'अयम्' मे है। यदि 'न' का सम्बन्ध सुधाशु से हो तो वाक्य के उत्तर भाग मे सुधाशु की स्थापना असगत हो जाएगी। वस्तुत यहा निषेध सुधाशु का न होकर उसके अधिकरण का है। यहा केवल इतना कहा गया है कि सुधाशु यह नही अपितु वह है। यह बात नही कही गई कि यह सुधाशु नही अपितु अन्य वस्तु है। इस प्रकार यहा प्रेयसीमुख का सुधाशु से केवल ताद्रूप्य दिखाया गया है। वाक्य के पूर्वार्ध मे प्रयुक्त 'न' से इस ताद्रूप्य मे बल आ जाता है और इसका अर्थ निकलता है कि प्रेयसी का मुख ही सुधाशु है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण मे दृढारोपरूपक मानना ही उचित होगा। जगन्नाथ ने इसी मत का समर्थन किया है[1]—

अप्पयदीक्षित ने अपनुहृति के भ्रान्तापह्नुति तथा छेकापह्नुति दो भेद और माने है। उनकी भ्रान्तापह्नुति की परिभाषा तथा उदाहरण निम्नलिखित है —

'भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शकाया भ्रान्तिवारणे।
ताप करोति सोत्कम्पं ज्वर कि न सखि स्मर ॥'

—कुवलयानन्द ११। २९

अपह्नुति की सामान्य परिभाषा पर विचार करने से प्रतीत होगा कि उपर्युक्त उदाहरण मे अपह्नुति मानना उचित नही। अपह्नुति मे एक वस्तु का निषेध करके अन्य का उस पर आरोप होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे यह

१. "तस्मात् 'नाय सुधाशु किं तर्हि सुधाशु प्रेयसीमुखम्' इत्यत्र दृढारोपं रूपकमेव भवितुमर्हति, नापह्नुति.। उपमेयतोपमानावच्छेदकयोः सामानाधिकरण्यस्य निष्प्रत्यूहं भानात्। तदुक्तं विमर्शिन्याम्—"'न विष विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते' अत्र विषस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वात् दृढारोपं रूपकमेव, नापह्नुति." इति।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ३६६

बात नही। यहा न तो ताप का निषेध किया गया है और न ही उसके कारण का अपितु केवल यह कहा गया है कि ताप का कारण ज्वर न होकर स्मर है। यदि यह कहा जाता है कि यहा ज्वर की तापकारिता का निषेध करके उस पर स्मर की तापकारिता का आरोप किया गया है तो भी उचित नही। यह तो तब सम्भव है जब तापकारिता वस्तुत ज्वर की हो परन्तु उसका उत्कर्ष दिखाने के लिए उसका निषेध करके अन्य वस्तु की तापकारिता का उस पर आरोप किया जाए। यहा तापकारिता का कारण ज्वर है ही नही, अत ज्वर की तापकारिता पर अन्य वस्तु की तापकारिता का आरोप सम्भव नही। वस्तुत उपर्युक्त उदाहरण मे सखी की भ्रान्ति ही चमत्कार का कारण है।

छेकापह्नुति की अप्पयदीक्षित की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है—

"छेकापह्नुतिरन्यस्य शकातस्तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन्मत्पदे लग्न कान्त किं? न हि नूपुर ॥"

—कुवलयानन्द ११। ३०

यहा भी अपह्नुति के तत्त्व विद्यमान नही। अपह्नुति मे जब यह कहा जाता है कि यह मुख नही अपितु चन्द्रमा है तब वक्ता का यह तात्पर्य नही होता कि श्रोता इसे मुख न समझकर चन्द्रमा समझने लगे, परन्तु उपर्युक्त उदाहरण मे नायिका का इन शब्दो के प्रयोग द्वारा यही उद्देश्य है कि सुनने वाली स्त्री को वस्तुत भ्रान्ति हो जाए। उपर्युक्त उदाहरण मे वस्तुत व्याजोक्ति की परिभाषा 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्'[1] पूर्णत चरितार्थ होती है। अत इसे व्याजोक्ति के अन्तर्गत रखना उचित होगा। अपनी चित्रमीमासा मे अप्पयदीक्षित ने यह बात स्वय उद्धृत की है।[2]

---

१. काव्यप्रकाश सू० १८४

२ "ये तु उद्भिन्नवस्तुनिगूहन व्याजोक्तिरिति व्याजोक्त्यलकारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादय॰ ।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ८५

आलकारिको ने अपहनुति का अनेक प्रकार से विभाजन किया है। इम विभाजन के आधार निम्नलिखित तत्त्व है —

आरोप एव अपह्नव मे से किसी एक का पहिले आना अथवा दोनो का साथ आना, वाक्यभेद अथवा वाक्याभेद, अपह्नवमूचक शब्दो का स्वरूप।

प्रथम आधार के अनुसार रुय्यक ने अपह्नुति के तीन प्रकार बताए हे– अपह्नव आरोप से पूर्व होगा अथवा आरोप के वाद मे होगा अथवा दोनो एक साथ होगे। दोनो के एक साथ होने की दशा मे छलादि शब्दो का प्रयोग होगा।[1]

अप्पयदीक्षित ने छलादि के प्रयोग द्वारा उत्पन्न अपह्नुति को कैतवापह्नुति कहा है।[2]

अपह्नवपूर्वक आरोप तथा आरोपपूर्वक अपह्नव मे वाक्यभेद होता है तथा छलादि के प्रयोग वाली अपह्नुति मे एक वाक्य होता है।[3]

अपह्नवसूचक शब्द तीन प्रकार के माने गए है—अपह्नव के साक्षात् निर्देशक न आदि, कपटार्थक छलादि, परिणामार्थक वपु आदि।[4]

इन आधारो पर अपह्नुति के विभाजन मे कोई चमत्कार नही होता

---

१ "तस्य च त्रयी बन्धच्छाया.–अपह्नवपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वकोऽपह्नव., छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देश ।" — सर्वस्व पृष्ठ ४६

२ "कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदै ।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् ॥" —कुवलयानन्द ११।३१

३ "पूर्वभेदद्वये वाक्यभेद । तृतीयभेदे त्वेकवाक्यत्वम् ।"—सर्वस्व पृष्ठ ४६

४ "अपह्नुतिश्च द्विविधा शाब्दी चार्थी चेति । शाब्दीत्यस्य शब्देन यत्रासत्यत्वमाह सेत्यर्थ. । आर्थीत्यस्य आक्षेपलभ्येत्यर्थः । आर्थी तु बहुभिर्भंगीभिर्निबध्यते । तथा हि क्वचित्कपटार्थकशब्दोपादानात् क्वचित्परिणामार्थकशब्दोपादानात् क्वचिच्चान्यथेति ।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६०७

और न ही इन भेदो का सादृश्य से कोई सम्बन्ध है। अत इन आधारो पर अपह्नुति का विभाजन उचित नही। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने उपमा तथा रूपक के समान अपह्नुति के निरवयवा, सावयवा आदि भेद भी किए है।[2]

१. "एवमनेके प्रकाराः सम्भवन्ति। परं तु न ते वैचित्र्यविशेषमावहन्तीत्यगणनीयाः।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ३६७

२. "इयं चानुग्राह्यानुग्राहकभावापन्नावयवकसघातात्मकतया सावयवा। निरवयवेय यथा· · · ।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ३६६

निश्चयालंकार का भ्रान्तिमान् में अन्तर्भाव

विश्वनाथ ने 'अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना' के आधार पर निश्चय नामक एक भिन्न अलङ्कार माना है:—

" 'अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापन निश्चय पुन ।'

यथा—

वदनमिद न सरोज नयने नेन्दीवरे एते ।

इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुदा कि परिभ्रमसि ।।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३८

इस श्लोक मे चमत्कार के हेतु पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहा भ्रमर को मुख आदि मे कमल आदि की भ्रान्ति ही चमत्कार का कारण है। अत इसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार का उदाहरण कहना उचित होगा। यह तो विश्वनाथ भी मानते है कि यहा भ्रमर को मुख आदि मे कमल आदि की भ्रान्ति हुई है, परन्तु फिर भी वे इसे भ्रान्तिमान् का उदाहरण नही मानते। वे लिखते है —

'अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्ति'। न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्। अपितु तथाविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसवेद्यम् । कि चाविवक्षितेऽपि भ्रमरादे. पतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाटुवादिरूपेणैव सम्भवति तथाविधोक्ति ।'

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३८

इससे स्पष्ट है कि विश्वनाथ 'तथाविध उक्ति' को चमत्कार का कारण मानते है और नायिका की चाटुकारिता को इस उक्ति का स्वरूप मानते है। विश्वनाथ की इस बात से हमारा विरोध नही, परन्तु इससे इस अलङ्कार की भ्रान्तिमान् से पृथक्ता सिद्ध हो जाए ऐसी बात नही। प्रश्न उठता है कि इस चाटुकारितायुक्त उक्ति का क्या स्वरूप है। इसका उत्तर यही होगा कि यह उक्ति मुख मे भ्रमरो की भ्रान्ति बताने के रूप मे है। नायक चाहे यह कहे कि हे भ्रमर ! यह कमल नही अपितु मुख है अथवा यह कहे कि भ्रमर को मुख मे कमल की भ्रान्ति हो रही है, मुख के सौन्दर्यवर्णन की

दृष्टि से दोनो मे कोई अन्तर नही। यह कहना भी उचित नही कि यहां भ्रमर की भ्रान्ति विवक्षित नही अत यह भ्रान्तिमान् अलकार नही। भ्रमर आदि की भ्रान्ति विवक्षित हो अथवा न हो पाठक को नायिका के सौन्दर्य का ज्ञान भ्रमर की इसी भ्रान्ति के वर्णन से होता है।

उत्प्रेक्षा

उपमादि मे सादृश्य के आधार पर जिन वस्तुओ को समीप लाया जाता है उनके अधिकरण की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इन पृथक् अधिकरणो मे विद्यमान रहते हुए ही ये वस्तुए गुणसाम्य के आधार पर समीप लाई जाती है। उत्प्रेक्षा मे इसके विपरीत केवल एक अधिकरण की प्रतीति होती है। इस एक अधिकरण मे एक प्रतीति अन्य प्रतीति का स्थान ले रही प्रतीत होती है। यदि मुख कवि का प्रतिपाद्य विषय है तो उसके अधिकरण मे कमल की प्रतीति मुख की प्रतीति का स्थान ले रही होती है। इस प्रकार कमल के द्वारा मुख का निगरण हो रहा होता है। यही मुख की कमल मे सम्भावना है।

"बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभु पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागताना नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ३५

यहां पलाशो की सम्भावना वसन्तकृत वनस्थली के नखक्षतो मे की गई है। इस सम्भावना मे नखक्षतो के अस्तित्व की पृथक् प्रतीति हो और तब सादृश्य के आधार पर पलाशो की इनमे सम्भावना प्रतीत हो ऐसी बात नही, परन्तु नखक्षतो का अस्तित्व पलाशो के रूप मे ही प्रतीत होता है। ये पलाश ही नखक्षतो का रूप धारण कर रहे प्रतीत होते है। पलाशो का अस्तित्व एक प्रकार से विलीन होकर नखक्षतो का रूप धारण कर रहा होता है।

नखक्षतो की प्रतीति अन्यत्र कही न होकर सीधे पलाशो के अधिकरण मे ही क्यो होती है, इसका कारण है वसन्तादि शब्दो का नखक्षतो के साथ विशेषण के रूप मे जुडना। इन विशेषणो के कारण निर्दिष्ट नखक्षत इसी रूप मे सम्भव है। यदि इन विशेषणो का प्रयोग न होता तो नखक्षतो की प्रतीति पृथक् रूप से भी सम्भव थी और इन पृथक् प्रतीत होने वाले नखक्षतो के साथ पलाशो का सादृश्य होता, परन्तु यहा ऐसी बात नही।[1]

---

१ "उपमाया यत्र क्वचित्स्थितैरपि नखक्षतै सह वक्तु शक्यतया वसन्तनायकसमागतवनस्थलीसम्बन्धित्वस्य विशेषणस्यानपेक्षितत्वादिह तदुपादान पलाशकुसुमाना नखक्षततादात्म्यसम्भावनायामिवशब्दमवस्थापयति।"— कुवलयानन्द पृष्ठ ३६,३७

कतिपय आलकारिको के अनुसार उत्प्रेक्षा के लिए इतना पर्याप्त है कि उसमे उपमान कविकल्पित हो। विश्वेश्वर, चक्रवर्ती आदि का यही मत है।[1] यह मत समीचीन नही। उत्प्रेक्षा का आवश्यक अग सम्भावना है। अत उपमान के कविकल्पित होते हुए भी यदि उपमेय की उसमें सम्भावना नही होती है तो वह उत्प्रेक्षा का उदाहरण नही हो सकता।

"स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलक ।
शशाकबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरग ।" —रसगगाधर पृ० २०६

यहा शशाकबिम्ब से मेरु पर लटकता हुआ सर्प कविकल्पित अवश्य है परन्तु इसकी कल्पना 'अलक' के अधिकरण मे न होकर पृथक् रूप से होती है। यहा कपोल से स्तन पर गिरता हुआ अलक इस प्रकार के सर्प का रूप धारण करता हुआ प्रतीत हो ऐसी बात नही। अतः यह उत्प्रेक्षा का उदाहरण नही।

उत्प्रेक्षा मे एक ही अधिकरण मे जिस उपमेय तथा उपमान की प्रतीति होती है उनमे उपमान की प्रतीति उत्कट होती है। उत्प्रेक्षा के शब्दार्थ से भी यह स्पष्ट है। उत्प्रेक्षा का अर्थ 'उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्येक्षा है'[2]। निम्नलिखित उक्ति भी उत्प्रेक्षा मे उपमान की उत्कटता सिद्ध करती है —

"सम्भावन चोत्कटकोटिक सन्देह। यस्मिन् सशये कोटिद्वय-मध्ये एकस्या कोटे उत्कटत्व (निश्चितप्रायत्वम्) स एव सशय सम्भावन-मित्युच्यते।" —बालबोधिनी पृ० ५८४

यहा सम्भावना मे एक कोटि की उत्कटता कहना तो ठीक ही है, परन्तु सम्भावना को सन्देह का प्रकार कहना उचित नही। सन्देह अयथार्थ

---

१. "यत्र तूपमानतावच्छेदकविशिष्टमुपमानमप्रसिद्धम्, तत्रोत्प्रेक्षैव। तदुक्त चक्रवर्तिना"—

'यदायमुपमानाशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।
तदोपमैव येनेवशब्द सादृश्यवाचक ॥
यदा पुनरयं लोकादसिद्ध कविकल्पित।
तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्द सभावनापर ॥'

२. बालबोधिनी पृ० ५८४

ज्ञान के अन्तर्गत आता है तथा सम्भावना यथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आती है। सम्भावना मे उपमान की उत्कट प्रतीति सदा आहार्य होती है। उस प्रतीति से सम्बद्ध व्यक्ति उसके अनुसार आचरण नही करता। सन्देह मे उपमान की प्रतीति अनाहार्य भी हो सकती है। अत सन्देह तथा सम्भावना मे अन्तर है।

रुय्यक ने उपमेय की उपमान मे इस सम्भावना को अध्यवसाय की साध्यावस्था कहा है। इस अवस्था मे उपमेय उपमान मे पूर्णत परिणत नही होता परन्तु परिणत हो रहा होता है। इस प्रकार यहा उपमेय के उपमान मे परिणत होने की प्रक्रिया चल रही होती है। इस बात को लक्ष्य करके रुय्यक ने अपनी उत्प्रेक्षा की परिभाषा मे 'व्यापारप्राधान्य' शब्द का सन्निवेश किया है —

"अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा।" —सर्वस्व सू० २१

अध्यवसाय के लिए यह आवश्यक नही कि उपमेय का पूर्ण निगरण हो जाए और उसकी सर्वथा प्रतीति न हो। ऐसा तो केवल अध्यवसाय की सिद्धावस्था मे होता है। साध्यावस्था मे ऐसी बात नही। साध्यावस्था मे उपमेय निगीर्यमाण होता है। अत उसकी प्रतीति सम्भव है। यही कारण है कि उत्प्रेक्षा मे विषयोपादान का निषेध नही।

जगन्नाथ ने रुय्यक के इस मत की आलोचना की है —

"किं च 'नूनं मुखं चन्द्र' इत्यादौ कुत्राध्यवसाय, विषयस्य जागरूकत्वात्। न च सिद्धेऽध्यवसाये विषयस्य जठरवर्तित्वम्, साध्ये तु निगीर्यमाणत्वात्पृथगुपलब्धिरिति वाच्यम्, साध्याध्यवसाने मानाभावात्। अन्यथा रूपकादेरप्यध्यवसानगर्भत्वापत्ते।" —रसगगाधर पृ० ४००

जगन्नाथ का यह मत उचित नही। उत्प्रेक्षा मे विषय के निर्देशमात्र से यह नही कहा जा सकता कि वहा अध्यवसाय की प्रक्रिया नही। विषयोपादान की अवस्था मे भी अध्यवसाय सम्भव है। आवश्यकता केवल इतने की है कि विषय का अधःकरण होना चाहिए।[1]

---

१. 'विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते॥" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४६

जगन्नाथ का यह कथन कि उत्प्रेक्षा मे अध्यवसाय मानने से रूपक मे भी अध्यवसाय मानना पडेगा उचित नही। रूपक मे दो वस्तुओ के अस्तित्व की पृथक् प्रतीति होती है और तब उनमे गुणो के आधार पर ताद्रूप्य स्थापित किया जाता है। मुख को जब कमल कहा जाता है तो पृथक् रूप से प्रतीत कमल से मुख के ताद्रूप्य के आधार पर ऐसा कहा जाता है। यह नही कि मुख निगीर्ण होकर कमल का रूप धारण करे। यदि रूपक मे अध्यवसाय माना जाता है तो प्रतीति केवल कमल की होनी चाहिए। रूपक मे मुख को स्पष्टत कमल कहा जाता है। अत यदि यहा निगरणप्रक्रिया हो तो मुख की सत्ता कमल मे विलीन हो जानी चाहिए और मुख की प्रतीति न होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नही होता। उत्प्रेक्षा मे उपमेय की उपमान मे केवल सम्भावना की जाती है, अत निगरण-प्रक्रिया के होते हुए भी वहा उपमेय की प्रतीति सम्भव है।

उत्प्रेक्षा मे दोनो प्रतीतियो का आश्रय केवल एक होता है। उस आश्रय मे एक प्रतीति निगीर्ण होकर अन्य को स्थान दे रही होती है। 'बालेन्दुवक्राणि ' उदाहरण से यह स्पष्ट है। यहा उसी आश्रय मे पलाशो की प्रतीति नखक्षतो की प्रतीति मे परिणत हो रही होती है। रूपक मे इसके विपरीत मुख तथा कमल की प्रतीति के आश्रय पृथक् होते है। रूपक मे मुख मे कमल की जो प्रतीति होती है वह पृथक् अस्तित्व की प्रतीति वाले कमल के साथ मुख के ताद्रूप्य के फलस्वरूप होती है। मुख स्वय निगीर्ण होकर कमल का रूप धारण नही करता।

उत्प्रेक्षा मे विषय की विषयी मे सम्भावना के लिए विषय का उपादान आवश्यक है अथवा नही इस विषय को लेकर आलंकारिको मे मतभेद है। रुय्यक के अनुसार विषय का उपादान आवश्यक है।[1] मम्मट, विश्वनाथ आदि के अनुसार इसका उपादान आवश्यक नही। विषयानुपादान की अवस्था मे भी उत्प्रेक्षा सम्भव है।[2] उत्प्रेक्षा मे अध्यवसाय

---

१. "न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्। तस्योत्प्रेक्षाधारत्वेन प्रस्तुतस्याभिधातुमुचितत्वात्।" —सर्वस्व पृष्ठ ६५

२. प्राचीनों के मत को उद्धृत करते हुए जगन्नाथ लिखते हैं:—
"उत्प्रेक्षायाश्च साध्यवसानत्वाद्विषयस्यानुपादानं संगच्छते।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ३६०

होता है। विषयानुपादान इस अध्यवसाय के विपरीत न होकर इसके अनुकूल होना है।

अपने इन मतो के आधार पर आलकारिको ने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाजन नभ' इस श्लोक मे उत्प्रेक्षा की विभिन्न प्रकार से व्याख्याए की हे।

रुय्यक के अनुसार यहा तमस् विषय है, लेपनकर्तृत्व विषयी है तथा तमोव्यापन निमित्त है।[1] मम्मटादि के अनुसार यहा तमोव्यापन विषय है तथा लेपन विषयी है।[2]

इन दोनो मतो पर विचार करने से प्रतीत होगा कि मम्मट आदि का मत उचित है। उपर्युक्त उदाहरण मे कवि का वर्ण्य विषय अन्धकार का प्रसार है। कवि की दृष्टि के सामने अन्धकार की एक विशेष अवस्था है। यह उसकी प्रसृत अवस्था है। अत अन्धकार की यह अवस्था ही कवि के सामने आती है और इसमे वह लेपन की सम्भावना करता है।

सम्भावना के लिए सादृश्य की आवश्यकता होती है। यहा यह सादृश्य विद्यमान है। यह 'सकलवस्तुसान्द्रमलिनीकरण'[3] के रूप मे है। यह मलिनीकरण तम प्रसार तथा लेपन दोनो मे विद्यमान है।

यह कहना कि यहा तमोव्यापन का निर्देश नही, अत उसकी लेपन मे सम्भावना नही हो सकती उचित नही। यहा निर्देश केवल तमस् का अवश्य है परन्तु उसका 'लिम्पति' क्रिया से सम्बन्ध जोडा गया है। अत प्रतीति केवल तमस् की न होकर तमोव्यापार की होती है। 'अन्धकार मानो लीप रहा है' इस वाक्य से प्रतीति यह होती है कि अन्धकार जो कार्य कर रहा है वह मानो लेपन है।

---

१. "अत्र लेपनवर्षणक्रिये तमोनभोगतत्वेनोत्प्रेक्ष्येते।" —सर्वस्व पृष्ठ ५६

२ "इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५८७

३ "तमोव्यापनस्य नभःप्रभृतिभूपर्यन्तसकलवस्तुसान्द्रमलिनीकरणेन निमित्तेन तमःकर्तृकलेपनतादात्म्योत्प्रेक्षा।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ३३

तमस् की लेपनकर्तृत्व मे सम्भावना मानने के लिए भी यह आवश्यक है कि तमस् के व्यापार की लेपनव्यापार मे सम्भावना हो। जब तक इन दोनो व्यापारो मे सादृश्य की प्रतीति नही होगी तब तक इनके कर्ताओ मे सादृश्य सम्भव नही और फलत उनमे से एक की अन्य मे सम्भावना सम्भव नही। अत तमस् की लेपन कर्तृत्व मे सम्भावना मानने की अपेक्षा तमोव्यापन की लेपन मे सम्भावना मानना उचित है।

विषय की विषयी मे सम्भावना सदा अभेदससर्ग के द्वारा होती है अथवा उनमे और कोई भी सम्बन्ध सम्भव है इस विषय को लेकर आलङ्कारिको मे मतभेद है। प्राचीन आलङ्कारिक प्रथम मत के पक्ष मे है तथा नव्य आलङ्कारिक द्वितीय मत के पक्ष मे है। प्राचीन आलङ्कारिको के अनुसार एक धर्मी की अन्य धर्मी मे सम्भावना हो सकती है अथवा एक धर्म की अन्य धर्म मे सम्भावना हो सकती है क्योकि दोनो मे अभेद ससर्ग सम्भव है। इनके अनुसार धर्म की धर्मी मे सम्भावना सम्भव नही क्योकि इन दोनो मे समवाय आदि सम्बन्ध हो सकता है, अभेदसम्बन्ध नही हो सकता। नव्य आलङ्कारिको के अनुसार एक धर्म की धर्मी मे भी सम्भावना हो सकती है। जब एक धर्मी की अन्य धर्मी मे सम्भावना होती है तब उसे धर्म्युत्प्रेक्षा कहते है और जब धर्म की धर्मी मे उत्प्रेक्षा होती है तब उसे ये धर्मोत्प्रेक्षा कहते है। रसगगाधरकार ने इन मतो का उल्लेख किया है।[1]

"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वा भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदु खादिव बद्धमौनम्॥" रघुवश

द्वितीय मत के अनुसार यहा मौन के हेतु के रूप मे विश्लेष दु ख की उत्प्रेक्षा नूपुर मे की गई है।[2] नूपुर नि शब्द है। उसका नि शब्दत्व ही

१. "अत्र च प्राचामर्वाचा चानेकधा दर्शनं व्यवस्थितम्। तत्र प्राचामित्थम्-सर्वत्राभेदेनैव विषयिणो विषये उत्प्रेक्षणम्, न सबधान्तरेण। ... तत्र विचार्यते-न सर्वत्राभेदेनैवोत्प्रेक्षणम् इति नियमे किञ्चिदस्ति प्रमाणम्, लक्ष्येषु भेदेनाप्युत्प्रेक्षणस्य दर्शनात्।" —रसगगाधर पृष्ठ ३६०—३६३

२. "अत्रापि मौनहेतुत्वेन नूपुरे विश्लेषदुःखमुत्प्रेक्ष्यते। तत्र निश्चलत्वनिमित्तक-नि.शब्दत्वाध्यवसितं मौनं निमित्तम्, विश्लेषदु.खसमानाधिकरणत्वे सति नूपुर-वृत्तित्वात्।" —रसगंगाधर पृष्ठ ३६८

उसका मौन है। मौन का कारण कवि को विश्लेपदु ख प्रतीत होता है। अत वह कहता है कि नूपुर मानो विश्लेपदु ख के कारण मौन है । इस प्रकार विश्लेपदु ख उसे मौन के हेतु के रूप मे नूपुर मे प्रतीत होता है। विश्लेपदु ख नूपुर का धर्म है। अत· उनमे अभेदसंसर्ग न होकर समवाय-सम्बन्ध है।

प्रथम मत के अनुसार यहा निश्चलता से उत्पन्न मौन की सम्भावना दुःख से उत्पन्न मौन मे की गई है। नूपुर नि शब्द है। उसका यह नि शब्दत्व ही उसका मौन है। यह मौन निश्चलता से उत्पन्न हुआ है। कवि यह सम्भावना करता है कि यह मौन दु ख से उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार निश्चलत्वनिमित्तक मौन की वह दु खहेतुक मौन मे सम्भावना करता है। इन दोनो मे तादात्म्य सम्बन्ध है। अत यहा अभेद-समर्ग है। अप्पय-दीक्षित का यही मत है।[1]

इन मतो की समीक्षा करने पर प्रतीत होगा कि द्वितीय मत उचित नही । इस मत के अनुसार विश्लेषदु ख की सम्भावना नूपुर मे की गई है। यह युक्तिसगत नही। सम्भावना एक वस्तु की अन्य वस्तु मे की जाती है और यह दोनो के सादृश्य के आधार पर होती है। उपमा मे जिम प्रकार एक वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य होता है तथा रूपक मे एक वस्तु का अन्य वस्तु से ताद्रूप्य होता है ठीक उसी प्रकार उत्प्रेक्षा मे एक वस्तु की अन्य वस्तु मे सम्भावना होती है। उपमा मे मुख कमल के ममान होता है, रूपक मे वह कमल के तद्रूप होता है तथा उत्प्रेक्षा मे वह मानो कमल होता है, परन्तु उपर्युक्त उदाहरण मे विश्लेषदु ख मानो नूपुर नही होता। हम केवल इतना कह सकते हैं कि विश्लेषदु ख मानो नूपुर मे है। परन्तु इतना कहने से विश्लेष-दु ख की सम्भावना नूपुर मे नही हो सकती । यदि इतने से

---

१ " 'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्, भ्रोलस्य यद्भीतिपलायितस्य' इत्यादिहेतुफलोत्प्रेक्षोदाहरणयोस्तावद्विश्लेषदु·खललाटाक्षरदर्शनादिधर्मो हेतुतया फलतया वा नोत्प्रेक्ष्यते। किं तु नूपुरयुगादिधमिक यन्निश्चलत्वकण्टकसश्लेषादि-निमित्तकं मौनव्यापाटनादिक तदेव दु·खहेतुकमौनललाटाक्षरदर्शनार्थव्यापा-टनादितादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते।"

—चित्रमीमासा पृष्ठ ६३

विश्लेपदुःख की सम्भावना नूपुर मे मानी जाती है तो कमल के सौन्दर्य का सद्भाव मुख मे देखकर हमे कहना चाहिए कि मुख सौन्दर्य के समान है । परन्तु यह उचित नही । अत हम कहते है कि मुख कमल के समान सुन्दर है । विश्लेषदु ख एक धर्म है । इसकी प्रतीति हमे नूपुर के धर्म के रूप मे इसलिए होती है क्योकि हम नूपुर के वास्तविक धर्म की इस धर्म मे सम्भावना करते है । जब तक नूपुर के वास्तविक धर्म की अन्य धर्म मे सम्भावना नही होती तब तक उस अन्य धर्म की प्रतीति नूपुर मे नही हो सकती ।

प्रथम मत अवश्य उचित है परन्तु इसके आधार पर उपर्युक्त श्लोक मे किया गया उत्प्रेक्षाविवेचन उचित नही । यहा निश्चलत्वनिमित्तक मौन की सम्भावना दु खहेतुक मौन मे मानी गई है । यह उचित नही । सम्भावना एक वस्तु की अन्य वस्तु मे हुआ करती है । अत मौन की सम्भावना मौन मे नही हो सकती । यह कहना उचित नही कि दोनो मौन भिन्न हे अत उनमे से एक की सम्भावना अन्य मे हो सकती है । हमे प्रतीति एक ही मौन की होती है दो की नही । यह बात प्रथम मत के समर्थको ने भी स्वीकार की है.—

"अवश्यं च द्विविधस्यापि मौनादेस्तादात्म्येनाध्यवसाय आस्थेय ।"

अत मौन मे उत्प्रेक्षा न होकर अतिशयोक्ति है । नूपुर का नि शब्दत्व मौन के द्वारा यहा निगीर्ण हो गया है । इस प्रकार यहा अध्यवसाय साध्य न होकर सिद्ध है । अत यह अतिशयोक्ति का विषय है ।

दूसरे 'इव' का प्रयोग मौन के साथ न होकर विश्लेपदु ख के साथ है । उत्प्रेक्षा मे इव का प्रयोग जिस शब्द के बाद होता है वही उत्प्रेक्ष्य होता है ।[1]

इसके अतिरिक्त मौन मे सम्भावना मानने से हमे अन्य निमित्त ढूढना पडेगा । मौन यहा निमित्त हो नही सकता क्योकि वह तो यहा विषय बन गया है । यह कहना कि एककालप्रभवत्व निमित्त बन जाएगा उचित नही । यह अवश्य है कि निश्चलताजन्य नि शब्दत्व

१. "उत्प्रेक्षायामिवशब्दान्वितस्योत्प्रेक्ष्यताया उत्सर्गसिद्धत्वात् ।"

—रसगगाधर पृष्ठ ३६८

अथवा मौन तथा विश्लेषदु खजन्य मौन एक समय मे उत्पन्न होते है । इस प्रकार एककालप्रभवत्व उनमे साधारणधर्म है । परन्तु यह साधारणधर्म चमत्कारयुक्त नही, अत यह सम्भावना का निमित्त नही हो सकता । उपमादि मे भी सादृश्य के लिए चत्मकारी धर्म की आवश्यकता होती है । यही बात उत्प्रेक्षा पर लागू होती है ।[1]

अत नि शब्दत्व अथवा मौन की सम्भावना मौन मे न मानकर निश्चलता हेतु की सम्भावना विश्लेषदु ख हेतु मे मानना उचित होगा । नूपुर के मौन का कारण निश्चलता है। यह निश्चलता उसमे सीता के चरणो से अलग होने के कारण आई है । अत सीता के चरणो से असम्बन्ध को भी हम नूपुर के मौन का कारण कह सकते है । कवि उत्प्रेक्षा करता है कि इस मौन का कारण विश्लेषदु ख है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त भी विद्यमान है । यह निमित्त मौन है। नि शब्दत्व अथवा मौन निश्चलता तथा विश्लेषदु ख मे समान रूप से विद्यमान है । दूसरे इस प्रकार की उत्प्रेक्षा कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। कवि जड नूपुर को चेतन प्राणी के रूप मे देखता है। जड नूपुर मे चरणविश्लेष अथवा निश्चलता हो सकती है, चरणविश्लेष की अनुभूति नही हो सकती परन्तु नूपुर को चेतन समझने के कारण कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह चरणविश्लेष मानो उसकी चरणविश्लेष की अनुभूति है। अतः वह उत्प्रेक्षा करता है कि चरणविश्लेष मानो चरणविश्लेष दु ख है ।

चरणविश्लेष अथवा निश्चलता की सम्भावना विश्लेषदु ख मे मानने से वे दोष भी उत्पन्न नही होते जो निश्चलताजन्य मौन की सम्भावना विश्लेषदु खजन्य मौन मे मानने से उत्पन्न होते है । यह कहना भी उचित नही कि चरणविश्लेष अथवा निश्चलता का यहा पृथक् निर्देश न होने के कारण उनका विश्लेषदु ख के द्वारा निगरण मानना उचित होगा, अतः उनकी अन्यत्र सम्भावना सम्भव नही । चरणविश्लेष का यहां पृथक् निर्देश अवश्य नही, परन्तु उसकी विषय के रूप मे प्रतीति न हो ऐसी बात नही । इस प्रतीति का

१. "यद्यप्येककालप्रभवत्वादिरस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम् । तथापि तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वात् ।"—रसगगाधर पृष्ठ ३६८

कारण है विश्लेषदु ख मे सम्भावना की प्रतीति। सम्भावना जिस वस्तु मे होती है उसकी प्रतीति मे उस वस्तु की प्रतीति भी जुडी रहती है जो सम्भावना का विषय होती है। प्रस्तुत उदाहरण मे सम्भावना सूचक 'इव' शब्द का स्पष्ट निर्देश है। अत हमे उस उत्प्रेक्ष्य वस्तु का सीधे ही ज्ञान हो जाएगा जिसके साथ इव शब्द संयुक्त है और इसका उत्प्रेक्ष्य वस्तु के रूप मे ज्ञान होने के कारण उस विण्य की भी प्रतीति साथ मे होती रहेगी जिसकी सम्भावना इम उत्प्रेक्ष्य वस्तु मे की गई है।

जहां सम्भावनासूचक इवादि शब्दो का निर्देश नही होता वहा भी उत्प्रेक्षा सम्भव है। इस उत्प्रेक्षा को गम्योत्प्रेक्षा[1] कहते है। प्रस्तुत उदाहरण मे यदि इव शब्द को उडा दे तो यह गम्योत्प्रेक्षा हो जाएगी।

प्रश्न उठ सकता है कि प्रस्तुत उदाहरण मे इव का लोप कर देने पर उत्प्रेक्षा मानने का क्या आधार है। उस दशा मे तो हम सीधा यह कह सकते है कि नूपुर विश्लेषदु'ख के कारण मौन है। मानो विश्लेषदु ख के कारण मौन है ऐसा अर्थ करके उत्प्रेक्षा मानने की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर यह है कि नूपुर जड वस्तु है। उसमे विश्लेषदु ख की अनुभूति सम्भव नही। अत हमे यही अर्थ करना होगा कि नूपुर मानो विश्लेषदु ख के कारण मौन है। इसी तर्क को आधार मानकर आलङ्कारिको ने 'तन्वग्या स्तनयुग्मेन मुख न प्रकटीकृतम्। हाराय गुणिने स्थान न दत्तमिति लज्जया' इस उदाहरण मे गम्योत्प्रेक्षा स्वीकार की है।[2]

प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसी बात है तो मौन मे भी उत्प्रेक्षा माननी चाहिए। नूपुर मे मौन सम्भव नही, अत नि-शब्दत्व की मौन मे सम्भावना मानना उचित होगा।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है —

यहा मौन की अनुभूति का सम्बन्ध केवल कवि से है नूपुर से नही। नूपुर मे मौन इसीलिए बताया गया है क्योकि कवि नूपुर के नि शब्दत्व को

---

१. "प्रतीयमानाया पुनरिवाद्यप्रयोगः" —सर्वस्व पृष्ठ ५५

२ "इह तु स्तनयोर्लज्जाया असम्भवाल्लज्जयेवेत्युत्प्रेक्ष्यैवेति।" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४१

मौन के रूप मे देखता है और वैसा अनुभव करता है। नूपुर को मौन की अनुभूति हो और वह उसके अनुसार चेष्टा करे ऐसी बात नही। इसके विपरीत विश्लेषदु ख की अनुभूति का सम्बन्ध स्वय नूपुर से दिखाया गया है और वह उसके परिणामस्वरूप मौन बताया गया है। अत सम्भावना केवल विश्लेषदु ख मे मानना उचित होगा मौन मे मानना उचित न होगा।

रुय्यक, विश्वनाथ आदि अर्वाचीन आलङ्कारिको ने उत्प्रेक्षा के अनेको भेदोपभेद किए है। इन भेदो के आधार निम्नलिखित है —

उत्प्रेक्षावाचक शब्द का उपादान अथवा अनुपादान, उत्प्रेक्ष्य वस्तु का जाति गुण क्रिया तथा द्रव्य मे से किसी एक प्रकार का होना, उत्प्रेक्ष्य वस्तु का भावस्वरूप अथवा अभावस्वरूप होना, उत्प्रेक्षानिमित्त का गुण अथवा क्रिया के रूप मे होना,[1] उत्प्रेक्ष्य वस्तु का स्वरूप, हेतु तथा फल मे से किसी एक रूप मे होना[2], उत्प्रेक्षानिमित्त की उक्ति अथवा अनुक्ति,[3] प्रस्तुत की उक्ति अथवा अनुक्ति।

इन आधारो के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि द्रव्यादि, भावादि तथा स्वरूपादि के आधार पर उत्प्रेक्षाविभाजन उचित नही क्योकि इनका उत्प्रेक्षा मे विद्यमान सादृश्य से कोई सम्बन्ध नही। उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दो के उपादान अथवा अनुपादान, उत्प्रेक्षानिमित्त की उक्ति अथवा

---

१ भवेत्सभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथम द्विविधा मता॥ ४०
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुन ।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्य द्वयोरपि॥ ४१
तदष्टधा प्रत्येक भावाभावाभिमानत ।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ता ॥ ४२

साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद

२ "तत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु ये वाच्योत्प्रेक्षाया षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीना त्रयाणा ये द्वादशभेदास्तेषा प्रत्येक स्वरूपफलहेतुगम्यत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदा·।" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४१

३. उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगा। —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४२

४. उक्त्यनुक्त्यो· प्रत्येक ता अपि द्विधा। —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४३

अनुक्ति तथा प्रस्तुत की उक्ति एव अनुक्ति के आधार पर उत्प्रेक्षा का विभाजन किसी अश तक समीचीन कहा जा सकता है क्योकि इन आधारो का सादृश्य के तत्त्व उपमेय उपमान साधारणधर्म तथा वाचक मे से किसी एक के साथ सम्बन्ध है।

वाचक शब्द के उपादान अथवा अनुपादान के आधार पर उत्प्रेक्षा के वाच्योत्प्रेक्षा तथा व्यग्योत्प्रेक्षा नामक जो दो भेद किए गए है उनकी ओर सकेत उद्भट ने भी किया है।[1]

अप्पयदीक्षित ने उत्प्रेक्षा के इन भेदोपभेदो की सख्या घटाकर केवल छ तक सीमित कर दी है। इन्होने वस्तु हेतु तथा फल के आधार पर उत्प्रेक्षा के वस्तूत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा ये तीन भेद करके पुन उनमे से प्रत्येक के दो भेद किए हैं। वस्तूत्प्रेक्षा के उक्तविषया तथा अनुक्तविषया भेद है तथा हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा मे से प्रत्येक के सिद्ध-विषया तथा असिद्धविषया ये दो भेद है।[2]

---

१. साम्यरूपाविवक्षाया वाच्येवाद्यात्मभिः पदै ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ —काव्यालङ्कारसारसग्रह

२. सा च वस्तुहेतुफलात्मतागोचरत्वेन त्रिविधा। .... अत्र आद्या स्वरूपोत्प्रेक्षा उक्तविषया चेति द्विविधा। परे हेतुफलोत्प्रेक्षे सिद्धविषयाऽसिद्धविषया चेति प्रत्येकं द्विविधे। —कुवलयानन्द पृष्ठ ३३

उत्प्रेक्षावयव

भामह, भट्टि तथा वामन ने उत्प्रेक्षावयव नामक एक पृथक् अलङ्कार का निरूपण किया है —

"श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्त किञ्चिदुत्प्रेक्षान्वित ।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥" —भामहालङ्कार ३।४८

वामन ने इसे संसृष्टि के अन्तर्गत रखा है।

इस अलङ्कार का उत्प्रेक्षा से कोई विशेष भेद नहीं। अत इसका अन्तर्भाव उत्प्रेक्षा मे किया जा सकता है। भोज ने ऐसा ही किया है।[1]

---

१ उत्प्रेक्षावयवो यश्च या चोत्प्रेक्षोपमा मता।
मत चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षास्वरूपत ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।५१

अतिशयोक्ति

उत्प्रेक्षा मे विषय निगीर्यमाण होता है, अतिशयोक्ति मे वह सर्वथा निगीर्ण हो जाता है और केवल विषयी की प्रतीति होती है। 'चन्द्रोऽयम्' इस उदाहरण से यह स्पष्ट है। यहा मुख का सर्वथा निगरण हो गया है और केवल चन्द्र रह गया है। उत्प्रेक्षा मे निगरण की जो प्रक्रिया चल रही थी वह यहा आकर समाप्त हो जाती है और विषय का निगरण होकर केवल विषयी बच जाता है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा मे अध्यवसाय की जो प्रधानता थी वह यहा अध्यवसित की प्रधानता मे परिणत हो जाती है। यही बात रुय्यक ने कही है —

"अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्ति ।"[1] —सर्वस्व सू० २२

---

१ भामह, उद्भट, दण्डी आदि प्राचीन आलङ्कारिकों की परिभाषाए इनसे भिन्न हैं.—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥—भामहालङ्कार २।८१

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्ति स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ॥—काव्यादर्श २।२१४

इन परिभाषाओ के अनुसार लोकातिक्रान्तगोचरता अथवा अतिशय ही अतिशयोक्ति है। इन परिभाषाओ के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि ये परिभाषाए समीचीन नही। अतिशय तो एक ऐसा तत्त्व है जो समस्त अलङ्कारो के मूल मे है। अत इसे अतिशयोक्ति तक ही सीमित रखना उचित नही।

इसके उत्तर मे दण्डी कहते है कि यह अतिशयोक्ति सब अलङ्कारो के मूल मे है। अत सब अलङ्कारो मे इसके कारण अतिशय आ जाएगा —

अलङ्काराणामप्येकमाहु परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥—काव्यादर्श २।२२०

दण्डी का यह विचार युक्तियुक्त नहीं। यदि अतिशयोक्ति सब अलङ्कारों के मूल मे है तो उसे एक पृथक् अलङ्कार न मानना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि प्रतीति यदि केवल विषयी की होती है तो कवि तदनुसार कार्य क्यो नही करता। उपर्युक्त उदाहरण मे प्रतीति केवल चन्द्र की होती है। अत कवि को इस प्रतीति के अनुसार कार्य करना चाहिए। परन्तु ऐसा नही होता।

इसका उत्तर यह है कि यह प्रतीति आहार्य होती है।[1] भ्रान्तिमान के समान अनाहार्य नही होती। आहार्य प्रतीति कविकल्पनाजन्य होती है। कवि इसकी कल्पना अपनी इच्छा से करता है। कवि को मुख के स्थान पर चन्द्र की जो प्रतीति होती है उसका कारण यह नही कि वह मुख को वस्तुत चन्द्र समझता है परन्तु यह है कि सौन्दर्य गुण के कारण मुख का चन्द्र से अत्यधिक साम्य उसके सामने चन्द्र का चित्र उपस्थित कर देता है। यह कवि की केवल अनुभूति होती है और इसका वह आनन्द लेता है। यह अनुभूति उसकी व्यावहारिक क्रियाओ का कारण नही हो सकती। व्यावहारिक क्रियाओ के लिए तो व्यावहारिक ज्ञान ही चाहिए।

उपर्युक्त उदाहरण मे चन्द्रमा की प्रतीति के समय कवि को मुख का व्यावहारिक ज्ञान न हो ऐसी बात नही। उसे मुख का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहता है परन्तु काल्पनिक प्रतीति का वह अङ्ग नही बनता।

चन्द्रमा की काल्पनिक प्रतीति मे चन्द्रमा के समस्त सम्भव गुणो की प्रतीति नही होती, किन्तु केवल सौन्दर्य गुण ही अपने प्रतीक चन्द्रमा के रूप मे कवि के सम्मुख उपस्थित होता है। अत चन्द्रमा की प्रतीति कवि मे केवल उन्ही चेष्टाओ को उत्पन्न कर सकती है जो सौन्दर्यदर्शन की कार्य है। सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य कारणो की अपेक्षा रखने वाली चेष्टाए इस चन्द्रप्रतीति की कार्य नही हो सकती।

कतिपय आलङ्कारिको के अनुसार अतिशयोक्ति मे ज्ञान आहार्य न होकर अनाहार्य होता है। उद्योतकार तथा विश्वेश्वर आदि का यही मत है।[2]

---

१. "सारबोधिनीकारादयस्तु—अध्यवसानमप्रकृततादात्म्यारोप' स च भेद-प्रतिपत्त्यसहकृताहार्यनिश्चयरूप ।"—बालबोधिनी पृष्ठ ६२६

२ "' · सादृश्यातिशयमहिम्ना च बाधबुद्धे. स्थगनादेतन्मतेऽप्य-नाहार्यैव धीरिति दिक्' इत्युद्योते स्पष्टम् ॥"—बालबोधिनी पृष्ठ ६३०

"तत्र मुखादिपदाप्रयोगान्मुखत्वादिवैधर्म्यानुपस्थित्या अनाहार्याभेदबुद्धि ।"

अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २७७

यह मत समीचीन नही। 'चन्द्रोऽयम्' इस उदाहरण मे कवि को मुख का व्यावहारिक ज्ञान न रहे ऐसी बात नही। यहा केवल इतना होता है कि मुख का यह ज्ञान कविकल्पना का अङ्ग नही बनता। यदि मुख का किसी भी रूप मे ज्ञान न मान कर केवल चन्द्रमा का ज्ञान माना जाता है तो चन्द्रमा का यह ज्ञान वास्तविक होगा और कवि को तदनुसार कार्य करना चाहिए। परन्तु ऐसा नही होता। केवल मुख शब्द के अप्रयोग से यह नही कहा जा सकता कि कवि को चन्द्रमा का अनाहार्य अथवा वास्तविक ज्ञान होता है। चन्द्रमाप्रतीति की कल्पनास्थिति मे कवि को यह ज्ञान रहता ही है कि यह मुख ही हे जो चन्द्रमा के रूप मे उसके सामने उपस्थित है। अत 'मुख चन्द्रो न' इस प्रकार की जो बाधबुद्धि रूपक मे रहती है वह यहा भी विद्यमान है।

अतिशयोक्ति मे विषय के सर्वथा निगीर्ण हो जाने के कारण कवि की कल्पनास्थिति मे भेद की सर्वथा प्रतीति नही होती। इसीलिए सारबोधिनीकार ने अध्यवसाय को भेदप्रतीति से रहित आहार्य निश्चय कहा है।[1] भेदप्रतीति न होने के कारण हम इसे अभेद की अवस्था कह सकते हे। अभेदावस्था का इतना ही अर्थ है कि इसमे भेद की प्रतीति सर्वथा नही होती। इसका यह अर्थ नही कि कवि को इस स्थिति मे अभेदप्रतीति होती है। अभेदप्रतीति के लिए दो वस्तुओ की आवश्यकता है जिनमे अभेद प्रतीत हो। तरङ्ग तथा जल मे हमे अभेदप्रतीति होती है क्योकि यहा ये दो अभिन्न वस्तुए हमारे सम्मुख आती है। अतिशयोक्ति मे यह बात नही। यहा केवल विषयी की प्रतीति होती है। यदि विषयी के अतिरिक्त विषय की भी प्रतीति हो और विषयी से उसका अभेद दिखाई दे तब तो हम यहा अभेदप्रतीति मान सकते है अन्यथा नही। अत अतिशयोक्ति को अभेदप्रतीति की अवस्था न मानकर भेदाभाव की अवस्था मानना उचित होगा। जगन्नाथ की निम्नलिखित उक्ति इसका समर्थन करती है—

"विषयितावच्छेदकरूपेण विषयस्यैव भानादभेदससर्गस्याप्रसक्ते।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ४१२

अतिशयोक्ति मे यह भेदाभाव सर्वत्र विद्यमान रहता है। 'अपर.पाकशासन' इस उदाहरण मे भी यह विद्यमान है। अप्पयदीक्षित के अनुसार

---

१ "स च भेदप्रतिपत्त्यसहकृताहार्यनिश्चयरूपः।"—बालबोधिनी पृष्ठ ६२६

यहा अभेद न होकर ताद्रूप्य है।[1] दीक्षित का यह मत यथार्थ नही। यहा राजा का सर्वथा निगरण हो गया है और उसके स्थान पर केवल इन्द्र की प्रतीति होती है। 'यह दूसरा इन्द्र है इस प्रयोग से उसके इन्द्र के रूप मे प्रतीत होने मे कोई अन्तर नही आता। दूसरा इन्द्र बनने के लिए भी आवश्यक है कि वह पहले इन्द्र बने। यह कहना उचित नही कि वह प्रसिद्ध इन्द्र नही बना अपितु दूसरा इन्द्र बना है, अत प्रसिद्ध इन्द्र से उसकी भेद-प्रतीति स्वाभाविक है। यहा इन्द्र की प्रसिद्धि अथवा अप्रसिद्धि से तात्पर्य नही अपितु इन्द्रत्व से तात्पर्य है। इन्द्र यहा कुछ गुणो के प्रतीक के रूप मे व्यवहृत हुआ है और इस रूप मे इन्द्र की प्रतीति यहा राजा के स्थान पर होती है। यदि 'अपर' को भेद का कारण माना ही जाता है तो प्रश्न उठता है कि यह किस का किससे भेद बताएगा। राजा मे इन्द्र का भेद यह बता नही सकता क्योकि राजा का यहा निगरण हो गया है और केवल इन्द्र रह गया है तथा इन्द्र का इन्द्र से भेद सम्भव नही। अत 'अपर' शब्द का प्रयोग यहा इन्द्र से राजा के भेद का प्रयोजक नही परन्तु भूतल पर इन्द्र की कल्पना मे जो सम्भावित विघ्न है उसका निराकरण करने मात्र के लिए है।

आलङ्कारिको ने अतिशयोक्ति के अनेक भेद माने है। मम्मट के अनुसार इसके चार भेद होते है[2]—

---

१ "'अपर पाकशासन' इत्याद्यतिशयोक्तौ 'अपर इव पाकशासन' इत्याद्युत्प्रेक्षाया च रूपकवदेव प्रसिद्धचन्द्राद्यभेदप्रतिपत्त्यभावेन ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरेव स्यात्।"
—चित्रमीमासा पृष्ठ ५३

२ उद्भट ने भी इसके चार भेद किए है —

भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्व यत्र बध्यते।
तथा सम्भाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिगी ॥
कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात्।
आशुभाव समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥

—काव्यालङ्कारसारसग्रह २।१२,१३

ये भेद मम्मटकृत भेदों के आधार कहे जा सकते हैं। इसमें प्रथम दो भेद मम्मट के द्वितीय भेद के अन्तर्गत हैं तथा तृतीय एव चतुर्थ भेद मम्मट के तृतीय एव चतुर्थ भेदो से मिलते है।

निगीर्याध्यवसान तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्व यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्यय ।
विज्ञेया अतिशयोक्ति सा ॥ —काव्यप्रकाश सू० १५३

रुय्यक, विश्वनाथ आदि के अनुसार इसके पाच भेद होते है —

'भेदेऽप्यभेद सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ।
पौर्वापर्यात्यय कार्यहेत्वो सा पञ्चधा तत ॥"—साहित्यदर्पण १०।४६

उद्योतकार के अनुसार मम्मट की अतिशयोक्ति के तृतीय भेद 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' के दो भेद किए जा सकते है। इनमे प्रथम 'असम्बन्धे सम्बन्ध' तथा द्वितीय 'सम्बन्धेऽसम्बन्ध' है।[1] इस प्रकार मम्मट की अतिशयोक्ति के भी पाच भेद है।

दीक्षित ने अतिशयोक्ति के प्रथम भेद को रूपकातिशयोक्ति कहा है तथा रूपक से साम्य के आधार पर इसके दो भेद किए है —

अभेदातिशयोक्ति तथा ताद्रूप्यातिशयोक्ति ।[2]

दीक्षित का यह मत उचित नही। अतिशयोक्ति तथा रूपक मे अन्तर है। रूपक मे ताद्रूप्य होता है तथा अतिशयोक्ति मे अभेद होता है। अत ताद्रूप्यातिशयोक्ति नामक भेद उचित नही। अभेदातिशयोक्ति का भी केवल

---

१ उद्योतकारास्तु "पूर्वार्धे पूर्णेन्दौ कलङ्काभावस्यासम्बन्धे सम्बन्ध कल्पित, उत्तरार्धे साम्यसम्बन्धसम्भवेऽपि तदसम्बन्ध पराभवपदेन सूचित । एव चासम्बन्धे सम्बन्ध इति द्विविधेयम् । यद्यर्थोक्तावित्युपलक्षणम् उक्तप्रकारद्वयस्य ।"
—बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

२ "विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखन विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहण विषयनिगरण तत्पूर्वक विषयस्य विषयिरूपतयाऽध्यवसानमाहार्यनिश्चयस्तस्मिन् सति रूपकातिशयोक्ति ।"
—कुवलयानन्द पृष्ठ ३६

"अत्रातिशयोक्तौ रूपकविशेषण रूपके दर्शिताना विधानामिहापि सभवोऽस्तीत्यतिदेशेन प्रदर्शनार्थम् । तेनात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्य द्रष्टव्यम् ।"
—कुवलयानन्द पृष्ठ ४०

यही अर्थ लिया जा सकता है कि यहा भेद की कोई प्रतीति नही होती। यदि अभेदातिशयोक्ति का अर्थ अभेदप्रतीति लिया जाता है तो यह प्रकार भी सम्भव नही, क्योकि अतिशयोक्ति मे केवल एक वस्तु की प्रतीति होती है परन्तु अभेदप्रतीति के लिए दो वस्तुओ की प्रतीति आवश्यक है।

'कार्यकारणयो पौर्वापर्यविपर्यय' अतिशयोक्ति के स्थान पर दीक्षित ने अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, तथा अत्यन्तातिशयोक्ति नामक अतिशयोक्ति के तीन भेद किए है।[1] इन तीनो मे कार्य की शीघ्रता बताई जाती है।[2] अत इन तीनो का अन्तर्भाव 'कार्यकारणयो पौर्वापर्यविपर्यय' नामक अतिशयोक्ति के भेद मे किया जा सकता है।

इन भेदो मे कौनसा सामान्य तत्त्व है जिसके आधार पर इन्हे एक अलकार के अन्तर्गत रखा गया है, इसके उत्तर मे कतिपय आलकारिको का कथन है कि इन भेदो मे अतिशय की प्रतीति समान रूप से होती है, अत वे एक अलकार के अन्तर्गत रखे गए है।[3] वे यह स्वीकार करते है कि अध्यवसान तत्त्व इन सब भेदो मे नही, परन्तु इस अतिशय तत्त्व के कारण ही ये भेद एक अलकार के अन्तर्गत रखे गए हैं।

आलकारिको का यह मत युक्तिसगत नही। यदि ये लोग अतिशय को इन भेदो का सामान्य तत्त्व मानते है तो इन्हे अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा अतिशय करनी चाहिए और तब उसके भेदो का निरूपण करना चाहिए। दूसरे अतिशय केवल इन्ही भेदो के मूल मे हो ऐसी बात नही। अतिशय तो एक ऐसा तत्त्व है जो प्राय सभी अलकारो के

१ देखिए कुवलयानन्द पृष्ठ ४५, ४६

२ "एतास्तिस्रोऽप्यतिशयोक्तय कार्यशैघ्र्यप्रत्यायनार्था' ॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ४७

३. "अतिशयः अतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता लोकातीता उक्ति अतिशयोक्ति । सा चैतेषु परस्परमत्यन्त विलक्षणेष्वपि चतुर्षु प्रभेदेष्वस्तीति एतेषा प्रभेदानामतिशयोक्तिरिति साधारण नाम नासगतम् ॥"

—बालबोधिनी पृष्ठ ६२८

मूल म स्थित है। अन अतिशयप्रतीति को केवल इन्ही भेदो तक सीमित करना उचित नही।

अतिशयोक्ति के भेदो का निर्धारण उसकी सामान्य परिभाषा अध्यवसान के आधार पर ही होना चाहिए। अनेक आलकारिको ने ऐसा किया भी है। रत्नाकर, विमर्शिनीकार आदि ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि यह अध्यवसान सब भेदो मे विद्यमान है। नव्य आलकारिको ने इसके विपरीत इसी आधार पर केवल प्रथम भेद को छोडकर अन्य सब भेदो को अतिशयोक्ति के क्षेत्र से निकाल दिया है और उन्हे भिन्न अलकार माना है।[1]

हमे अब देखना है कि अतिशयोक्ति का यह सामान्य लक्षण अध्यवसान इन भेदो पर लागू होता है या नही और यदि होता है तो किस प्रकार होता है। अतिशयोक्ति के प्रथम भेद मे तो अध्यवसान होता ही है। 'चन्द्रोऽयम्' इस उदाहरण से यह स्पष्ट है। अतिशयोक्ति के द्वितीय भेद 'अभेदे भेद' का उदाहरण इस प्रकार है —

"अन्यत् सौकुमार्यम् अन्यैव च कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव च न भवति॥"

काव्यप्रकाश १०।४५०

मम्मट ने यहा 'तत्' का निगरण 'अन्यत्' के द्वारा माना है।[2] आलकारिको ने अन्यत्व के दो अर्थ किये है—अन्यत्वरूपप्रकार अथवा अन्यवस्तुत्व।[3] प्रथम अर्थ के अनुसार वस्तु के प्रस्तुत रूपप्रकार का

---

१ "नव्यास्तु—निगीर्याध्यवसानमेवातिशयोक्तिः। प्रभेदान्तर त्वनुगतरूपाभावादलकारान्तरमेव। ननु प्रस्तुतान्यत्वभेदे—भेदेनाभेदस्य, असम्बन्धे सम्बन्ध इति भेदे—सम्बन्धेनासम्बन्धस्य .. निगरण रत्नाकरविमर्शिनीकाराद्युक्तप्रकारेण सभवतीति चेत्, न।"

—रसगगाधर पृष्ठ ४१८

२ "यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते" —काव्यप्रकाश पृष्ठ ६३०

३ "अन्यत्वेनेति अन्यत्वरूपप्रकारेणेत्यर्थः।"उद्योत—बालबोधिनी पृष्ठ ६३०
"'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम्' इत्यस्य 'प्रस्तुतस्य अन्यवस्तुत्वेनाध्यवसाय' इत्यप्यर्थः।" उद्योत—बालबोधिनी पृष्ठ ६३१

निगरण उसके अन्य रूपप्रकार के द्वारा होता है तथा द्वितीय अर्थ के अनुसार प्रस्तुत वस्तु का निगरण अन्य वस्तु के द्वारा होता है।

हम 'अन्यत्व' का कोई अर्थ ले हमे यह मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त उदाहरण मे निगरण सम्भव नही। यहा प्रस्तुत सौकुमार्य का स्पष्ट निर्देश है और हमे उसकी प्रतीति होती है। सौकुमार्य का रूपप्रकार सौकुमार्य से भिन्न नही। अत उसकी प्रतीति सौकुमार्य के साथ साथ होना स्वाभाविक है। अत सोकुमार्य अथवा उसके रूपप्रकार का निगरण मानना उचित नही। यदि इसका अन्य के द्वारा निगरण माना जाता है तो प्रश्न उठता है कि यह अन्य क्या वस्तु है तथा प्रस्तुत का निगरण करके यह हमारे सम्मुख क्या स्वरूप उपस्थित करती है। स्वत अन्य हमारे सम्मुख कोई स्वरूप उपस्थित नही कर सकता। यह सौकुमार्य ही है जो अन्य शब्द के साथ जुड़कर हमारे सम्मुख सौकुमार्य का एक विशेष स्वरूप उपस्थित करता है। अत उपर्युक्त उदाहरण मे अतिशयोक्ति अलकार मानना उचित नही। वस्तुत इस उदाहरण मे अतिशयोक्ति अलकार न होकर असम अलकार है। 'अन्यत् सौकुमार्यम्' का अर्थ यही है कि यह सौकुमार्य अद्वितीय है। इस सौकुमार्य की अन्य किसी वस्तु से तुलना नही की जा सकती। अत इसे अन्यत् कहा गया है।

मम्मट द्वारा किए हुए अतिशयोक्ति के 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' भेद को उपमा का भेद मानना उचित होगा।

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयेतैतस्या वदन लोललोचनम्॥'' —बालबोधिनी पृ० ६३२

यहा लोचनो से युक्त वदन का दो कमलो से युक्त चन्द्रमण्डल के साथ सादृश्य चमत्कार का कारण है। अत यह उपमा का उदाहरण है। उपमा के लिए यह आवश्यक नही कि उसमे उपमान स्वतः सिद्ध हो। कविकल्पित वस्तु भी उपमान बन सकती है। अत उपर्युक्त उदाहरण मे उपमान के कविकल्पित होने से इसे उपमा के अतिरिक्त अन्य अलकार नही माना जा सकता। कतिपय प्राचीन आलकारिको ने इसी बात को

ध्यान मे रखकर उपर्युक्त उदाहरण को उपमा का भेद माना है। दण्डी इसे अद्भुतोपमा[1] मानते है तथा रुद्रट उत्पाद्योपमा मानते है।[2]

अतिशयोक्ति के भेद 'असम्बन्धे सम्बन्ध' का उदाहरण निम्नलिखित है—

"सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम्"

—कुवलयानन्द । ३९

वस्तुत इस उदाहरण मे प्रस्तुत विषय प्रासादाग्र तथा विधुमण्डल का असम्बन्ध नही अपितु उनका सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध प्रासादाग्र तथा विधुमण्डल के सामीप्य के रूप मे है। इस सामीप्य से यह अर्थ नही कि प्रासादाग्र तथा विधुमण्डल वस्तुत समीप हे, परन्तु इसका अर्थ यह है कि प्रासादाग्र अन्य वस्तुओ की अपेक्षा विधुमण्डल के समीप है। इस सामीप्य सम्बन्ध का यहा सयोग सम्बन्ध के द्वारा निगरण हो गया है। इस प्रकार यहा सम्बन्ध के एक रूप का निगरण उसके अन्य रूप के द्वारा हुआ है। प्रासाद इतने अधिक उन्नत हे कि कवि को वे विधुमण्डल का स्पर्श करते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कवि प्रासादाग्र का अन्य वस्तुओ की अपेक्षा विधुमण्डल से सामीप्य न बताकर उनका सयोग बताता है। सामीप्य तथा सयोग मे सादृश्य है। यह दूरी के अभाव के रूप मे है। अत प्रथम का द्वितीय के द्वारा निगरण स्वाभाविक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त उदाहरण के लिए 'असम्बन्धे सम्बन्ध' नामक भिन्न भेद मानना उचित नही। अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा से ही काम चल सकता है। अतिशयोक्ति के प्रथम भेद के उदाहरण तथा इस भेद के उदाहरण मे केवल इतना अन्तर है कि प्रथम भेद के उदाहरण मे जहा एक वस्तु का निगरण

---

१ "यदि किञ्चिद्भवेत् पद्म सुभ्रु विभ्रान्तलोचनम्।
तत् ते मुखश्रिय धत्तामित्यसावद्भुतोपमा॥" —काव्यादर्श २। २४

२. "अनुपममेतद्वस्त्विति उपमान तद्विशेषण चासत्।
सभाव्य सयद्यर्थ या क्रियते सोपमोत्पाद्या॥"

—काव्यालङ्कार ८। १५

अन्य वस्तु के द्वारा हुआ है वहा इस भेद के उदाहरण मे सम्बन्ध के एक प्रकार का निगरण उसके अन्य प्रकार के द्वारा हुआ है। परन्तु यह कोई विशेष अन्तर नही। इसमे निगरण के स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता । अत यह अन्तर भेद का प्रयोजक नही।

वस्तुत अतिशयोक्ति मे असम्बन्ध का सम्बन्ध के द्वारा अथवा सम्बन्ध का असम्बन्ध के द्वारा निगरण नही होता, परन्तु सम्बन्ध के एक प्रकार का निगरण अन्य प्रकार के द्वारा होता है । इसका कारण दोनो प्रकारो का सादृश्य होता है । निगरण के लिए यह सादृश्य आवश्यक है । सम्बन्ध तथा असम्बन्ध मे अथवा असम्बन्ध तथा सम्बन्ध मे सादृश्य न होकर विरोध होता है । अत उनमे से एक का निगरण अन्य के द्वारा सम्भव नही। अत 'असम्बन्धे सम्बन्ध' तथा 'सम्बन्धेऽसम्बन्ध' नामक भेद मानना उचित नही। आलङ्कारिको द्वारा इन भेदो के जो उदाहरण दिए गए है उन पर यदि अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा लागू होती है तो वे अतिशयोक्ति के अन्तर्गत आ जाएगे और उनके लिए पृथक्-भेदकल्पना की आवश्यकता ही नही पडेगी, परन्तु यदि अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा उन पर लागू नही होती तो उनका अतिशयोक्ति से बहिर्भाव मानना ही उचित होगा। सम्बन्ध के द्वारा असम्बन्ध का अथवा असम्बन्ध के द्वारा सम्बन्ध का निगरण मानकर उन्हे अतिशयोक्ति के अन्तर्गत नही किया जा सकता।

'सौधाग्राणि पुरस्यास्य ' मे देशगत सम्बन्ध का वर्णन था। कभी कभी यह सम्बन्ध देशगत न होकर कालगत होता है।

"समभेव समाक्रान्त द्वय द्विरदगामिना।
तेन सिहासन पित्र्य निखिल चारिमण्डलम् ।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५५०

यहा प्रस्तुत विषय सिहासनारोहण तथा अरिमण्डलदमन का कालगत सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध समयगत सामीप्य के रूप मे है। इसका निगरण समकालीनत्व के द्वारा हो गया है। समयगत सामीप्य तथा समकालीनत्व मे सादृश्य है। यह सादृश्य विलम्बाभाव के रूप मे है। अत प्रथम का द्वितीय के द्वारा निगरण स्वाभाविक है।

आलङ्कारिकों ने उपर्युक्त श्लोक को 'कार्यकारणयो पौर्वापर्यविपर्यय' नामक अतिशयोक्ति के भेद का उदाहरण माना है । परन्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति के इस भेद को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। अतिशयोक्ति के सामान्य लक्षण से ही काम चल जाएगा ।

प्रतिवस्तूपमा

उपमादि अलकारो मे कवि की दृष्टि प्रधानत उन वस्तुओ पर केन्द्रित रहती है जो एक धर्म के कारण सदृश प्रतीत होती हे। मुख तथा कमल मे सौन्दर्य के आधार पर जब कवि को सादृश्यप्रतीति होती है तब मुख तथा कमल कवि की दृष्टि का विषय बनते है। उमे इनमे सौन्दर्य के भी दर्शन होते हे, परन्तु यह सौन्दर्य उन वस्तुओ के साथ उनके धर्म के रूप मे जुडा हुआ प्रतीत होता है। प्रतिवस्तूपमा आदि मे इसके विपरीत कवि की दृष्टि प्रधानत' साधारणधर्मो पर केन्द्रित रहती हे। धर्मियो मे सादृश्य की प्रतीति तो कवि को तब होती है जब वह साधारणधर्म से सम्बद्ध धर्मियो मे साधारणधर्म के आधार पर सादृश्य की कल्पना करता है।

कवि की दृष्टि का प्रधानत विषय बनने वाले ये साधारणधर्म दो प्रकार के होते है—वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न तथा बिम्बप्रतिबिम्ब-भावापन्न। इनका विवेचन पूर्व किया जा चुका है। साधारणधर्मो के वस्तुप्रतिवस्तुभाव की अवस्था मे प्रतिवस्तूपमा अलकार होता है।

"आपद्गत खलु महाशयचक्रवर्ती, विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम्।
कालागुरुर्दहनमध्यगत समन्ताल्लोकोत्तर परिमल प्रकटीकरोति ॥"

—रसगगाधर पृ० ४६३

यहा हमारी दृष्टि सीधी साधारणधर्म पर ही केन्द्रित रहती है उपमेय तथा उपमान पर नही। साधारणधर्म यहा विस्तार तथा प्रकटीकरण है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव के कारण हमे इनमे सीधे सादृश्य की प्रतीति होती है।[1] इनमे सादृश्य के कारण इनके धर्मियों उपमेय महाशयचक्रवर्ती तथा उपमान कालागुरु मे भी सादृश्य प्रतीत होता है।

प्रतिवस्तूपमा के लिए उचित है कि साधारणधर्म के सम्पूर्ण चित्र मे सादृश्य हो।[2] यदि चित्र के एक अश मे साम्य तथा दूसरे

---

१ विस्तार तथा प्रकटीकरण वस्तुत एक है परन्तु आश्रय के भेद से इनमे भेद मानना आवश्यक है।

२ "साधारणधर्मस्य वस्तुप्रतिवस्तुभावोक्त्या तदितरपदार्थानाम् बिम्बप्रति-बिम्बभावो घटनाया आनुरूप्य च विवक्षितम् ॥" —रसगगाधर पृष्ठ ४५०

मे वैषम्य है तो अभीष्ट प्रतीति नही हो सकती। उपर्युक्त उदाहरण मे साधारणधर्म के सम्पूर्ण चित्र मे साम्य है। यहा प्रथम धर्म 'आपत्ति मे उदारभाव का विस्तार' है तथा द्वितीय धर्म 'दहन के मध्य परिमल-प्रकटीकरण' है। इनमे पूर्ण सादृश्य है। विस्तार तथा प्रकटीकरण मे तो सादृश्य है ही, आपत्ति तथा दहन मे एव उदारभाव तथा परिमल मे भी सादृश्य है। यह सादृश्य बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप मे है। इस प्रकार साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर हमे यहा महाशयचक्रवर्ती तथा कालागुरु मे सादृश्य की प्रतीति होती है। यदि इस उदाहरण मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव के अतिरिक्त अश मे बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव न होता तो सादृश्यप्रतीति मे विघ्न उपस्थित होता।

"खलास्तु कुशला स्वीयहितप्रत्यूहकर्मणि।
निपुणा फणिन प्राणानपहर्तुं निरागसाम् ॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ४८९

यहा 'कुशला' तथा 'निपुणा' मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव अवश्य है परन्तु 'स्वीयहितप्रत्यूहकर्म' तथा 'निरागसाम् प्राणापहरण' मे सादृश्य नही, अत अभीष्ट सादृश्यप्रतीति मे विघ्न उपस्थित होता है।

आलङ्कारिको ने इस अलङ्कार का विवेचन प्रधानत भाषा को लक्ष्य करके किया है, सादृश्य तत्त्व को लक्ष्य करके नही किया। यही कारण है कि वे इसकी परिभाषा मे वाक्य शब्द का भी सन्निवेश करते है—

"प्रतिवस्तूपमा तु सा
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थिति।"

—काव्यप्रकाश १०। १५४

"वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा।"

सर्वस्व सू० २५

यदि हम सादृश्य की दृष्टि से इस अलङ्कार की परिभाषा करे तो वाक्य आदि तत्त्वो का परिभाषा मे सन्निवेश न होना चाहिए। सादृश्य का सम्बन्ध भाषा से नही होता अपितु उस अर्थ से होता है जो भाषा द्वारा अभिव्यक्त होता है। यह अर्थ भाषा के अङ्ग पद, वाक्य, समास आदि से अभिव्यक्त अवश्य होता है परन्तु भाषा के ये अङ्ग उस अर्थ के अङ्ग नही बनते। अर्थ की प्रतीति हमे वाक्य, समास आदि के रूप मे नही होती अपितु द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थो के रूप मे होती है।

'आपद्गत खलु ' इस उदाहरण मे हमे महाशयचक्रवर्ती तथा कालागुरु मे सादृश्यप्रतीति इनमे विद्यमान गुणो के सादृश्य के आधार पर होती है। सादृश्यप्रतीति के समय यहा चक्रवर्ती तथा कालागुरु तथा इनमे विद्यमान गुण ही हमारी दृष्टि का विषय बनते है, वाक्यार्थो का औपम्य हमारी दृष्टि का विषय नही बनता। यह औपम्य वाक्यार्थो मे है इसका ज्ञान तो हमे तब होता है जब हम सादृश्यप्रतीति की स्थिति से हटकर भाषा की बनावट पर विचार करते है।

उपर्युक्त उदाहरण मे सादृश्यप्रतीति की प्रक्रिया पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहा सादृश्य से पूर्व समर्थ्यसमर्थकभाव की भी प्रतीति होती है। प्रथम वाक्य यहा समर्थ्य है तथा द्वितीय वाक्य उसका समर्थक है –

"आपद्गतो महाशयचक्रवर्ती अकृतपूर्वमुदारभाव विस्तारयति, यो महाशय स आपद्गतोऽपि अकृतपूर्वमुदारभाव विस्तारयति यथा कालागुरुर्दहनमध्यगतोऽपि लोकोत्तर परिमल प्रकटीकरोति।"

जगन्नाथ ने भी यहा इस समर्थ्यसमर्थकभाव को स्वीकार किया है।[1]

इस समर्थ्यसमर्थकभाव के होने पर भी हमे यह मानना पडेगा कि यहा पर्यवसान सादृश्यप्रतीति मे ही होता है। हम समर्थ्यसमर्थकभाव पर आकर रुक नही जाते परन्तु आगे बढते है तथा महाशयचक्रवर्ती एव कालागुरु मे सादृश्य का अनुभव करते है। महाशयचक्रवर्ती के आचरण का कालागुरु के आचरण द्वारा समर्थन उन दोनो के सादृश्य मे ही पर्यवसित होता है।

प्रतिवस्तूपमा के लिए यह समर्थ्यसमर्थकभाव आवश्यक नही। उपर्युक्त उदाहरण मे तो समर्थ्यसमर्थकभाव इसलिए है क्योकि प्रथम वाक्य मे हमे कार्यकारणभाव की प्रतीति होती है। महाशयत्व यहा कारण है तथा उदारभाव उसका कार्य है। विपत्ति मे व्यक्ति प्राय उदारभाव प्रकट नही करता। परन्तु यहा चक्रवर्ती को ऐसा भाव प्रकट करते हुए दिखाया है। अत स्वभावत. हमारा ध्यान इसके कारण की ओर जाता है और फलत

१ "एवमन्वयेन प्रतिवस्तूपमायामपि नियमविशेषस्य प्रकृतवाक्यार्थत्वेऽन्वयदृष्टान्तेन सामान्यान्वयनियमसिद्धिद्वारा तत्सिद्धि.॥" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४४५

विभाजन के इस आधार का भाषा से सम्बन्ध है सादृश्य से नही। वैधर्म्य से जो प्रतिवस्तूपमा होती है उसमे साधर्म्यवाली प्रतिवस्तूपमा से केवल इतना भेद है कि साधर्म्य वाली प्रतिवस्तूपमा मे वाक्य एक जैसे होते है परन्तु वैधर्म्यवाली प्रतिवस्तूपमा के दोनो वाक्यो मे से एक विधि वाक्य होता है तथा अन्य निषेध वाक्य होता है। जहा तक साधारणधर्म का प्रश्न है दोनो मे एक प्रकार के ही साधारणधर्म विद्यमान रहते है। अत साधारणधर्म के उपादान की दृष्टि से प्रतिवस्तूपमा के इन दोनो प्रकारो मे कोई भेद नही।

वशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुष ।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्ड प्रयाति महिमानम् ॥

यह वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है। यहा प्रथम वाक्य मे 'पूज्यते' धर्म है तथा द्वितीय मे 'महिमान प्रयाति' धर्म है। सादृश्य का आधार इन धर्मो का सादृश्य ही है, वाक्यो का विधिघटित अथवा निषेध-घटित होना नही। जो आलङ्कारिक 'वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमा' को स्वीकार करते है वे भी निषेधवाक्य का विधिवाक्य से सादृश्य न दिखाकर निषेध-वाक्य से आक्षेप्य विधिवाक्य का प्रथम विधिवाक्य से सादृश्य दिखाते है।[1]

---

१ "अप्रकृतवाक्यार्थाक्षिप्तस्य स्ववैपरीत्यस्यैवौपम्याश्रयत्वात् ।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ४४५

"न हि तुम्बीफल" इति वाक्यार्थेन सह पूर्ववाक्यार्थसङ्गत्यर्थम् 'तुम्बीफलसहितो वीणादण्डो महिमान प्रयाति' इतिवाक्यार्थ आक्षिप्यते। तेनैव पूर्ववाक्यार्थस्य औपम्यम्—'यथा तुम्बीफलसहितो वीणादण्डो महिमान याति तथा सङ्गविशेषेण पुरुष पूज्यते।' सरला पृष्ठ ४४५

दृष्टान्त

दृष्टान्त मे प्रतिवस्तूपमा से केवल इतना भेद है कि प्रतिवस्तूपमा मे साधारणधर्म मे जहा वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है वहा दृष्टान्त मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव मे धर्म भिन्न होते है परन्तु उनमे एक सामान्य तत्त्व होता हे। इसके कारण वे सदृश होते है —

"अविदितगुणापि सत्कविभणिति कर्णेषु वमति मधुधाराम्।

अनधिगतपरिमला हि हरति दृश मालतीमाला॥

—सहित्यदर्पण पृष्ठ ५५५

यहा 'कर्णेषु मधुधारावमन' तथा नेत्रहरण भिन्न है, परन्तु इनमे एक सामान्य तत्त्व है। यह प्रीतिजनन के रूप मे है। अत 'कर्णेषु मधुधारावमन' तथा नेत्रहरण मे सादृश्य है।

धर्मो के सदृश होने के कारण धर्मियो मे भी सादृश्य हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण मे सत्कविभणिति तथा मालतीमाला मे भी सादृश्य है। इस प्रकार यहा उपमेय तथा उपमान तथा इनके साधारणधर्मो इन सब मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है। मम्मट की परिभाषा इसी को लक्ष्य करके की गई है —

"दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम्"

—काव्यप्रकाश १०।१५५

प्राचीन आलङ्कारिको मे उद्भट तथा रुद्रट ने इस अलङ्कार का विवेचन किया है। भोज ने साम्यालकार के एक भेद दृष्टान्तोक्ति का निरूपण किया है तथा इसके अनेको भेद बताए है। इसकी परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

"तत्रेवाद्दे प्रयोगेण दृष्टान्तोक्ति प्रचक्षते"

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३६

"स्थित स्थितामुच्चलितः प्रयाता निषेदुषीमासनबन्धधीरः।

जलाभिलाषी जलमाददाना छायेव ता भूपतिरन्वगच्छत्॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४३०

इस परिभाषा तथा उदाहरण से स्पष्ट है कि यह भेद उपमा के अतिरिक्त और कुछ नही।

अर्वाचीन आलङ्कारिको ने प्रतिवस्तूपमा के समान दृष्टान्त के भी साधर्म्य दृष्टान्त तथा वैधर्म्य दृष्टान्त ये दो भेद किए है।

विभाजन के इस आधार का निराकरण प्रतिवस्तूपमा के प्रकरण मे किया जा चुका है।

निदर्शना का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव

आलकारिको ने निदर्शना नामक एक पृथक् अलकार माना है, परन्तु इसकी परिभाषाओ तथा इसके उदाहरणो पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इस अलकार का अन्य अलकारो मे अन्तर्भाव किया जा सकता है। अत इसे पृथक् अलकार मानने की आवश्यकता नही।

"निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक"[1] मम्मट की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि मम्मट वस्तुओ के असम्भव सम्बन्ध के उपमा मे पर्यवसान को निदर्शना मानते है। मम्मट ने निदर्शना की एक अन्य परिभाषा भी की है —

"स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्ति क्रिययैव च सापरा"[2]—काव्यप्रकाश सू० १५०

इस परिभाषा के अनुसार मम्मट निदर्शना मे वस्तुओ का सम्भव सम्बन्ध भी स्वीकार करते है। रुय्यक ने परिभाषा मे सम्भव तथा असम्भव इन दोनो सम्वन्धो का सन्निवेश किया है —

"सम्भवतासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमान प्रतिबिम्बकरण निदर्शना।" —सर्वस्व सू० २७

विश्वनाथ की परिभाषा भी इसी के समान हैः—

"सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्व बोधयेत्सा निदर्शना॥"

—साहित्यदर्पण १०।५१

इन परिभाषाओ पर विचार करने से प्रतीत होगा कि ये परिभाषाए निदर्शना की अन्य अलकारो से पृथक्ता नही सिद्ध कर सकती। निदर्शना जैसा उपमापर्यवसान तो अनेक अलकारो मे होता है। रूपक, अतिशयोक्ति आदि सभी अलकारो मे ऐसा उपमापर्यवसान होता है। निदर्शना के समान इन अलकारो मे भी वस्तुओ का सम्बन्ध असम्भव माना जा सकता है।

---

१ काव्यप्रकाश सू० १४६

२ मम्मट की यह परिभाषा वामन की परिभाषा के समान है.—

"क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापन निदर्शनम्" —काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४।३।२०

उदाहरण के लिए रूपक को ले। रूपक के उदाहरण 'मुख चन्द्र' मे मुख चन्द्रमा के समान है। यदि उपर्युक्त उदाहरण मे मुख का चन्द्रमा मे सम्बन्ध सम्भव माना जाता है और इस प्रकार पर्यवसान औपम्य मे न मानकर ताद्रूप्य मे माना जाता है तो यह बात निदर्शना के उदाहरण पर भी समान रूप से चरितार्थ होती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"यद्दातु सौम्यता सेय पूर्णेन्दोरकलङ्किता" —कुवलयानन्द पृ० ५९

यहा दाता की सौम्यता पर पूर्णेन्दु की अकलङ्किता का आरोप है। यह आरोप सम्भव है। अत यहा पर्यवसान औपम्य मे न होकर आरोप अथवा ताद्रूप्य मे है।

जगन्नाथ ने निदर्शना की उपर्युक्त परिभाषाओ के सदोषत्व की ओर निर्देश किया है। वे कहते हे—

"यत्तु तेनैव लक्षण निर्मितम्—'सभवता असम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानमौपम्य निदर्शना' इति। तदपि न। रूपकातिशयोक्त्यादिष्वतिव्यापनात्।" —रसगगाधर पृ० ४६२

जगन्नाथ का यह कथन उचित ही है। परन्तु वे निदर्शना की भिन्न परिभाषा करके इसे स्वतन्त्र अलंकार सिद्ध करने मे सफल हुए हो ऐसी बात नही। जगन्नाथ की परिभाषा इस प्रकार है —

"उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना"

—रसगगाधर पृ० ४५६

जगन्नाथ ने यहा अभेद के साथ आर्थ शब्द का सन्निवेश करके निदर्शना को रूपक से भिन्न सिद्ध किया है। इनके अनुसार रूपक मे अभेद शाब्द होता है। अन्वय के प्रथम बोध मे ही इसकी प्रतीति हो जाती है। निदर्शना मे इसके विपरीत प्राथमिक अन्वयबोध मे अभेद की प्रतीति नही होती परन्तु अर्थ का अनुसन्धान करने पर बाद मे यह प्रतीति होती है।[1]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसगत नही। हमे ताद्रूप्यप्रतीति अर्थ पर विचार करने से ही होती है। शब्दो का श्रवणमात्र ताद्रूप्यप्रतीति नही

---

१ 'वाच्यरूपकवारणाय आर्थ इति। आर्थत्व च प्राथमिकान्वयबोधविषयत्वम्।" —रसगगाधर पृष्ठ ४५६

करा सकता। रूपक मे भी जो ताद्रूप्यप्रतीति होती है वह अर्थ पर विचार करने के फलस्वरूप होती है। अत शाब्द तथा आर्थ के आधार पर अर्थ का विभाजन उचित नही। इसका निरूपण आर्थी उपमा के निराकरण के समय किया जा चुका है। निदर्शना के निम्नलिखित उदाहरण से भी यह स्पष्ट है कि इमे रूपक का उदाहरण मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती —

"त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञास्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक शोधयन्त।
विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्त चिन्तामणिं क्षितिरजःसु गवेषयन्ति।"
—रसगगाधर पृ० ४५७

यहा शिव के अन्यत्र परिशोधन पर कण्ठस्थ चिन्तामणि के धूलि मे गवेषण का आरोप है। इस प्रकार यह रूपक का उदाहरण है। जगन्नाथ के अनुसार यहा शोधनकर्ता तथा गवेषणकर्ता का अभेद है। कर्ताओ के इस अभेद के फलस्वरूप अर्थ पर विचार करने से उनकी क्रियाओ मे अभेदप्रतीति होती है। यह अभेदप्रतीति निदर्शनालकार का विषय है।[1]

जगन्नाथ का यह मत उचित नही। स्वत कर्ताओ का अभेद कोई अर्थ नही रखता। कर्ताओ के साथ उनकी क्रियाए जुडी रहती है तथा कर्ताओ का अभेद उन क्रियाओ के अभेद के फलस्वरूप ही होता है। वैयाकरण तो इससे भी आगे बढ गए है। उनके अनुसार प्रधानता क्रिया की होती है। अत जब क्रियाओ के सद्भाव की दशा मे अभेद दिखाया जाता है तब यह अभेद क्रियाओ मे ही होता है और यह अभेद शाब्दबोध का विषय होता है। अत' आर्थ अभेद के आधार पर निदर्शना मानने का प्रश्न ही नही उठता।[2]

यदि जगन्नाथ अभेद के आर्थत्व के आधार पर पृथक् अलङ्कार की

---

१. "एवं च्वारोपाध्यवसानमार्गबहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शनाजीवितम्। स च कर्त्राद्यभेदप्रतिपादनद्वारा प्रतिपाद्यते वाक्यार्थनिदर्शनायाम्॥"
—रसगंगाधर पृष्ठ ४६३

२. "अत्र 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कोक्तरीत्या क्रियाविशेष्यकबोधवादिना शाब्द एवाभेदारोप. क्रिययोरिति मुखं चन्द्र इत्यादाविव रूपकमुचितम्।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ४६६

कल्पना करते है तो उन्हे उन सब स्थानो पर जहा अर्थगम्यत्व विद्यमान रहता है पृथक् अलकार मानने चाहिए । परन्तु ऐसी बात नही ।

"क्व सूर्यप्रभवो वश क्व चाल्पविषया मति ।
तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥" — रसगगाधर पृ० ४६३

इस उदाहरण मे विषय का उपादान नही । यह अर्थगम्य है । यह 'अल्पमत्या सूर्यवशवर्णक' के रूप मे है । जगन्नाथ की परिभाषा के अनुसार निदर्शना मे विषय तथा विषयी दोनो का उपादान होना चाहिए । उपर्युक्त उदाहरण मे यह बात नही । अत इसे निदर्शना का उदाहरण न मानकर ललित का उदाहरण मानना उचित होगा । परन्तु जगन्नाथ इसे निदर्शना का ही उदाहरण मानते है —

"ननु अत्र निदर्शना नैव सगच्छते । विषयिण उपादानेऽपि विषयस्यानुपात्तत्वात् । उभयोपादान हि तत्रावश्यकम् । अतो ललितालकार उचित इति चेत्, ललितालकारनिराकरणावसरे एवैतद्व्यक्तमुपपादयिष्याम ।"
—रसगंगाधर पृ० ४६३

"इह तावदलकारा प्रायश श्रौता आर्थाश्च सम्भवन्ति । तत्र श्रौतेभ्य आर्था न पृथगलकारत्वेन गण्यन्ते किन्तु पृथग्भेदत्वेन तदलंकारसामान्यलक्षणेन क्रोडीकरणात् ।" —रसगगाधर पृ० ६७६

इस प्रकार जगन्नाथ जिस अर्थगम्यत्व को एक स्थान पर भिन्न अलकार का प्रयोजक मानते है उसे अन्य स्थान पर वैसा नही मानते ।

आलकारिको ने प्राय· निदर्शना के असम्भवन्वस्तुसम्बन्धा तथा सम्भवन्वस्तुसम्बन्धा ये दो भेद किए है ।[1] असम्भवन्वस्तुसम्बन्धा के उन्होने

---

१ उद्भट, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि इन दोनो सम्बन्धो को मानते हैं । दीक्षित ने तीन निदर्शनाओं का निरूपण किया है (कुवलयानन्द पृष्ठ ५२–६४) । इनकी प्रथम दो निदर्शनाओ का अन्तर्भाव असभवन्वस्तुसम्बन्धा के अन्तर्गत किया जा सकता है तथा तृतीय का अन्तर्भाव सम्भवन्वस्तुसम्बन्धा मे किया जा सकता है । इस तृतीय निदर्शना की परिभाषा दण्डी की परिभाषा के समान है:—

"अपरा बोधनं प्राहु· क्रिययाऽसत्सदर्थयो " —कुवलयानन्द १६ । ५५

"अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित् तत्सदृश फलम् ।

पुन' दो भेद किए है । ये वाक्यार्थनिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना है ।[1] वाक्यार्थनिदर्शना का उदाहरण 'यद्दातु सौम्यता सेय पूर्णेन्दोरकलकिता' अथवा 'त्वामन्तरात्मनि ' है। इन उदाहरणो का रूपक मे अन्तर्भाव किया जा चुका है।

पदार्थनिदर्शना का उदाहरण निम्नलिखित है —

"इन्दुशोभा वहत्यास्यम् ।"

इसका अन्तर्भाव उपमा मे किया जा सकता है। 'मुख चन्द्रमा की शोभा धारण करता है' इस वाक्य का यही अर्थ है कि मुख चन्द्रमा के समान शोभावाला है। यहा मुख का चन्द्रमा से सादृश्य है। यह सादृश्य साधारणधर्म शोभा के कारण है। 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे जिस प्रकार उपमा है उसी प्रकार यहा भी उपमा है। यह कहना उचित नही कि यहा उपमावाचक शब्द का निर्देश नही अत यहा उपमा नही हो सकती। यहा भी 'शोभा वहति' के द्वारा साधारणधर्म शोभा तथा औपम्य इन दोनो का बोध होता है।

आलङ्कारिको ने उपर्युक्त पक्ति की भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। उनके अनुसार एक वस्तु अन्य वस्तु के धर्म को धारण नही कर सकती। अत इसका अर्थ होगा कि वह उस धर्म के सदृश धर्म को धारण करती है। इस प्रकार पर्यवसान उपमा मे होगा।[2]

आलंकारिको का यह मत समीचीन नही। उपर्युक्त उदाहरण मे हमे सीधे ही यह प्रतीति हो जाती है कि मुख चन्द्रमा के समान है। मुख चन्द्रमा की शोभा धारण नही कर सकता अत उस शोभा के सदृश

सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम् ॥"—काव्यादर्श २ । ३४८

भामह, दण्डी तथा वामन ने केवल सभवन्वस्तुसम्बन्धा का निरूपण किया है।

१ ये भेद मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, दीक्षित आदि ने किए है। विश्वनाथ ने इनका नाम वाक्यार्थनिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना न रखकर एकवाक्यगता तथा अनेकवाक्यगता निदर्शना रखे हैं:--

'असंभवन्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा ।'

--साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५६

२. "उभयत्राप्यन्यधर्मस्यान्यत्रासंभवेन तत्सदृशधर्माक्षेपादौपम्ये पर्यवसानम् तुल्यम् ।" --कुवलयानन्द पृष्ठ ६०

शोभा को धारण करता है इस प्रकार की प्रतीति हमे मुख तथा चन्द्रमा की सादृश्यप्रतीति मे पूर्व नही होती । यदि इस प्रकार की प्रतीति उपर्युक्त उदाहरण मे मानी जाती है तो 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे भी यह प्रतीति माननी चाहिए । 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे मुख को कमल के समान कहा गया है। इस समानता का आधार साधारणधर्म सौन्दर्य है। मुख का सौन्दर्य तथा कमल का सौन्दर्य वस्तुत भिन्न है। अत पदार्थी निदर्शना को भिन्न अलकार मानने वाले आलकारिको के तर्क के अनुसार मुख कमल के समान सुन्दर न होना चाहिए । परन्तु यहा मुख को कमल के समान बताया गया है और हमे वैसी प्रतीति होती भी है। मुख तथा कमल के सौन्दर्य वस्तुत. भिन्न होने पर भी हमे अभिन्न प्रतीत होते है। इसी प्रकार यद्यपि एक वस्तु वस्तुत अन्य वस्तु के धर्म को धारण नही कर सकती परन्तु अलकारजन्य चमत्कार की स्थिति मे हमे इसकी प्रतीति नही होती । अलकारजन्य आहार्य ज्ञान वास्तविक ज्ञान से भिन्न है। अत. वास्तविक ज्ञान के नियम इस पर लागू नही हो सकते ।

सभवन्वस्तुसम्बन्धा का उदाहरण निम्नलिखित है —

"चूडामणिपदे धत्ते योऽम्बरे रविमागतम् ।
सता कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिन ॥"

—रसगगाधर पृ० ४६४

यहा आकाश मे आए हुए रवि को सिर पर धारण करना आरोप का विषय है तथा सज्जनो का आतिथ्य करना चाहिए इस प्रकार गृहमेधियो को बताना आरोप्यमाण है। इस प्रकार यहा 'शिरसा रविधारणम्' पर 'गृहमेधिकर्मकबोधनम्' का आरोप है। अत यह रूपक का उदाहरण कहा जा सकता है।

ललित अलंकार का रूपक में अन्तर्भाव

अप्पयदीक्षित ने ललित नामक एक पृथक् अलकार का निरूपण किया है। इनके अनुसार इस अलकार मे वर्ण्यवस्तु मे वर्ण्य वृत्तान्त का वर्णन न करके उसके प्रतिबिम्बरूप किसी अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन होता है.—

"वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्"

—कुवलयानन्द ६६। १२८

इसका उदाहरण इस प्रकार है —

"क्व सूर्यप्रभवो वश क्व चाल्पविषया मति ।
तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥" —रघुवश १। १

दीक्षित के अनुसार यहा 'अल्पमति से सूर्यवंश के वर्णन का इच्छुक हूँ' यह प्रस्तुत वृत्तान्त है। इसका यहां वर्णन न करके इसके प्रतिबिम्ब भूत 'उडुप के द्वारा सागर पार करने का इच्छुक हूँ' इस अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन किया गया है। अतः यह ललित अलकार है।[1]

जगन्नाथ आदि ने इस अलंकार का अन्तर्भाव निदर्शना मे किया है। इनके अनुसार निदर्शना मे दो अर्थों का आर्थ अभेद होता है।[2] उपर्युक्त उदाहरण मे 'अल्पविषयया मत्या सूर्यवंश वर्णयितुमिच्छुरहम्' तथा 'उडुपेन सागर तितीर्षुरस्मि' इन दोनो मे अभेद है और इससे अर्थ यह निकलता है कि 'मन्मत्या सूर्यवशवर्णनस्येच्छा' तथा 'उडुपेन सागर-तरणेच्छा मे अभेद है। अत यह निदर्शना है।

दीक्षित आदि का कहना है कि यहा 'अल्पविषयया मत्या सूर्यवंश वर्णयितुमिच्छुरहम्' इस अर्थ का उपादान नही। निदर्शना

---

१ 'अल्पविषयया मत्या सूर्यवशं वर्णयितुमिच्छुरहमिति प्रस्तुतवृत्तान्तानुपन्यासात्तत्प्रतिबिम्बभूतस्य उडुपेन सागर तितीर्षुरस्मीत्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वर्णनेन············ · · ······· ललितालंकारः।'

—कुवलयानन्द पृष्ठ १४६

२ "व्यवहारद्वयवद्धर्म्यभेदप्रतिपादनाल्लिप्तो व्यवहारद्वयाभेदः।"

—रसगगाधर पृष्ठ ६७६

मे दोनो अर्थों का उपादान आवश्यक है। अतः यहा निदर्शना नही हो सकती।

जगन्नाथ आदि इसके उत्तर मे कहते हे कि निदर्शना के लिए दोनो अर्थो का शब्दो द्वारा उपादान आवश्यक नही। आवश्यकता इतनी ही है कि दोनो अर्थो का प्रतिपादन हो।[1] यह प्रतिपादन जिस प्रकार दोनो के श्रौत अथवा शब्दोपात्त होने की दशा मे सम्भव है उस प्रकार यह उन दोनो मे से एक के श्रौत तथा अन्य के आर्थ होने पर भी सम्भव है। अत उपर्युक्त उदाहरण मे निदर्शना ही है।

अत यह स्पष्ट है कि दीक्षित के इस ललित अलकार का अन्तर्भाव जगन्नाथ की निदर्शना मे किया जा सकता है। जगन्नाथ की निदर्शना का अन्तर्भाव हम रूपक मे कर चुके है। अत इस ललित का अन्तर्भाव भी रूपक मे किया जा सकता है।

---

१. "तत्र व्यवहारद्वयवद्धर्म्यभेदस्य प्रतिपादनं श्रौतमेवापेक्षितमिति न नियम.। किं तु प्रतिपादनमात्रम्।" ——रसगंगाधर

दीपक

दीपक मे हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ का एकधर्माभिमम्बन्ध होता है।[1] यहा प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ मे सादृश्य भी होता है, परन्तु यह हमारी दृष्टि का प्रधान विषय नही होता। सादृश्यप्रतीति एकधर्माभिमम्बन्ध के फलस्वरूप होती है। उसका यहा स्पष्ट निर्देश नही होता। निम्नलिखित परिभाषा तथा उदाहरण से यह स्पष्ट है—

"प्रकृतानामप्रकृताना चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्।"[2]

—रसगगाधर पृ० ४३१

---

१. आलङ्कारिको को प्राय: यही मत मान्य है। परन्तु दण्डी तथा भोज आदि का मत इससे भिन्न है। इनके अनुसार यदि एक वाक्य में स्थित कोई पद समस्त वाक्यों का उपकारक हो तो दीपक अलङ्कार होता है:—

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपरकारश्चेत् तमाहुर्दीपक यथा॥ —काव्यादर्श २। ९७

दण्डी की परिभाषा इसी का अनुकरण है।

इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि इन आलङ्कारिको के अनुसार दीपक के लिए सादृश्यमूलक होना आवश्यक नहीं। इनके दीपक के निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है·—

'पवनो दक्षिण पर्ण जीर्ण हरति वीरुधाम्।
स एवानतागीना मानभगाय कल्पते॥' —कव्यादर्श २। ९८

यहा पूर्व वाक्य मे स्थित पवन 'स' के रूप मे प्रयुक्त होकर द्वितीय वाक्य का उपकार करता है। परन्तु इससे यहा किसी प्रकार का सादृश्य प्रतीत नही होता। अतः इस प्रकार के अलङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत नहीं आते।

२ "प्राग्वदेवात्राप्यौपम्यस्य गम्यत्वम्" —रसगगाधर पृष्ठ ४३१

"प्रकृताप्रकृतयो: सजातीयधर्मसम्बन्धस्योपमाया पर्यवसानादिति भाव·। सा चोपमा व्यग्यैव वाचक (इवादिशब्द) विरहात्।"

उद्योत—बालबोधिनी पृ० ६३६

"मदेन भाति कलभ' प्रतापेन महीपति' ।"—कुवलयानन्द १५ । ४८

यहा कलभ तथा महीपति का एक भान धर्म से सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध ही यहा चमत्कार का कारण है। कलभ तथा महीपति मे जो सादृश्यप्रतीति होती है वह इस सम्बन्ध के फलस्वरूप होती है। यही कारण है कि दीपक मे औपम्य व्यग्य कहा गया है।

प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ का जिस धर्म से सम्बन्ध होता है वह गुण, क्रिया आदि मे से कोई भी हो सकता है। उपर्युक्त उदाहरण मे यह क्रिया है। गुण के साथ सम्बन्ध का उदाहरण इस प्रकार है —

"श्यामला प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपक्तिभि ।
भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभि ॥"

—उद्योत—बालबोधिनी पृष्ठ ६४०

एकधर्माभिसम्बन्ध मे सम्बन्ध से तात्पर्य शब्दो का व्याकरणगत सम्बन्ध नही अपितु शब्दो से अभिव्यक्त होने वाले पदार्थो का समवायादि सम्बन्ध है। उपर्युक्त उदाहरण मे यही बात है। यहा कलभ तथा महीपति का जिस भानक्रिया से सम्बन्ध है वह क्रिया इन वस्तुओ मे समवाय सम्बन्ध के द्वारा विद्यमान है। जहा वस्तुओ का सम्बन्ध केवल व्याकरण का विषय होता है वहा दीपक अलकार मानना उचित नही। अत क्रियाओ के एक कारक से सम्बन्ध के स्थल पर यह अलकार सम्भव नही निम्नलिखित उदाहरण इसका समर्थक है —

"स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधू शयने ॥"

—काव्यप्रकाश १०।४५८

यहा स्वेदन आदि क्रियाओ का वधू के कर्ता कारक से तथा शयन के अधिकरण कारक से सम्बन्ध है, परन्तु यह सम्बन्ध केवल भाषा अथवा व्याकरण का विषय है। इस सम्बन्ध के द्वारा स्वेदन आदि मे वधू तथा शयन का सद्भाव नही होता। शयन का तो इन चेष्टाओ से कोई सम्बन्ध ही नही। ये चेष्टाए शयन पर होती हैं केवल इतने से इन चेष्टाओ का एक धर्म से सम्बन्ध नही हो सकता। वधू का इन चेष्टाओ से सम्बन्ध अवश्य है। परन्तु वधू यहा धर्मी है और उसकी ये चेष्टाए उसके धर्म हैं।

यदि एक धर्मी मे अनेक धर्म हो तो हम यह नही कह सकते कि उन धर्मों का एक धर्म से सम्बन्ध है। मम्मट आदि का मत इससे भिन्न है। उन्होने उपर्युक्त उदाहरण मे दीपक अलकार माना है। उनके अनुसार अनेक क्रियाओ का एक कारक से सम्बन्ध भी दीपक का लक्षण हो सकता है—

"सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्"[1] —काव्यप्रकाश १०।१५६

मम्मट का यह मत उचित नही। मम्मट द्वारा किया गया दीपक का प्रथम लक्षण 'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतानाम्'[2] तो उपर्युक्त उदाहरण पर लागू नही होता। अत दीपक के इस द्वितीय लक्षण को प्रथम लक्षण से सर्वथा भिन्न मानना पडेगा। इस प्रकार दीपक के दो पृथक् लक्षण हो जाएगे। यह उचित नही। प्रत्येक अलंकार का एक सामान्य लक्षण होता है और वह इसके सब भेदो पर लागू होता है।

दूसरे दीपक एक सादृश्यमूलक अलकार है। अत' इसमे औपम्य का होना आवश्यक है। उद्भट, जगन्नाथ आदि को यही मत मान्य है।[3] मम्मट की द्वितीय परिभाषा के अनुसार दीपक से इस औपम्य तत्त्व का बहिष्कार हो जाएगा। इसी बात को लक्ष्य करके जगन्नाथ ने मम्मट की आलोचना की है।[4]

दीपक मे विद्यमान साधारणधर्म मे अनुगामिता के साथ साथ बिम्ब-

---

१ इस कारकदीपक को रुद्रट ने भी माना है:—
"यत्रैकमनेकेषा वाक्यार्थाना क्रियापदं भवति।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा॥" —काव्यालंकार

२. काव्यप्रकाश १०।१५६

३. "आदिमध्यान्तविषया प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥"—काव्यालङ्कारसारसंग्रह १।१४
"प्रकृतानामप्रकृताना चैकधर्मान्वयो दीपकम्।
प्राग्वदेवात्राप्यौपम्यस्य गम्यत्वम्॥" —रसगंगाधर पृष्ठ ४३१

४ "लक्षणद्वयस्याननुगतत्वाच्च। तादृशलक्षणद्वयान्यतरवत्त्वस्य लक्षणत्वे गौरवादुपप्लवप्रसंगाच्च।.... किं च दीपकतुल्ययोगितादौ गम्यमानमौपम्य जीवातुरिति सर्वेषा समतम्। न चात्र स्वेदनकूणनादीनामेककारकान्वितानामप्यौपम्यं कविसरम्भगोचर'।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३४

प्रतिबिम्बभाव भी हो सकता है। दीपक के लिए केवल इतना आवश्यक है कि वहा साधारणधर्म के एक अश मे अनुगामिता होनी चाहिए। समस्त साधारणधर्म मे अनुगामिता होना आवश्यक नही।

"लता कुसुमभारेण शीलभारेण सुन्दरी।
कविता चार्थभारेण श्रयते काम्पि श्रियम्॥" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३८

यहा 'श्रियम् श्रयते' मे अनुगामिता है, परन्तु कुसुम, शील आदि मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।[1]

मम्मट आदि ने दीपक का मालादीपक नामक एक और भेद माना है।[2] इसकी परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है:—

"मालादीपकमाद्य चेद्यथोत्तरगुणावहम्" —काव्यप्रकाश १०।१५७

यथा—सग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शरा शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलम्
तेन त्व भवता च कीर्तिरमला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६४२

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यह उदाहरण दीपक के अन्तर्गत नही आता। दीपक मे सादृश्य का होना आवश्यक है। यहा ऐसी बात नही। यह कहना उचित नही कि यहा कोदण्ड आदि मे समासादन धर्म है अतः उनमे सादृश्य है। यहा कोदण्ड आदि के शर, शिर आदि तक समासादन से यह तात्पर्य नही कि कोदण्ड, शर आदि समान है अपितु यह तात्पर्य है कि कोदण्ड के द्वारा शरसमासादन तथा शर के द्वारा शिर समासादन आदि मे से आद्य वस्तु उत्तर वस्तु की उपकारक है। इसी बात को लक्ष्य करके जगन्नाथ ने मालादीपक का परिहार किया है।[3]

---

१. "अत्र बिम्बप्रतिबिम्बताया न केवल क्रियारूपमनुगामिमात्रं चमत्कारकारणम् अपितु कुसुमादिबिम्बप्रतिबिम्बकरम्बितम्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३८

२ दण्डी तथा भोज भी दीपक के इस भेद को मानते हैं। देखिए काव्यादर्श परि० २ श्लो० १०८ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण परि० ४ श्लो० ७८।

३ "वस्तुतस्त्वेतद्दीपकमेव न शक्यं वक्तुम्, सादृश्यसम्पर्काभावात्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३६

अप्पयदीक्षित ने आवृत्तिदीपक नामक एक अन्य दीपक माना है।[1] इसके इन्होने तीन भेद किए है शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति तथा उभयावृत्ति।[2] शब्दावृत्ति दीपक का उदाहरण निम्नलिखित है —

"वर्षत्यम्बुदमालेय वर्षत्येषा च शर्वरी" —कुवलयानन्द १६।४९

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि इसे दीपक का उदाहरण मानना उचित नही। यहा दीपक के आवश्यक तत्त्व एकधर्माभिसम्बन्ध का अभाव है। अम्बुदमाला मे जो वर्षणक्रिया है वह शर्वरी की वर्षक्रिया से सर्वथा भिन्न है। पहली क्रिया का अर्थ 'वृष्टि करना' है तो दूसरी का वर्ष के समान आचरण करना है। इस प्रकार॰ दोनो शब्दो मे अर्थभेद होने के कारण अम्बुदमाला तथा शर्वरी मे एकधर्माभिसम्बन्ध के आधार पर सादृश्य सम्भव नही। दूसरे यहा अम्बुदमाला तथा शर्वरी दोनो प्रस्तुत है। दीपक मे इसके विपरीत प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो का सन्निवेश आवश्यक है।

आवृत्तिदीपक के अन्य दो भेदो के उदाहरण इस प्रकार है —

"उन्मीलन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमा"

—कुवलयानन्द १६। ५०

"माद्यन्ति चातकास्तृप्ता माद्यन्ति च शिखावला"

—कुवलयानन्द १६। ५०

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि यहा वस्तुओ का एकधर्माभिसम्बन्ध अवश्य है, परन्तु कमी केवल इतनी है कि ये वस्तुए प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत न होकर प्रस्तुत हे। यदि इन वस्तुओ मे से एक अप्रस्तुत हो तो ये दीपक के उदाहरण हो सकते हे।

कतिपय आलङ्कारिको के अनुसार दीपक के लिए इतना ही पर्याप्त नही कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ मे एक धर्म हो परन्तु यह भी

---

१. दण्डी तथा भोज ने भी यह भेद स्वीकार किया है। देखिए काव्यादर्श २।११६ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण ४।७८

२. "त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम्।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ५३

"दीपकस्यानेकोपकारार्थतया दीपस्थानीयस्य पदस्यार्थस्योभयोर्वाऽऽवृत्तौ त्रिविधमावृत्तिदीपकम्।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ५४

आवश्यक है कि उस धर्म का शब्द द्वारा निर्देश भी केवल एक बार हो।[1]

इन आलङ्कारिको का यह मत उचित नही। दीपक के लिए धर्म का सकृत् निर्देश आवश्यक मानना उचित नही। दीपक के लिए आवश्यक केवल एक वस्तु है और वह है प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का एक एकधर्माभि-सम्बन्ध। यह एकधर्माभिसम्बन्ध जिस प्रकार धर्म के सकृत निर्देश की अवस्था मे सम्भव है उसी प्रकार उसके असकृत् निर्देश की अवस्था मे भी सम्भव है। उपर्युक्त उदाहरण मे 'माद्यन्ति' का दो बार निर्देश है परन्तु इससे चातक तथा शिखावल मे मादनधर्म के आधार पर सादृश्य होने मे अन्तर नही आता। यहा जो मादन धर्म चातक मे है वही शिखावल मे है। इस प्रकार दोनो का एक ही मादन धर्म से सम्बन्ध है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि धर्म के असकृत् निर्देश की अवस्था मे दीपक सम्भव है तो प्रतिवस्तूपमा तथा दीपक मे भेद का क्या आधार है। प्रतिवस्तूपमा मे भी एक सामान्यधर्म का पृथक् पृथक् निर्देश होता है और यही बात दीपक मे भी सम्भव है। अत दोनो अलंकारो मे कोई भेद न रहेगा।

इसका उत्तर इस प्रकार है--प्रतिवस्तूपमा मे सामान्यधर्म एक अवश्य होता है, परन्तु आश्रय के भेद से उसमे भेद होता है। "धन्यासि वैदर्भि! · ·· · ·" मे समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण एक हे। परन्तु विभिन्न आश्रयो से सम्बद्ध होने के कारण इनके रूप मे कुछ भेद अवश्य है। समाकर्षण का सम्बन्ध वैदर्भी तथा नैषध से है। उत्तरलीकरण का सम्बन्ध चन्द्रिका तथा समुद्र से है। वैदर्भी के द्वारा नैषध का समाकर्षण चन्द्रिका के द्वारा समुद्र के उत्तरलीकरण से भिन्न है। वैदर्भी के द्वारा नल का समाकर्षण दो चेतन प्राणियो का सम्बन्ध है। इसका कोई मूर्त रूप नही।

---

१. "सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्" —काव्यप्रकाश १०।१५६

'अत्र सूत्रे सकृत्पदोपादानात् यत्र प्रतिस्वं (प्रत्येक) भिन्ना धर्मा, एकस्यैव सर्वत्रोपादान तत्र नातिप्रसग। —यथा—

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव। तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र सलग्नम्"—प्रदीप—बालबोधिनी पृष्ठ ६४३

यह केवल अनुभूति का विषय है। चन्द्रिका तथा समुद्र का सम्बन्ध दो जड पदार्थो का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप समुद्र मे उत्पन्न उत्तरली-करण का मूर्तस्वरूप है और यह तरङ्गो के उभार के रूप मे हमारी दृष्टि का विषय बनता है। दीपक मे विद्यमान सामान्यधर्म मे इस प्रकार का भेद नही होता।

तुल्ययोगिता

तुल्ययोगिता मे दीपक से केवल इतना अन्तर है कि दीपक मे एकधर्माभिसम्बन्ध प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ मे होता है परन्तु तुल्ययोगिता मे वह प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत वस्तुओ मे होना है। यह मत अर्वाचीन आलङ्कारिको का है। इसका विवेचन पूर्व किया जा चुका है। प्राचीन आलकारिको मे केवल उद्भट का ऐसा मत है। भामह दण्डी, वामन तथा भोज का मत इससे भिन्न है। इन्होने अपनी परिभाषाओ मे प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का सन्निवेश नही किया है —

"न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता॥" —भामहालकार ३।२७

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥ —कव्यादर्श २।३३०

इन परिभाषाओ के प्रभाव मे आकर दीक्षित ने भी इस प्रकार की तुल्ययोगिता का उल्लेख किया है:—

"गुणोत्कृष्टै समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता।"—कुवलयानन्द १५।४७

इन परिभाषाओ मे दो तत्त्व है—एकधर्माभिसम्बन्ध तथा उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट वस्तु के साथ सम्बन्ध। इनमे प्रथम तत्त्व से हमारा कोई विरोध नही। हम भी तुल्ययोगिता मे इस तत्त्व की सत्ता स्वीकार करते है। हमने तुल्ययोगिता मे प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का जो सन्निवेश किया है उस पर हमारा कोई आग्रह नही और न ही हम इस सन्निवेश को पृथक् अलकार होने का हेतु बताते हैं। यही कारण है कि हमने दीपक तथा तुल्ययोगिता को एक ही अलकार के अन्तर्गत माना है।

प्राचीनो की परिभाषा के द्वितीय तत्त्व से हमारा विरोध अवश्य है। किसी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ जो समीकरण होता है वह उनमे विद्यमान किसी साधारणधर्म को लक्ष्य करके होता है और इस साधारणधर्म से उनका सम्बन्ध ही चमत्कार का कारण होता है। उन वस्तुओ मे से कुछ का उत्कृष्ट होना कोई अर्थ नही रखता। वस्तुओ का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष

उनमे निर्दिष्ट साधारणधर्म के आधार पर होता है और यह साधारणधर्म यहा उन वस्तुओ मे से कतिपय मे उत्कर्ष तथा कतिपय मे अपकर्ष की प्रतीति न कराकर उनमे सादृश्य की प्रतीति कराता है।

अप्पयदीक्षित हित तथा अहित मे वृत्ति की तुल्यता नामक तुल्ययोगिता का एक अन्य भेद मानते हैं—

"हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।
प्रदीयते पराभूतिर्मित्रशात्रवयोस्त्वया ॥" —कुवलयानन्द १४।४६

जगन्नाथ भी उपर्युक्त उदाहरण मे तुल्ययोगिता मानते है, परन्तु उनके अनुसार इसके लिए पृथक् भेद-कल्पना की आवश्यकता नही। तुल्ययोगिता की सामान्य परिभाषा से ही काम चल जाएगा।[1]

इन आलंकारिको के द्वारा उपर्युक्त उदाहरण मे तुल्ययोगिता मानना उचित नही। तुल्ययोगिता के लिए वस्तुओ का एकधर्माभिसम्बन्ध आवश्यक है। उपर्युक्त उदाहरण मे यह बात नही। यहा पराभव के दो अर्थ निकलते है—उत्कृष्ट भूति तथा पराभव। मित्र के साथ पराभूति का अर्थ उत्कृष्ट भूति लगता है तथा शत्रु के साथ पराभव लगता है। अत यहा मित्र तथा शत्रु का एक धर्म से सम्बन्ध नही कहा जा सकता।

इस प्रकार की एक तुल्ययोगिता का उल्लेख भोज ने भी किया है—

अन्ये सुखनिमित्ते च दु खहेतौ च वस्तुनि।
स्तुतिनिन्दार्थमेवाहुस्तुल्यत्वे तुल्ययोगिताम् ॥ —४।५५

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४७५

इस उदाहरण मे राम की दो विभिन्न परिस्थितियो मे आकारपरिवर्तन के अभाव को लेकर सादृश्य है। अत यहा तुल्ययोगिता सम्भव है।

---

१. "'हिताहिने वत्तितौल्यम् ' ' इत्यादिना तुल्ययोगितायाः प्रकारान्तर यत्कुवलयानन्दकृता लक्षितमुदाहृत च तत्परास्तम्। अस्या अपि 'वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता' इति पूर्वलक्षणाक्रान्तत्वात्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४२६

सहोक्ति

तुल्ययोगिता आदि से सहोक्ति मे केवल इतना भेद है कि तुल्ययोगिता मे वस्तुओ का एक धर्म से जो सम्बन्ध होता है वह प्रधान रूप से होता है परन्तु सहोक्ति मे कतिपय वस्तुओ का सम्बन्ध प्रधान रूप से तथा कतिपय का गौण रूप से होता है। अत इस आंशिक भेद के कारण इसे पृथक् अलकार न मानकर तुल्ययोगिता आदि का भेद मानना उचित होगा। इसका विवेचन पूर्व किया जा चुका है।

सहोक्ति के अलकारत्व के लिए आलंकारिक प्राय एक और तत्त्व मानते है। यह है इसकी अतिशयोक्तिमूलकता। अतिशयोक्ति के अभाव मे वस्तुओ का गुणप्रधानभाव से एकधर्माभिमम्बन्ध चमत्कार का कारण नही हो सकता। 'पुत्रेण सह पिता गच्छति' मे पुत्र तथा पिता का क्रमश गौणरूप से तथा प्रधानरूप से एक गमन क्रिया से सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु इस उक्ति के मूल मे अतिशयोक्ति नही। वस्तुओ का साधारण वर्णनमात्र है। अत यहा सहोक्ति अलकार नही।[1]

सहोक्ति के मूल मे स्थित अतिशयोक्ति के रुय्यक ने प्रथम दो भेद किए है। ये कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा तथा अभेदाध्यवसायरूपा है। अभेदाध्यवसाय के उन्होने फिर दो भेद किए है। ये श्लेषभित्तिक तथा शुद्ध है।[2]

विश्वनाथ का भी यही मत है। जगन्नाथ का इनसे कुछ मतभेद है। ये कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक सहोक्ति को स्वीकार नही करते। इनके अनुसार यह सहोक्ति न होकर अतिशयोक्ति है —

" 'केशैर्वधूनाम्' इत्यादौ पौर्वापर्यविपर्ययानुप्राणिता सहोक्तिरलकार इति न युक्तम्। अतिशयोरेवात्र चमत्कृत्याधायकत्वेन सहोक्तेर्नाममात्रत्वात्। 'तव कोपोऽरिनाशश्च जायते युगपन्नृप' इत्यस्मादतिशयोक्त्यलंका-

---

१ " पुत्रेण सह पिता गच्छति' इत्यादौ अलकाराभावात् अतिशयोक्तिमूलिकैव चमत्कारजनिका सहोक्तिरलकार.।"—बालबोधिनी पृष्ठ ६७३

२ तत्रापि नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः। सा तु कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च। अभेदाध्यवसायश्च श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा। ·· एतद्विशेषपरिहारेण सहोक्तिमात्र नालकारः।—अलकारसर्वस्व पृष्ठ ८६, ८७

रात् 'तव कोपो अरिनाशेन सहैव नृप जायते' इत्यत्र गुणभावमात्रकृतवैलक्षण्येऽपि विच्छित्तेरविशेषात् तस्यैव चालकारविभाजकत्वात् ।"

—रसगगाधर पृ० ४८६

जगन्नाथ का यह मत सर्वथा उचित है। "केशैर्वधूनामथ सर्वकोषै प्राणैश्च साक प्रतिभूपतीनाम् । त्वया रणे निष्करुणेन राजश्चापस्य जीवा चकृषे जवेन—"[1] इस उदाहरण मे केश आदि के साथ जीवा का कर्षण क्रिया से सम्बन्ध चमत्कार का कारण नही अपितु केशादि के समाकर्षण तथा जीवा के समाकर्षण मे विद्यमान कालगत सामीप्य का समकालीनत्व के द्वारा निगरण चमत्कार का कारण है। यदि यहा केश आदि का समाकर्षण धर्म से सम्बन्ध चमत्कार का कारण हो तो एकधर्माभिसम्बन्ध के आधार पर केशादि तथा जीवा मे सादृश्यप्रतीति होनी चाहिए । परन्तु हमे इनमे किसी प्रकार की सादृश्यप्रतीति नही होती। अतः यहा एकधर्माभिसम्बन्ध के आधार पर सहोक्ति मानना उचित नही।

उपर्युक्त उदाहरण मे कवि का तात्पर्य यह नही कि केशादि तथा जीवा मे एक समाकर्षण धर्म है अपितु यह तात्पर्य है कि केशादि का समाकर्षण तथा जीवा का समाकर्षण समकालीन है। अतिशयोक्ति मे ऐसा ही होता है। 'तव कोपोऽरिनाशश्च जायते युगपन्नृप' इस उदाहरण से यह स्पष्ट है।

केवल सह शब्द के सद्भाव से यह नही कहा जा सकता कि यहा सहोक्ति अलकार है। सह शब्द के द्वारा द्योतित सहभाव यहा केवल गौण है। यह समकालीनता के द्वारा कालगत सामीप्य के निगरण के रूप मे अभिव्यक्त अतिशयोक्ति का कारण है। अत उसी के अन्तर्गत है। जगन्नाथ का यही मत है।[2]

श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति का उदाहरण आलकारिको ने निम्नलिखित बताया है—

---

१. रसगंगाधर पृष्ठ ४८१

२. "अपि च सादृश्यप्रयुक्तरूपकादिषु सादृश्यस्य गुणत्वाच्चमत्कृतिविश्रान्तिधामभ्यो रूपकादिभ्यो यथा न पृथग्व्यपदेशत्वं तथा सहभावोक्त्याविर्भूताया: कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययात्मिकाया अतिशयोक्ते. सकाशादस्या सहोक्तेरपृथग्भाव एवोचितः ।"

—रसगगाधर पृष्ठ ४८६

"त्वयि कुपिते रिपुमण्डलखण्डनपाण्डित्यसंपदुद्दण्डे ।
गिरिगहनेऽरिवधूना दिवसै सह लोचनानि वर्षन्ति ॥"

रसगंगाधर पृ० ४८२

इस उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहा लोचनो तथा दिवसो का एक धर्म से सम्बन्ध नही। लोचनो का यहा सम्बन्ध वर्षण क्रिया से है तथा दिवसो का सम्बन्ध वर्षवदाचरण क्रिया से है। इस प्रकार लोचनो तथा दिवसो से सम्बद्ध कियाए भिन्न है। यह कहना उचित नही कि श्लेष के द्वारा एक शब्द से अभिव्यक्त होने के कारण उनमे एकता है, क्योकि शब्द की एकता शब्द से निकलने वाले विपरीत अर्थों की एकता का आधार नही हो सकती। इस प्रकार आलकारिको की श्लेष-भित्तिकाभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति पर भी सहोक्ति का सामान्य लक्षण चरितार्थ नही होता। अत इसे सहोक्ति के अन्तर्गत मानना उचित नही।

शुद्धाभेदाध्यवसानमूला सहोक्ति का उदाहरण इस प्रकार है —

"पद्मपत्रैर्नृणा नेत्रै सह लोकत्रयश्रिया ।
उन्मीलन्तो निमीलन्तो जयन्ति सवितु करा ॥"

—रसगगाधर पृ० ४८२

यहा पद्मपत्र आदि का उन्मीलन तथा निमीलन क्रिया से सम्बन्ध है। यद्यपि पद्मपत्र आदि के आश्रयभेद के कारण उनमे विद्यमान उन्मीलनो तथा निमीलनो मे भेद है, परन्तु इनमे एक सामान्य तत्त्व है। यह सामान्य तत्त्व प्रकटत्व तथा अप्रकटत्व के रूप मे है। पद्मपत्र का उन्मीलन तथा निमीलन विकास तथा सपुटीभाव रूप मे है तथा किरणो का उन्मीलन एव निमीलन प्रसरण तथा संकुचन रूप मे है, परन्तु प्रकटता तथा अप्रकटता इन दोनो प्रकार के उन्मीलनो तथा निमीलनो मे समान रूप से विद्यमान है। यही बात अन्य उन्मीलनो तथा निमीलनो के साथ है। इस सामान्य तत्त्व के कारण इन उन्मीलनो तथा निमीलनो मे एकता की प्रतीति होती है। अतः यहा पद्मपत्र आदि का एक क्रिया से सम्बन्ध है।[1]

---

१ अत्रोन्मीलननिमीलनयोः पद्मपत्राद्याश्रयभेदेन भिन्नयोरपि प्रकटत्वा-प्रकटत्वाद्येकोपाध्यवच्छिन्नतयाऽभिन्नीकृतयोरुपादानमित्यस्त्येकक्रियासम्बन्ध ।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४८२-४८३

प्रश्न उठ सकता है कि यदि कार्यकारणविपर्ययमूलक सहोक्ति मे सहभाव को गौण मानकर कार्यकारणविपर्ययरूप अतिशयोक्ति को प्रधान माना जाता है तो उपर्युक्त उदाहरण मे भी सहभाव को गौण मानकर अभेदाध्यवसाय को प्रधान क्यो नही मान लिया जाता ।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है—अभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति मे अभेदाध्यवसाय गौण होता है तथा वह सहोक्ति का उपकारक होता है। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि यहा चमत्कार का कारण विभिन्न उन्मीलनो एव निमीलनो मे अभेदाध्यवसाय नही, परन्तु इस अभेदाध्यवसाय के फलस्वरूप पद्मपत्र आदि का एक क्रिया से सम्बन्ध ही चमत्कार का कारण है। यहा कवि का उद्देश्य पद्मपत्र आदि का एकधर्म से सम्बन्ध दिखाकर उनमे सादृश्य बताना है। उन्मीलनो तथा निमीलनो मे अभेदाध्यवसाय इस सादृश्य मे सहायक है।

दूसरे अभेदाध्यवसाय यहा अतिशय के रूप मे है। यह अतिशय अनेक अलकारो के मूल मे होता है। 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' इस उपमा के मूल मे भी यह अतिशय है। यहा मुख का सौन्दर्य कमल के सौन्दर्य से भिन्न है। परन्तु अभेदाध्यवसाय के द्वारा उन्हे एक कहा गया है और इस प्रकार मुख तथा कमल मे सादृश्य सम्भव है। अत साधारणधर्म मे अभेदाध्यवसाय होने के कारण सहोक्ति का निराकरण नही किया जा सकता। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

प्रश्न उठ सकता है कि उपर्युक्त उदाहरण मे कार्यकारणपौर्वापर्य विपर्ययमूलक अतिशयोक्ति क्यो नही मान ली जाती। यहा सूर्य की किरणो का उन्मीलन तथा निमीलन पद्मपत्र आदि के उन्मीलन तथा निमीलन का कारण है। कारण की सत्ता सदा कार्य से पूर्व होती है।

---

१. "अभेदाध्यवसानमूलाया हि सहोक्तावभेदाध्यवसानेन सहोक्तिरुपस्क्रियते इति न गुणेन प्रधानस्य तिरस्कारः। अपितु प्रधानेन गुणस्येत्युक्तदिशा सावकाशैव सहोक्ति.।" —रसगंगाधर पृष्ठ ४८७

"किं च परस्पराभेदाध्यवसानमात्रमतिशय एव, नातिशयोक्तिः ''' ''। अतिशयमात्रं च प्रायशः साधारणधर्मांशे बहूनामलंकाराणामुपस्कारकम्। न हि 'शोभते चन्द्रवन्मुखम्' इत्यादौ चन्द्रमुखशोभयोर्वस्तुतो भिन्नयोरभेदाध्यवसानमन्तरेणोपमा समुल्लसति।" —रसगगाधर पृष्ठ ४८७

अत सूर्य की किरणो का उन्मीलन तथा निमीलन पद्मपत्र आदि के उन्मीलन तथा निमीलन मे पूर्व होना चाहिए। परन्तु यहा उनकी समकालीनता बताई गई है। इस प्रकार कार्यकारण के पौर्वापर्य मे विपर्यय होने के कारण यहा अतिशयोक्ति मानना उचित होगा।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है—सूर्य की किरणो का उन्मीलन तथा निमीलन पद्मपत्रादि के उन्मीलन तथा निमीलन का कारण अवश्य है, परन्तु हमे इनके उन्मीलनो तथा निमीलनो मे कालगत भेद लक्षित नही होता। काव्य लोक के अनुभव को प्रमाण मानकर चलता है। विज्ञान के सिद्धान्तो का सूक्ष्म विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय नही होता। अत जब सूर्य की किरणो तथा कमल के विकास का समकालीनत्व कहा जाता है तब हमे कार्यकारण के पौर्वापर्य मे कोई विपर्यय प्रतीत नही होता। अत उपर्युक्त उदाहरण मे अतिशयोक्ति न मानकर सहोक्ति मानना ही उचित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलकारिको के द्वारा अभेदाध्यवसाय के आधार पर सहोक्ति मानना सर्वथा उचित है। परन्तु अभेदाध्यवसाय को अतिशयोक्ति का अनिवार्य अग नही कहा जा सकता। अभेदाध्यवसाय के अभाव मे भी सहोक्ति सम्भव है। उपमा साधारणधर्म के अभेदाध्यवसाय अथवा अतिशय के अभाव मे सम्भव नही इसका यह अर्थ नही कि सहोक्ति भी अतिशय के अभाव मे सम्भव नही। उपमा तथा सहोक्ति मे अन्तर है। उपमा मे चमत्कार सादृश्य के कारण होता है परन्तु सहोक्ति मे वह एकधर्माभिसम्बन्ध के कारण होता है। सादृश्य के लिए आवश्यक है कि जिस साधारणधर्म की दृष्टि से उपमेय का उपमान से सादृश्य दिखाना है उसका उपमान मे अतिशय हो, परन्तु एकधर्माभिसम्बन्ध के लिए केवल इतना पर्याप्त है कि वस्तुओ का एक धर्म से सम्बन्ध हो। यह आवश्यक नही कि उनमे से कतिपय वस्तुओ मे साधारणधर्म अन्य वस्तुओ के साधारणधर्म की अपेक्षा अतिशयित मात्रा मे हो। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है—

"सह दिवसनिशाभिर्दीर्घा. श्वासदण्डा
सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति।
नव सुभग वियोगे तस्या उद्विग्नायाः, सह च तनुलतया दुर्बला जीवितांशा।"
—काव्यप्रकाश १०-४९५

यहा मणिवलयो तथा वाष्पधारा से सम्बद्ध गलनक्रिया मे अभेदाध्यवसाय नही। दोनो दशाओ मे गलनक्रिया एक ही है। यह कहना उचित नही कि गलन के एकजातीय होते हुए भी व्यक्तिभेद के कारण विभिन्न व्यक्तियो से सम्बद्ध गलनक्रियाओ मे भेद है क्योकि इस प्रकार तो 'लक्ष्मणेन सम राम कानन गहन ययौ' मे भी यही बात कही जा सकेगी। साहित्य दर्पण के टीकाकार रामचन्द्र भट्टाचार्य का यही मत है।[१]

इससे स्पष्ट है कि सहोक्ति के मूल मे अतिशयोक्ति अथवा अभेदाध्यवसाय का होना आवश्यक नही। हा इतना अवश्य है कि सहोक्ति मे वस्तुओ का जिस धर्म से सम्बन्ध हो वह चमत्कारयुक्त हो। इसी लिए अप्पयदीक्षित ने अपनी सहोक्ति की परिभाषा मे सहभाव के साथ जनरञ्जन शब्द का सन्निवेश किया है —

"सहोक्ति सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जन ।"

—कुवलयानन्द २१। ५८

प्राचीन आलकारिको मे रुद्रट ने इसका एक अन्य भेद किया है.—

यत्रैककर्तृकानेककर्माश्रिता क्रिया भवति, तत्र चैक प्रधानमुपमेयाख्य कर्मापरेण कर्मणोपमानेन सहोच्यते ।

यथा—स त्वा विभर्ति हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः सार्धम् ।

यहा नायिका तथा मनोरथो का एक भरण क्रिया मे सम्बन्ध है। इस प्रकार सहोक्ति की सामान्य परिभाषा इस पर पूर्णत लागू होती है। अत इसे पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नही।

सम्बद्ध वस्तुए कर्ता है अथवा कर्मादि, उनकी क्रियाए विविक्त है अथवा अविविक्त, इस आधार को लेकर भोज ने अतिशयोक्ति के अनेक

---

१. "वस्तुतस्तु यत्र वैचित्र्यमनुभूयते तत्रेवालकारत्वमगीकरणीयम्। अन्यथा 'सह मणिवलयेहिं वाष्पधारा गलन्ति' इति काव्यप्रकाशकारदत्तोदाहरणमसंगतम् स्यात्। अत्र स्वस्थानाच्च्यवनरूपं गमनमेकमेव । न च गमनयोरेकजातीयत्वेऽपि व्यक्तिभेदाद्भेद इति वाच्यम् । 'लक्ष्मणेन समं राम' काननं गहनं ययौ' इत्यादावपि तथाकल्पनस्य सभवात् ।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५६१

भेद किए है।[1] जगन्नाथ ने भी कर्तृसहोक्ति कर्मसहोक्ति आदि भेद किए है।[2] सादृश्यमूलक अलकारो का इस प्रकार का विभाजन उचित नही।

१. "कर्त्रादीना समावेश सहान्यैर्य क्रियादिषु।
विविक्तश्चाविविक्तश्च सहोक्ति. सा निगद्यते।"
—सरस्वतीकण्ठाभरण ४। ५७

२. "पूर्वा कर्तृसहोक्ति इयं तु कर्मसहोक्तिः" —रसगंगाधर पृष्ठ ४८२

समासोक्ति

समासोक्ति मे हमारा ध्यान प्रधानत वस्तुओ के व्यवहार पर केन्द्रित रहता है। हमे प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार मे अन्य वस्तु के व्यवहार की प्रतीति होती है और इस प्रतीति से उस अन्य वस्तु की अभिव्यक्ति होती है।[1] निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट हे —

---

१. यह मत अर्वाचीन आलङ्कारिको का है। प्राचीन आलङ्कारिको मे इसे केवल उद्भट का समर्थन प्राप्त है। भम्मह, दण्डी, रुद्रट, वामन तथा भोज के मत भिन्न हैं। इनके मतो को हम दो श्रेणियो मे विभक्त कर सकते है। इनमे से कुछ के अनुसार समासोक्ति मे एक वस्तु से अन्य वस्तु की प्रतीति होती है तथा दूसरों के अनुसार समासोक्ति मे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होती है। प्रथम मत भामह तथा दण्डी का है:—

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषण ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सङ्क्षिप्तार्थतया यथा ॥ —भामहालङ्कार २ । ७९

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन ।
उक्तिः सक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ॥ —काव्यादर्श २ । २०५

द्वितीय मत रुद्रट, वामन तथा भोज का है —

"अनुक्तौ समासोक्ति·" —काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४ । ३ । ३

"उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यास· समासोक्ति" —कामधेनु पृ० ६३

"यत्रोपमानादेवेतदुपमेय प्रतीयते ।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहु समासोक्ति मनीषिण· ॥"—सरस्वतीकण्ठाभरण ४ । ४६

द्वितीय मत से अर्वाचीनो का विशेष विरोध नही। ये भी मानते है कि अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति मे अलकार होता है। अन्तर इतना ही है कि ये उसे समासोक्ति न कहकर अप्रस्तुतप्रशसा कहते है। प्रथम मत से अर्वाचीनो का विरोध अवश्य है। इस मत के अनुसार प्रस्तुत से अप्रस्तुत की अभिव्यक्ति तथा अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति मे वैचित्र्यभेद नही। अत· इन दोनों दशाओं मे भिन्न अलङ्कार न होकर एक ही अलकार होता है। अर्वाचीन आलकारिको के मत का खण्डन करते हुए काव्यादर्श के टीकाकार रगाचार्यशास्त्री ने यही बात कही है —

"उत्सारयत्यलकमञ्जरिमञ्जनाभा
वक्षोजकुम्भवसनाञ्चलमुद्धुनोति।
बिम्बाधर किमपि चुम्बति पङ्कजाक्ष्या
लोल कपोलतलयोर्विपसजन् समीर ॥—अलकारकौस्तुभ पृ० २५२

यहा प्रस्तुत समीर के व्यवहार अलकापसरण आदि मे अप्रस्तुत नायक के व्यवहार की प्रतीति होती है तथा इससे नायक की अभिव्यक्ति होती है। उपर्युक्त उदाहरण मे अलकापसरण आदि जिन धर्मो का विधान है वे वायु तथा नायक मे साधारण हो इतना ही नही अपितु नायक के धर्मो के अर्थ मे वे अधिक प्रसिद्ध है। अत समीर के धर्मों के रूप मे इनका निर्देश होने से वे समीर के धर्मो के रूप मे ही हमे प्रतीत हो ऐसी बात नही अपितु नायक के धर्मो के रूप मे ये हमारी दृष्टि का विषय बनते हे और इस प्रकार नायक के धर्मों के रूप मे इनकी यह प्रतीति ही चमत्कार का कारण होती है। विश्वेश्वर ने इसका समर्थन किया है।[1]

"केचित्तु प्रस्तुतादप्रस्तुतावगतौ समासोक्तिः, अप्रस्तुतात् प्रस्तुतावगतौ च अप्रस्तुतप्रशसा इति एकस्यैव वैचित्र्यस्य उपन्यासप्रकारभेदे अलकारद्वयमाहुः परं तन्न रुचिरम्। वैचित्र्यविशेषाभावे ईदृशभेदकरणेऽलकाराणामानन्त्यापत्ते.।"

यह मत उचित नही। समासोक्ति मे प्रस्तुत से अप्रस्तुत की जो प्रतीति होती है तथा अप्रस्तुतप्रशसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की जो प्रतीति होती है उन दोनो प्रतीतियो में भेद है। समासोक्ति मे प्रतीत अप्रस्तुत व्यवहार प्रस्तुत वस्तु का व्यवहार बना हुआ प्रतीत होता है। अप्रस्तुतप्रशसा में प्रतीत व्यवहार पृथक् रूप से प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनो अलकारो के मूल में विद्यमान कवि की चित्तवृत्तियो में भी भेद होता है। समासोक्ति में प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार में कवि को अन्य वस्तु के व्यवहार के दर्शन होते हैं। अप्रस्तुतप्रशसा मे उसे प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार के सदृश अन्य वस्तु के व्यवहार की प्रतीति होती है। अत अर्वाचीनो का मत ही समीचीन है।

१ "इहालकापसारणस्तनवसनापकरणादयो धर्मा मारुतनायकोभयसाधारणा। समीरपद तु मारुत एव शक्तम्। अतो नायकप्रसिद्धधर्माणा मारुते समारोपात्तद-वच्छेदकतया अप्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः, अतः समीरे नायकव्यवहारारोपेण

प्रश्न उठ सकता है कि यदि समासोक्ति मे हमारा ध्यान वस्तुओ के व्यवहार अथवा धर्मों पर केन्द्रित रहता है तो प्रतिवस्तूपमा आदि से इसका कोई भेद न होना चाहिए। प्रतिवस्तूपमा आदि मे भी हमारा ध्यान वस्तुओ के साधारणधर्मों पर केन्द्रित रहता है।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है — प्रतिवस्तूपमा आदि मे हमे साधारणधर्मो की प्रतीति पृथक् पृथक् होती है। उनमे आश्रयभेद होता है। समासोक्ति मे इसके विपरीत वही आचरण अन्य आचरण के रूप मे प्रतीत होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे वायु का आचरण तथा नायक का आचरण हमारी दृष्टि के पृथक् पृथक् विषय बने और तब उनमे सादृश्य आदि सम्बन्ध प्रतीत हो ऐसी बात नही, परन्तु वायु का आचरण ही नायक के आचरण के रूप मे प्रतीत होता है।[1] प्रतिवस्तूपमा के उदाहरण "धन्यासि वैदर्भि! . " मे इसके विपरीत समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण की प्रतीति पृथक् पृथक् होती है। वही समाकर्षण उत्तरलीकरण नही बनता।

समासोक्ति मे व्यवहार पर दृष्टि केन्द्रित होने के कारण प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार पर अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार का आरोप ही चमत्कार का कारण होता है, प्रस्तुत वस्तु पर अप्रस्तुत वस्तु का आरोप चमत्कार का कारण नही होता। रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित का यही मत है।[2]

चमत्कारः। यद्यप्युक्तधर्माणा मारुतेऽपि सत्त्वेन नायकप्रसिद्धाना तेषा मारुते आरोप इति न युक्तम्, तथापि मारुते स्तनवसनालकादिनालम्बनं विशेषतो न प्रसिद्धम्। चालनहेतुत्वस्यैव तत्र प्रसिद्धेः।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २५२—२५३

१. "यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः।" —रसगंगाधर पृष्ठ ४६३

२ "विशेषणसाम्याद्धि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते। अवच्छेदकत्वाच्च व्यवहारसमारोप, न तु रूपसमारोपः।"

—अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ६२

"ततश्च समासोक्तावप्रस्तुतव्यवहारसमारोपश्चारुताहेतु न तु रूपक इव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतसमारोपोऽस्ति।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ७१

जगन्नाथ का इनसे मतभेद है। जगन्नाथ के अनुसार समासोक्ति मे प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत वस्तु का आरोप भी होता है । इनके अनुसार प्रकृत वस्तु के व्यवहार पर अप्रकृत वस्तु के व्यवहार के आरोप से यह स्पष्ट है कि यहा प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत वस्तु का आरोप होता है। अप्रकृत वस्तु के अनुपादान आदि जिन तर्को को अप्पयदीक्षित ने अपने मत के पक्ष मे उपस्थित किया है उनका जगन्नाथ ने विस्तारपूर्वक खण्डन किया है । जगन्नाथ आरोप के लिए प्रस्तुत एव अप्रस्तुत दोनो वस्तुओ का उपादान आवश्यक नही मानते । इसके लिए उन्होने रूपकध्वनि का उदाहरण उपस्थित किया है।[1] इनके अनुसार समासोक्ति का रूपक से केवल इतना भेद है कि रूपक मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो का उपादान होता है, परन्तु समासोक्ति मे अप्रस्तुत का उपादान नही होता।

समासोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदि का मत ही समीचीन है। उपर्युक्त उदाहरण मे हम वायु के व्यवहार पर नायक के व्यवहार का आरोप करते है। वायु का व्यवहार हमारी आखो के सामने है तथा नायक का व्यवहार पूर्व से ही हमारे ज्ञान का विषय बना हुआ है । हम इनमे से प्रथम पर द्वितीय का आरोप करते है और इसी तक सीमित रहते हैं। इसके बाद वायु पर नायक का आरोप करने के लिए आगे नही बढते। हम जब वायु के व्यवहार पर नायक के व्यवहार का आरोप कर देते है तब नायक वायु से कोई ऐसा पृथक् पदार्थ नही रहता जिसका वायु पर आरोप किया जाए। समीर के व्यवहार पर नायक के व्यवहार के आरोप के साथ ही समीर नायक बन जाता है। इस व्यवहार के आरोप से मुख पर चन्द्रमा के आरोप के समान समीर पर नायक का अरोप नही होता अपितु नायक का आचरण समीर का एक धर्म बन जाता है। समीर समीर रहते हुए भी नायक हो सकता है और ऐसा उसके व्यवहार पर नायक के व्यवहार के आरोप से होता है।

---

१. "यदप्युच्यते जारादिपदसमभिव्याहारस्य हेतोविरहान्न चन्द्रादौ जारत्वारोप इति । तत्र श्रौतारोपे तादृशसमभिव्याहारस्य हेतुत्वम्, नत्वार्थारोपे । अन्यथा रूपकध्वनेरुच्छेदापत्तेः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ५०३

'मुख चन्द्र' मे इससे भिन्न बात है। यहा चन्द्र मुख से पृथक् पदार्थ है। अत यहा हम मुख के सौन्दर्य मे चन्द्र के सौन्दर्यदर्शन तक ही सीमित नही रहते अपितु इससे आगे बढते हे तथा मुख पर चन्द्र का आरोप करते है।

प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार पर अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार के आरोप के लिए आवश्यक हे कि व्यवहार के द्योतक शब्द दोनो व्यवहारो पर समान रूप से घटे। ये शब्द श्लिष्ट अथवा अश्लिष्ट दोनो प्रकार के हो सकते है। आलकारिको ने इन शब्दो के लिए प्राय विशेषण शब्द का प्रयोग किया है.—

"विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति"

—अलङ्कारसर्वस्व सू० ३१

"विशेषणाना तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्तिनाम्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्व सा समासोक्तिरिष्यते।" —प्रतापरुद्रयशोभूषण

विशेषण के रूप मे प्रयुक्त ये शब्द जहा श्लिष्ट हो वहा आवश्यक है कि श्लिष्ट शब्द से निकलने वाले अर्थो मे साम्य हो, क्योकि केवल शब्दैक्य श्लिष्ट शब्द से निकलने वाले विभिन्न अर्थो के सादृश्य का आधार नही हो सकता।

विश्वनाथ ने अपनी समासोक्ति की परिभाषा मे विशेषण शब्द के अतिरिक्त कार्य तथा लिग शब्द का भी प्रयोग किया है—

"समासोक्ति समैर्यत्र कार्यलिगविशेषणै।
व्यवहारसमारोप प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन॥"

—साहित्यदर्पण १०—५६

विश्वनाथ का यह मत उचित नही। विशेषण शब्द प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ के धर्मो का सूचक है। ये धर्म कार्य तथा गुण आदि के रूप मे होते हे। अत कार्य शब्द का विशेषण शब्द से पृथक् निर्देश उचित नही।

विश्वनाथ के द्वारा परिभाषा मे 'लिग' शब्द का सन्निवेश भी उचित नही। स्वयं लिग अप्रस्तुत वस्तु का व्यञ्जक नही हो सकता। वह तो इस व्यञ्जकता मे व्यवहार की साधारणता का केवल सहकारिमात्र हो सकता है। यदि लिग अप्रस्तुत का व्यञ्जक हो तो 'निशामुख चुम्बति

चन्द्रिकैषा' मे भी निशा मे स्त्रीलिग का प्रयोग नायिका का व्यञ्जक होना चाहिए। परन्तु ऐसी बात नही।[1]

रुय्यक ने विशेषणो के औपम्यगर्भत्व को भी अप्रस्तुत का व्यञ्जक बताकर वहा समासोक्ति स्वीकार की है।[2] इनका औपम्यगर्भत्व का उदाहरण इस प्रकार है —

"दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा।"

—अलकारसर्वस्व पृ० ९४

इस उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहा समासोक्ति न होकर एकदेशविवर्तिनी उपमा है। समासोक्ति के लिए आवश्यक है कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं के धर्मो मे साधारणता हो। यहा ऐसी बात नही। यहा प्रस्तुत वस्तु के धर्म दन्तप्रभा आदि है तथा अप्रस्तुत वस्तु के धर्म पुष्प आदि है। इन धर्मो मे केवल सादृश्य है साधारणता नही। साधारणता तो तब सम्भव थी जब दन्तप्रभा आदि ही अप्रस्तुत वस्तु के धर्म बनते। यहा दन्तप्रभा आदि का पुष्प आदि से सादृश्य होने के कारण हरिणेक्षणा का लता से सादृश्य व्यग्य है। अत यहा समासोक्ति न होकर एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

प्रदीप तथा प्रभा मे उपर्युक्त उदाहरण मे 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि समासो के दो प्रकार से विग्रह करके एक को हरिणेक्षणा के साथ जोडा गया है तथा दूसरे को लता के साथ और इस प्रकार विशेषण-साम्य के आधार पर समासोक्ति अलकार सिद्ध करने का यत्न किया गया है।[3]

---

१ "व्यञ्जक हि तत्र मुखचुम्बनादिकमेव स्त्रीत्वादिक तु सहकारिमात्रम्। किं च स्त्रीलिगादिक न निरपेक्ष नायिकात्वादिव्यञ्जकम्। 'निशामुख चुम्बति चन्द्रिकैषा' इत्यादावपि तदापत्ते।" —अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २५६

२. "तच्च विशेषणसाम्य श्लिष्टतया, साधारण्येन औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा।" —अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ६२

३. "अत्र नायिकाविशेषणत्वस्य 'दन्तप्रभा पुष्पाणीव' इत्युपमितसमासेन सिद्धौ 'दन्तप्रभासदृशै पुष्पै' इति समासान्तराश्रयणेन लतावृत्तान्तस्य परिस्फूर्तिरिति समासोक्ति।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६१२

यह मत समीचीन नही। विशेषणसाम्य से यह अर्थ नही कि वे शब्द दोनो ओर जुडते हे अपितु अर्थ यह है कि उन विशेषणो से अभिव्यक्त अर्थ दोनो ओर जुडते हे। उपर्युक्त उदाहरण मे यह बात नही।

अप्पयदीक्षित ने सरूप्य के आधार पर भी समासोक्ति स्वीकार की है —

"सारूप्यादपि समासोक्तिर्दृश्यते। यथा वा—

'पुरा यत्र स्रोत पुलिनमधुना तत्र सरिता
विपर्यास यातो घनविरलभाव क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्ट कालादपरमिव मन्ये वनमिद
निवेश शैलाना तदिदमिति बुद्धि द्रढयति॥'

अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात्कुटुम्बिषु धनमतानादिसमृद्धय-समृद्धिविपर्यास प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादे वृत्तान्त प्रतीयते।"

—कुवलयानन्द पृ० ७०

यह मत युक्तिसगत नही। यहा प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत वर्णन की व्यक्ति अवश्य होती है परन्तु प्रस्तुत वस्तु के धर्म तथा अप्रस्तुत वस्तु के धर्मो मे यहा साधारणता नही। प्रस्तुत वन मे स्रोतस् आदि जो धर्म है वे धर्म अप्रस्तुत ग्रामनगरादि मे नही है, अपितु इनसे भिन्न धर्म धनसतान की समृद्धि आदि वहा विद्यमान हे। अत यहा समासोक्ति अलकार नही। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

वस्तुत उपर्युक्त उदाहरण मे ध्वनि मानना उचित होगा। ध्वनि-काव्य मे चमत्कार व्यग्यार्थ के कारण होता है। यहा भी यही बात है। यहा अप्रस्तुत व्यग्यार्थ ही चमत्कार का कारण है। हम यह कहकर कि व्यग्यार्थ यहा अप्रस्तुत है इसे ध्वनिकाव्य से बाहर नही कर सकते। व्यग्यार्थ का प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होना ध्वनि का अनिवार्य अग नही। यदि हमे व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है और यही प्रतीति चमत्कार का

---

१ "समासोक्तौ हि प्रकृतवृत्तान्तोऽप्रकृतवृत्तान्ताभेदेन स्थित इति सर्व-समतम्। त्वयापि च 'प्रकृतधर्मिण्यप्रकृतव्यवहार आरोप्यते' इत्युक्तम्। एव स्थिते नह्यत्र स्रोतोवृक्षादिविपर्यासो धनसंतानविपर्यासाद्यभेदेन प्रतीयते।"

—रसगगाधर पृष्ठ ५१३–५१४

कारण जान पडती है तो हमे वहा ध्वनि मानने मे आपत्ति न होनी चाहिए।

प्रश्न उठ सकता है कि समासोक्ति मे भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अत इसे भी ध्वनि के अन्तर्गत क्यो नही मान लिया जाता। इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है—समासोक्ति मे व्यंग्यार्थ होता अवश्य है परन्तु चमत्कार का प्रधान कारण वह न होकर वाच्यार्थ होता है। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का केवल उपकारक होता है। समासोक्ति के उदाहरण 'उत्सारयत्यलकम् ' मे अप्रस्तुत नायक का व्यवहार स्वत चमत्कार का कारण नही, परन्तु वह प्रस्तुत वायु के व्यवहार पर आरोपित होकर उसे एक नवीन रूप प्रदान करता है और यह नवीन रूप ही चमत्कार का कारण है। समासोक्ति मे अप्रस्तुत व्यवहार की व्यक्ति होने पर उसे पुन प्रस्तुत व्यवहार की ओर मुडना पडता है और तब उस अप्रस्तुत व्यवहार को आत्मसात् करके प्रस्तुत व्यवहार ही हमारे चमत्कार का कारण बनता है। जगन्नाथ ने समासोक्ति मे विद्यमान उपर्युक्त प्रक्रिया की ओर सकेत किया है।[1]

समासोक्ति मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत व्यवहारो के लौकिक अथवा शास्त्रीय होने के आधार पर रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने समासोक्ति के भेद किए है। ये चार भेद है—लौकिक व्यवहार पर लौकिक व्यवहार का, शास्त्रीय पर शास्त्रीय का, लौकिक पर शास्त्रीय का तथा शास्त्रीय पर लौकिक का आरोप।[2]

---

१ "कि तु प्रकृतवाक्यार्थघटका: पदार्थास्तादात्म्येनाप्रकृतघटकपदार्थालीढा एव वैशिष्ट्यमनुभवन्तो महावाक्यार्थरूपेण परिणमन्तीति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।"

—रसगगाधर पृष्ठ ५०६

२ "सेय लौकिके व्यवहारे लौकिकस्य व्यवहारस्य, शास्त्रीये शास्त्रीयस्यारोपेण, एतद्विपर्ययेण च चतुर्धा।"

—रसगगाधर पृष्ठ ५१४

अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुतप्रशसा मे कवि प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार का सादृश्य किसी अन्य वस्तु के व्यवहार से देखता है तथा प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार की अभिव्यक्ति के लिए उस अन्य वस्तु के व्यवहार के वर्णन को ही अपनी अभिव्यञ्जना का माध्यम बनाता है। अत ऐसी दशा मे अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार के वर्णन से सहृदय को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार की प्रतीति होना स्वाभाविक है। अप्रस्तुतप्रशसा की निम्नलिखित परिभाषाओ से यह स्पष्ट है —

अप्रस्तुतप्रशसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया" १० । १५१
"अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेप"

—काव्यप्रकाश पृ० ६१८

"अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुत यत्र गम्यते ।
अप्रस्तुतप्रशसेय सारूप्यादिनियन्त्रिता ।।"[1]

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ३१९

---

१ प्राचीन आलङ्कारिको में दण्डी तथा भोज की परिभाषाए इनसे भिन्न है। दण्डी के अनुसार अप्रस्तुत की स्तुति के द्वारा प्रस्तुत की निन्दा अप्रस्तुत प्रशसा होती है —

"अप्रस्तुतप्रशसा स्यादपक्रान्तेषु या स्तुति ।" —काव्यादर्श २ । ३४०

दण्डी के अनुसार अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति समासोक्ति में भी होती है। अत इनके अनुसार अप्रस्तुतप्रशसा का समासोक्ति से केवल इतना भेद है कि अप्रस्तुतप्रशसा में अप्रस्तुत की जो व्यक्ति होती है वह अप्रस्तुत की स्तुति के द्वारा प्रस्तुत की निन्दा के रूप में होती है। रगाचार्यशास्त्री की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है —

"अयमाचार्यदण्डी तु अप्रस्तुताद्वाच्यात् प्रस्तुतस्य प्रतीतौ समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसया प्रस्तुतस्य निन्दा अप्रस्तुतप्रशसा इति विषयविभागेनालकारद्वयं स्वीकरोति।" —काव्यादर्श टीका पृष्ठ २६८, २६९

इस प्रकार दण्डी स्तुति तथा निन्दा को अलङ्कारविभाजन का आधार मानते है। यह उचित नहीं। सादृश्यमूलक अलकारो का विभाजन सादृश्य

जगन्नाथ के अनुसार अप्रस्तुतप्रशमा के लिए यह आवश्यक नही कि वर्णित व्यवहार अप्रस्तुत हो तथा व्यग्य व्यवहार प्रस्तुत हो। उनके अनुमार इसके लिए केवल इतना पर्याप्त है कि एक व्यवहार से अन्य व्यवहार की अभिव्यक्ति हो। यह अभिव्यक्ति जिस प्रकार अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार के रूप मे सम्भव है उसी प्रकार प्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूप मे तथा प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत के रूप मे भी सम्भव है।

प्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार की अभिव्यक्ति के समर्थन मे जगन्नाथ कहते है—

"यत्रात्यन्तमप्रस्तुतेन वाच्येन प्रस्तुत गम्यते स प्रकारो निगदित एव। यत्र च स्थलविशेषे वृत्तान्तद्वयमपि प्रस्तुत सोऽप्येक।"

—रसगगाधर पृ० ५४२

जगन्नाथ की उपर्युक्त उक्ति पर विरोधी प्रश्न करते है कि अप्रस्तुतप्रशसा की सभी परिभाषाओ मे वाच्यार्थ को अप्रस्तुत कहा गया है। उपर्युक्त उक्ति इसके विरोध मे पडती है। इसके उत्तर मे जगन्नाथ कहते है कि अप्रस्तुत शब्द का अर्थ मुख्यतात्पर्यविषय से अतिरिक्त अर्थ है। यह

तत्त्व के आधार पर होना चाहिए स्तुति अथवा निन्दा के आधार पर नहीं। यदि इस स्तुति को भेद का प्रयोजक मानना ही है तो वह एक ही अलकार के विभेद करके सम्भव है।

जगन्नाथ ने भी दण्डी की उपर्युक्त परिभाषा का खण्डन किया है। जगन्नाथ कहते हैं कि अप्रस्तुतप्रशसा में प्रशसा का अर्थ वर्णनमात्र है स्तुति नहीं—

"प्रशसनम् च वर्णनमात्रम् न तु स्तुति" —रसगगाधर पृष्ठ ५३७

भोज के अनुसार अप्रस्तुतप्रशसा में सादृश्यमूलकता ही नहीं होती—

"अप्रस्तुतप्रशसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुति।

कुतोऽपि हेतोर्वाच्या च प्रत्येतव्या च सोच्यते॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।५२

इसकी व्याख्या करते हुए जगद्धर लिखते हैं—

"अत एव समासोक्तेर्भेद। तत्र ह्युपमानोपमेयता, अत्र तु निन्दितमर्थान्तरम्, अन्यस्य स्तुतिरिति।"

यदि ऐसी बात है तो जगन्नाथ को प्रस्तुत से प्रस्तुत के की दशा मे अलकार न मानकर ध्वनि माननी चाहिए। यह तो हो सकना कि इस दशा मे अलंकार भी हो तथा ध्वनि भी हो।

दूसरे यदि प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति को अप्रस्तुतप्रशसा के अन्तर्गत रखा जाता है तो समस्त ध्वनि काव्य अप्रस्तुतप्रशसा के अन्तर्गत आ जाएगा। जगन्नाथ इसके उत्तर मे कहते है कि जहा प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति सादृश्यादि निर्दिष्ट प्रकारो मे से किसी एक के द्वारा होगी वहा अप्रस्तुतप्रशसा होगी और जहा यह व्यक्ति इन प्रकारो से अतिरिक्त किसी प्रकार के द्वारा होगी वहा ध्वनि होगी।[1]

जगन्नाथ का यह मत समीचीन नही। ध्वनि तथा अलंकार का भेद यही है कि ध्वनि मे चमत्कार व्यंग्यार्थ के कारण होता है तथा अलकार मे वह वाच्यार्थ के कारण होता है। यदि किसी स्थल मे चमत्कार व्यंग्यार्थ के कारण है तो हम केवल इस आधार पर कि वह व्यंग्यार्थ सादृश्यादि के द्वारा व्यक्त होता है उस स्थल को ध्वनि से इतर श्रेणी मे नही रख सकते।

जगन्नाथ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति को भी अप्रस्तुतप्रशसा के अन्तर्गत रखते है। ऐसा करने के लिए वे अप्रस्तुतप्रशसा का अर्थ 'अप्रस्तुतस्य प्रशसा' न करके 'अप्रस्तुतेन प्रशसा' करते है। अप्रस्तुत के द्वारा यह प्रशसा प्रस्तुत की होती है। प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति की दशा मे व्यग्य अप्रस्तुत के द्वारा वाच्य प्रस्तुत की प्रशसा होती है।[2]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसगत नही। जगन्नाथ प्रशसा का या तो उत्कर्षाधान अर्थ ले सकते है या प्रतीति अर्थ ले सकते है। यदि वे प्रथम अर्थ लेते है तो उन्ही के उदाहरणो 'दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डा

---

१. "न च ध्वनिमात्रस्याप्रस्तुतप्रशसात्वापत्तिरिति वाच्यम्। अत एव तत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेणेति विशेषणमुपात्तमिति विभावनीयम्।"—रसगगाधर पृष्ठ ५४२

२ "अप्रस्तुतप्रशसैवात्रालङ्कार। अप्रस्तुतस्य प्रशसेति न तदर्थ। किं त्वप्रस्तुतेनेति। सा चार्थात्प्रस्तुतस्यैव। एव च वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्य व्यक्त वा प्रस्तुत यत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशसेति। न तु वाच्येनैव व्यग्यमेवेति।" —रसगगाधर पृष्ठ ५४५

करटिन   'आदि पर अप्रस्तुतप्रशसा की परिभाषा लागू नही होती और यदि वे द्वितीय अर्थ लेते है तो 'आपेदिरेऽम्बरपथ परित पतङ्गा   'नामक जिस उदाहरण को वे अप्रस्तुतप्रशसा के अन्तर्गत करना चाहते है वही अप्रस्तुतप्रशसा के;क्षेत्र से बाहर हो जाता है। नागेशभट्ट की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है —

"कि चाप्रस्तुतेन प्रस्तुत प्रशस्यते इत्यस्य कोऽर्थ ? यद्युत्कर्षाधान तर्हि प्रतीयमानार्थानध्यारोपविषयेपु दिगन्ते श्रूयन्ते इत्याद्युदाहरणेष्वव्याप्ति । न हि ताटस्थ्येन स्थितोऽप्यर्थो वाच्योत्कर्षक इति युक्त सहृदयसमत वा। यदि प्रतीतिमात्र तर्हि न प्रकृते।"

—रसगगाधर पृ० ५४४

अत अप्रस्तुतप्रशसा मे अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की व्यक्ति मानना ही उचित है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रस्तुत का वर्णन न करके अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है तो अतिशयोक्ति से इसका कोई भेद न होना चाहिए । अतिशयोक्ति मे भी प्रस्तुत का वर्णन न करके अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है। अतिशयोक्ति के उदाहरण 'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्'' मे प्रस्तुत मुखादि का वर्णन न करके अप्रस्तुत कमलादि का वर्णन किया गया है।

इसका उत्तर इस प्रकार है—अतिशयोक्ति मे अभेदाध्यवसाय अथवा निगरण होता है, अप्रस्तुतप्रशसा मे यह नही होता। अतिशयोक्ति मे उपमेय का निर्देश न करके जो केवल उपमान का निर्देश किया जाता है वह उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके होता है। उपमेय की सत्ता यहा सर्वथा विलीन होकर उपमान के रूप मे परिणत हो जाती है। अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रस्तुत की सत्ता विलीन होकर अप्रस्तुत के रूप मे परिणत नही होती। यहा प्रस्तुत अर्थ पृथक् होता है तथा अप्रस्तुत अर्थ पृथक् होता है। कवि यहा प्रस्तुत का वर्णन न करके जो अप्रस्तुत का वर्णन करता है वह इसलिए नही कि उसे प्रस्तुत मे अप्रस्तुत के दर्शन होते है अपितु इसलिए कि प्रस्तुत के सदृश उसे एक अप्रस्तुत अर्थ भी दिखाई देता है। जगन्नाथ ने भी अतिशयोक्ति से

१. काव्यप्रकाश पृष्ठ ६२६

अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद का समर्थन किया है।[1]

अप्रस्तुतप्रशंसा की सादृश्यमूलकता के लिए आवश्यक है कि अप्रस्तुत तथा उसमें व्यक्त होने वाले प्रस्तुत में सादृश्य सम्बन्ध हो। जहां यह सम्बन्ध सादृश्य के रूप में न होकर अन्य किसी रूप में होगा वहां हम सादृश्यमूलक अलंकार नहीं मान सकते। अर्वाचीन आलङ्कारिकों ने अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत में प्रायः तीन प्रकार के सम्बन्ध माने हैं। ये सारूप्य, सामान्य-विशेषभाव तथा कार्यकारणभाव हैं।[2]

इनमें सारूप्य सम्बन्ध तो सादृश्य के अन्तर्गत है ही, सामान्यविशेषभाव सम्बन्ध को भी सादृश्य के अन्तर्गत मानना उचित होगा। तीसरा सम्बन्ध कार्यकारणभाव सादृश्य के अन्तर्गत नहीं आता। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के वे भेद जो अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के कार्यकारणभाव सम्बन्ध पर आश्रित हैं सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत नहीं आते। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है—

"गच्छामीति मयोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं
त्यक्त्वा तिर्यगवेक्ष्य बाष्पकलुषेणैकेन मां चक्षुषा।
अद्य प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया बध्यता—
मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः ॥"

—साहित्यदर्पण पृ० ५७४

यहां मृगशिशु के प्रति इस प्रकार का भाषण अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत के द्वारा 'तुम मत जाओ' इस प्रस्तुत अर्थ की व्यक्ति होती है। यह प्रस्तुत अर्थ अप्रस्तुत अर्थ का कार्य है।[3] इस अगमनरूप कार्य तथा

---

१ " 'यस्मिन् खेलति' 'दिगन्ते श्रूयन्ते' इत्यादौ वाच्यार्थताटस्थ्येनैव व्यंग्यस्य प्रतीतेः सर्वहृदयसमतत्वात्। ... किं चाप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुतं व्यंग्यमिति निर्विवादम्। निगीर्याध्यवसाने तु लक्ष्यं स्यात्।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४५६

२ "न चाप्रस्तुतादसम्बन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः, अतिप्रसंगात्। सम्बन्धे तु भवन्ती त्रिविधं सम्बन्धं नातिवर्तते, तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वात्। त्रिविधश्च सम्बन्धः सामान्यविशेषभावः, कार्यकारणभावः, सारूप्यं चेति।"— अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १२२

३ 'अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम्।'—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५७४

इसके कारण उपर्युक्त भाषण मे कोई सादृश्य नही। अत उपर्युक्त उदाहरण सादृश्यमूलक अलकारो के अन्तर्गत नही आता।

जहा कार्यकारणसम्बन्ध की दशा मे अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत मे सादृश्य होता भी है वहा चमत्कार का कारण सादृश्य न होकर कार्यकारणभाव ही होता है। निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है:—

"नाथ त्वदङ्घ्रिनखधावनतोयलग्ना—
स्तत्कान्तिलेशकणिका जलधि प्रविष्टा।
ता एव तस्य मथनेन घनीभवन्त्यो
नून समुद्रनवनीतपद प्रपन्ना॥" —कुवलयानन्द पृ० ८५

यहा अप्रस्तुत चन्द्रकान्ति तथा उससे प्रतीत होने वाली उसकी कारणभूत भगवत्पादनखकान्ति मे सादृश्य अवश्य है, परन्तु यहा चमत्कार का कारण उनका सादृश्य न होकर उनका कार्यकारणसम्बन्ध है।

अप्पयदीक्षित ने अप्रस्तुतप्रशसा मे उपर्युक्त सम्बन्धो के अतिरिक्त सहोत्पत्ति आदि अन्य सम्बन्धो का भी उल्लेख किया है,[1] परन्तु इन सम्बन्धो का सादृश्य से कोई सम्बन्ध नही। अत सादृश्यमूलक अलकारो के अन्तर्गत इनके विवेचन की आवश्यकता नही।

सारूप्य अथवा सादृश्य के मम्मट ने उसके हेतु की दृष्टि से पुन तीन भेद किए है। ये इस प्रकार है—श्लेषहेतुक सादृश्य, समासोक्तिहेतुक सादृश्य तथा सादृश्यमात्र —

"तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकारा। श्लेष, समासोक्ति, सादृश्यमात्र वा तुल्यात् तुल्यस्य ह्याक्षेपे हेतु॥"

—काव्यप्रकाश पृ० ६२२

मम्मटकृत इन भेदो पर विचार करने से प्रतीत होगा कि समासोक्ति को अप्रस्तुतप्रशसा मे विद्यमान सादृश्य का हेतु मानना उचित नही। समासोक्तिजन्य चमत्कार तथा अप्रस्तुतप्रशंसाजन्य चमत्कार मे भेद होता है। समासोक्ति मे चमत्कार का कारण व्यवहार की साधारणता के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति होती है। अप्रस्तुतप्रशसा मे इसके विपरीत व्यवहारसादृश्य के कारण अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति चमत्कार का

---

१. "अत्र सहोत्पत्त्यादिकमपि सम्बन्धान्तरमाश्रयणीयमेव॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ८७

कारण होनी है। इस प्रकार दोनो अलकारो के चमत्कार-हेतुओ मे विरोध होने के कारण एक अलकार को अन्य अलकार का हेतु मानना उचित नही। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

यदि समासोक्ति का अर्थ 'विशेषणश्लिष्टता मे द्वितीयार्थमात्रप्रतीति' लिया जाता है तो अप्रस्तुतप्रशसा मे समासोक्तिहेतुकता सम्भव है। जगन्नाथ ने समासोक्ति का यही अर्थ लेकर मम्मट की उक्ति की सगति बिठाई है।[2]

मम्मट की उपर्युक्त उक्ति मे समासोक्ति का अर्थ 'विशेषणश्लिष्टता के द्वारा द्वितीयार्थप्रतीति' लेने पर उनके द्वारा प्रयुक्त श्लेष का अर्थ विशेषणविशेष्योभयश्लिष्टता के द्वारा द्वितीयार्थप्रतीति ही लिया जा सकता है। आलकारिको ने समासोक्ति तथा श्लेष के ये ही अर्थ लेकर अर्थ-सगति बिठाई है —

"अप्रकृतोक्त्या प्रकृताक्षेपस्थले उक्तयो श्लेषसमासोक्त्यलकारयोर-सभवात्। अत्र श्लेषपद विशेषणविशेष्यवाचिशब्दाना सर्वेषामेवोभयार्थ-बोधकपरम् समासोक्तिपद च विशेषणमात्रस्योभयार्थबोधकपरमिति बोध्यम्।"
—बालबोधिनी पृ० ६२२

यदि समासोक्ति का अर्थ विशेषणश्लिष्टता लिया जाता है तथा श्लेष का अर्थ विशेषणविशेष्योभयश्लिष्टता लिया जाता है तो समासोक्ति तथा श्लेष का पृथक् पृथक् निर्देश न करके मम्मट द्वारा एक श्लेष का निर्देश ही उचित था। इसी एक श्लेष के अन्तर्गत दोनो प्रकार की श्लिष्टताओ का उल्लेख हो सकता था।

प्रश्न उठ सकता है कि श्लिष्टविशेषणता की दशा मे तो अप्रस्तुतप्रशसा सम्भव है, विशेष्यश्लिष्टता की दशा मे वह किस प्रकार सम्भव है। क्योकि विशेष्य के जहा दो अर्थ निकलेगे वहा प्रकरण आदि के द्वारा अभिधेय रूप मे प्रथम उपस्थिति प्रस्तुत अर्थ की होगी और उससे अप्रस्तुत अर्थ की

---

१. "समासोक्तिरत्रानुग्राहिकेति तु न वक्तव्यम्। तस्या प्रकृतालङ्कारविरुद्धा-त्मिकात्वेनानुग्राहिकात्वायोगात्।" —रसगगाधर पृष्ठ ५३८

२ "तस्माच्छ्लिष्टविशेषणोपस्थितद्वितीयार्थमात्र समासोक्तिरित्यभिप्रायेण यथाक-थञ्चित्सगमनीयम्।" —रसगगाधर पृष्ठ ५३६

व्यक्ति होगी। अप्रस्तुतप्रशसा मे इसके विपरीत वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है ओर उससे प्रस्तुत अर्थ की व्यक्ति होती है। हेमचन्द्र का यही मत है।[1]

इस विषय मे हमारा कहना है कि प्रकरण की अनुकूलतामात्र प्रत्येक स्थिति मे प्रस्तुत अर्थ की प्रथम उपस्थिति की निर्णायक नही कही जा सकती। वस्तुत इस अनुकूलतामात्र को हम प्रस्तुत अर्थ की प्रथम उपस्थिति की निर्णायक वही कह सकते है जहा श्लिष्ट शब्द स निकलने वाले प्रस्तुत एव अप्रस्तुत अर्थ समानबलयुक्त हो, अन्यत्र नही। उदाहरणत श्लिष्ट शब्दो से निकलने वाले अर्थो मे से यदि एक योगिक है तथा अन्य रूढ है, तो 'रूढिर्योगाद्बलीयसी' इस सिद्वान्त के अनुसार वहा सबलता रूढ अर्थ की होगी। ऐसी स्थिति मे प्रकरण की अनुकूलतामात्र यौगिक अर्थ की प्रथम उपस्थिति की निर्णायक नही कही जा सकती। इस दशा मे यौगिक अर्थ की प्रथम उपस्थिति तभी सम्भव है जब इसे सबल बनाने के लिए अपेक्षित प्रकरणानुकूलता पर्याप्त रूप मे विद्यमान हो। परन्तु यदि ऐसा नही होता है तो वहा प्रथम उपस्थिति अप्रस्तुत रूढ अर्थ की ही होगी और उससे व्यक्ति प्रस्तुत यौगिक अर्थ की होगी। इस प्रकार वहा अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार होगा। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

''पुंस्त्वादपि प्रविचलेत् यदि यद्यधोऽपि यायात् यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीय केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥''

—काव्यप्रकाश १०। ४४३

यहा पुरुषोत्तम शब्द के दो अर्थ है—पुरुषो मे श्रेष्ठ तथा विष्णु। प्रथम अर्थ यौगिक है तथा द्वितीय योगरूढ है। प्रकरण यहा यौगिक अर्थ के अनुकूल अवश्य है परन्तु वह उसकी प्रथम

---

१. ''विशेष्यश्लिष्टता तु अन्योक्तिप्रयोजकता न वाच्या। 'पुंस्त्वादपि प्रविचलेत् ... ...' इत्यादौ पुरुषोत्तमशब्दस्यार्थद्वयवाचकत्वेऽपि सत्पुरुषचरितस्य प्रस्तुतत्वादभिधा एकत्र नियन्त्रितेति सत्पुरुष एव वाच्यो न विष्णुः तच्चरितस्याप्रकृतत्वात्।''

—काव्यानुशासन पृष्ठ ३६६

उपस्थिति कराने के लिए पर्याप्त नही। इसका कारण यह है कि यहा पुरुषोत्तम शब्द 'केन' शब्द से जुडा हुआ है। अत यह पुरुषोत्तम कोई क्यो न हो होगा यह राजा से अन्य ही। और अन्य होने के नाते इसमे प्रसिद्ध अर्थ विष्णु का ही बोध प्रथम होगा। यदि इस पुरुषोत्तम का प्रयोग राजा के लिए होता तथा पुरुषोत्तम से सम्बन्धित 'ध्रु स्त्वादपि प्रविचलेत्

' आदि धर्मो का उल्लेख राजा के द्वारा किए हुए आचरणो के रूप मे होता तब अन्य बात थी। परन्तु यहा ऐसा नही किया गया है। यहा तो राजा को प्रोत्साहित करने के लिए उसके मन्त्री ने व्यक्ति-विशेष का वर्णन किया है।[1] अत प्रकरण यहा यौगिक अर्थ को बलवान् बनाने मे समर्थ नही। अथवा इसे हम यो कह सकते है कि यहा यौगिक अर्थ को प्रधान बनाने के लिए अपेक्षित प्रकरणानुकूलता पर्याप्त रूप मे विद्यमान नही।

ऐसा होते हुए भी डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी ने उपर्युक्त उदाहरण मे योगरूढ अर्थ को प्रधान न मानकर यौगिक अर्थ को प्रधान माना है। उनका कहना है कि उपर्युक्त उदाहरण मे योगरूढ अर्थ को प्रधानता मानने से कई असगतिया उत्पन्न होगी। प्रथम तो यह कि शब्दशक्ति-मूलध्वनि के प्रसग मे मम्मट द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित उदाहरण असगत हो जाएगा —

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवशोन्नते कृतशिलीमुखसग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगते परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभग: सतत करोऽभूत्॥'
—काव्यप्रकाश

यहा वारणस्य के दो अर्थ होते हैं—नाशकस्य तथा हस्तिन। प्रथम अर्थ यौगिक है तथा अन्य अर्थ रूढ है। प्रकरण यौगिक अर्थ के अनुकूल है। डा० चौधरी कहते है कि यदि इस प्रकरणानुकूलता की उपेक्षा करके 'रूढिर्योगापहारिणी' इस सिद्धान्त के अनुसार रूढ अर्थ को बलवान् माना जाता है तो यहा प्रथम उपस्थिति अप्रस्तुत अर्थ की माननी होगी और उससे प्रस्तुत अर्थ की व्यक्ति होगी। इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशसा का उदाहरण हो जाएगा। इस

---

१. 'सपत्नापहृत राज्यमुद्धर्तुं कचिन्नृपमुद्वेजयतस्तन्मन्त्रिण उक्तिरियमिति टीकाकारा।' — बालबोधिनी

प्रकार मम्मट के द्वारा इसे शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण मानना असङ्गत हो जाएगा, क्योकि इस ध्वनि मे प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति होती है।[1]

इसके उत्तर मे हमारा कहना है कि उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे अन्तर है। द्वितीय उदाहरण मे 'वारणस्य' शब्द जिस 'यस्य' शब्द के साथ जुडा हुआ है उसका प्रयोग सीधे ही प्रकृत राजा के लिए हुआ है। अत यहा 'शत्रुनाशकस्य ' आदि नृपसम्बन्धी प्रस्तुत अर्थ का प्रथम बोध कराने के लिए अपेक्षित प्रकरणानुकूलता विद्यमान है। प्रथम उदाहरण मे ऐसी बात नही।

डा० चौधरी के अनुसार 'पु स्त्वादपि ' इस उदाहरण मे अप्रस्तुत-प्रशसा अलकार मानने से एक असगति और उत्पन्न होगी। वह यह है कि 'दुर्गालघितविग्रहो ' इस उदाहरण मे विश्वनाथ के द्वारा शब्दशक्ति मूलध्वनि मानना असगत हो जाएगा। उदाहरण इस प्रकार है —

दुर्गालघितविग्रहो मनसिज सम्मीलयस्तेजसा,
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विश्वग्वृतो भोगिभि ।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढा रुचि धारयन्,
गामाक्रम्य विभूतिभूपिततनू राजत्युमावल्लभ ॥ —साहित्यदर्पण

डा० चौधरी कहते है कि विश्वनाथ ने 'पु स्त्वादपि 'इस श्लोक मे अप्रस्तुतप्रशसा अलकार माना है। अतः इसमे अपनाए हुए आधार के अनुसार 'दुर्गालङ्घितविग्रहो ' मे भी उन्हे अप्रस्तुतप्रशसा अलकार मानना होगा। परन्तु उन्होने इसे शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण माना है। इस प्रकार उनके विवेचन मे असगति तथा पूर्वापरविरोध है।[2]

इस विषय मे हमारा कहना है कि उपर्युक्त दोनो श्लोको मे अन्तर है। प्रथम श्लोक मे जिन दो अर्थो मे से किसी एक की उपस्थिति का निर्णय किया जाता है उनमे से एक रूढ है तथा अन्य यौगिक है, द्वितीय श्लोक मे ऐसी बात नही। क्योकि यहा उमा से निकलने वाला एक अर्थ रूढ हो तथा अन्य यौगिक हो ऐसी बात नही। डा० चौधरी कहते है कि उमा पद गौरी अर्थ मे रूढ है। यदि ऐसी बात है तो क्या वे दोनो श्लोको मे समानता

---

१. देखिए काव्यतत्त्वसमीक्षा पृष्ठ १४६

२ देखिए काव्यतत्त्वसमीक्षा पृष्ठ १४६, १४७

दिखाने के लिए अन्य अर्थ को यौगिक मानेगे ? यदि मानेगे तो उनका मत समीचीन नही कहा जाएगा और यदि नही मानेगे तो दोनो श्लोको मे साम्य कैसा। दूसरे उमा के गौरी अर्थ को डा० चौधरी जिस प्रकार रूढ मानते है उस प्रकार हम भी प्रस्तुत पाठक की दृष्टि मे उमा का अर्थ प्रस्तुत राजा की धर्मपत्नी के रूप मे रूढ मान सकते है। जिस प्रकार पाठक-सामान्य गौरी अर्थ मे उमा पद का बार बार प्रयोग देखकर इस पद को गौरी अर्थ मे रूढ समझता है उस प्रकार प्रस्तुत पाठक भी महादेवी अर्थ मे उमा का बार बार प्रयोग देखकर इस पद को महादेवी अर्थ मे रूढ समझ सकता है। और यह सर्वथा स्वाभाविक है कि इस श्लोक मे पूर्व वर्णन मे उमा का प्रयोग महादेवी अर्थ मे अनेक बार हुआ हो। ऐसी स्थिति मे यही मानना उचित होगा कि उमा पद से निकलने वाले समानबलयुक्त दोनो अर्थो मे से प्रकरण आदि की सहायता से उमा पद का अर्थ प्रस्तुत राजा की धर्मपत्नी लिया जाए। यदि उमा पद से निकलने वाले अर्थो मे से एक रूढ होता तथा अन्य यौगिक तो भी प्रथम श्लोक से इसका यह स्पष्ट अन्तर है कि यहा उमापति का जिस 'अयम्' शब्द से सम्बन्ध है वह सीधा ही राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है, पूर्व श्लोक मे पुरुषोत्तम शब्द के साथ यह बात नही।

पूर्व श्लोक के अप्रस्तुतप्रशसा का उदाहरण होने के विरुद्ध डा० चौधरी एक तर्क और उपस्थित करते है। वह यह है कि ध्वनिकार तथा अभिनव-गुप्त ने इसी जैसे उदाहरण मे शब्दशक्तिमूलध्वनि मानी है। उदाहरण इस प्रकार है —

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधान फुल्लमल्लिका-धवलाट्टहासो महाकाल ।' —ध्वन्यालोक पृष्ठ २४१

इस उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि 'पुस्त्वादपि · ' इस पूर्व उदाहरण से इसका अन्तर स्पष्ट है। इस उदाहरण मे महाकाल का ऋतु के लिए प्रयोग हुआ है यही नही अपितु 'ग्रीष्माभिधान' के रूप मे उस ऋतु का स्पष्टत उल्लेख भी है। अत यहा महाकाल के रूढ अर्थ के प्रथम उपस्थित होने का प्रश्न नही उठता। इस श्लोक की व्याख्या मे अभिनव कहते है कि यहा ऋतु वर्णन के प्रस्ताव के कारण माहाकालादि की अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जाती है, अत यहा 'अवयवप्रसिद्धे समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इस सिद्धान्त का निराकरण हो जाता

है ।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि अभिनव ने यह बात इस श्लोक के प्रसङ्ग मे कही है। परन्तु डा० चौधरी इसका व्यापक अर्थ लेते हुए कहते है कि अभिनव को यौगिक अर्थ के प्रकरणानुकूल होने की दशा मे रूढ अर्थ की बलवत्ता कही भी अभीष्ट नही। हमारे विचार से उपर्युक्त कथन के समय अभिनव का यह तात्पर्य नही रहा होगा। वस्तुत प्रकरणानुकूलता के द्वारा 'अवयवप्रसिद्धे' समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इस सिद्धान्त का निराकरण प्रकरणानुकूलता के स्वरूपविशेष पर निर्भर करता है। जहा यह स्वरूप विशेष विद्यमान रहता है वहा इसका (सिद्धान्त का) निराकरण हो जाता है परन्तु जहा यह विद्यमान नही रहता वहा इस सिद्धान्त का निराकरण नही होता। उपर्युक्त श्लोक मे यह स्वरूपविशेष विद्यमान है। अत वहा इस सिद्धान्त का निराकरण हो जाता है। 'पु स्त्वादपि ' मे यह स्वरूप-विशेष विद्यमान नही। अत वहा इस सिद्धान्त का निराकरण नही होता। ऐसा मानने से अभिनव तथा मम्मट के मतो मे सामञ्जस्य बैठ जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्लिष्टविशेष्यता की दशा मे अप्रस्तुतप्रशसा सम्भव है।

कवि अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रस्तुत का वर्णन न करके व्यवहारसादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत का वर्णन करता है। कवि जब अप्रस्तुत का वर्णन करता है तब प्रस्तुत का वर्णन उसके ध्यान मे रहता है। इस प्रस्तुत वर्णन के ध्यान मे होने के कारण कभी कभी ऐसा होता है कि कवि अप्रस्तुत धर्म मे प्रस्तुत धर्म से थोडा सा सादृश्य देखकर सादृश्य के अवशिष्ट अश की पूर्ति उस पर प्रस्तुत धर्म का रग चढाकर कर देता है। आलङ्कारिको ने इसे वाच्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप कहा है —

"क्वचिदध्यारोपेणैव"—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६२६

निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

---

१ " महाश्चासौ दिनदैर्घ्यदुरतिवाहतायोगात् काल. समय । अत्र ऋतुवर्णन-प्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तय , अत एव—'अवयवप्रसिद्धे समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतय शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव ।"

—काव्यतत्त्वसमीक्षा पृष्ठ १४७, १४८

"मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि ।
त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजनीं त्यजसि ॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ५३९

यहां प्रस्तुत अर्थ मे मालिन्य दोष के रूप मे है तथा राग गुण के रूप मे है। इस प्रकार 'मलिनेऽपि रागपूर्णाम्' विशेषण नायक द्वारा नायिका के त्याग के अनौचित्य का समर्थक है। अप्रस्तुत अर्थ मे भ्रमर मे मालिन्य तथा सरोजिनी मे राग अवश्य है परन्तु ये मालिन्य तथा राग दोष तथा गुण के रूप मे नही। अतः ये भ्रमर द्वारा सरोजिनी के त्यागसम्बन्धी अनौचित्य के समर्थक नही। इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के सादृश्य मे पूर्णता नही। परन्तु यह पूर्णता का अभाव कवि के द्वारा प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के वर्णन मे बाधक नही बनता। वह इनमे आंशिक सादृश्य देखकर सादृश्य के अवशिष्ट अंग की पूर्ति अप्रस्तुत धर्म पर प्रस्तुत का अध्यारोप करके कर लेता है।[1]

---

१. अत्र त्यागानौचित्यहेतुत्वेन कमलिन्या स्तुतिरूपं विशेषणमुपात्तम्। तच्च न संभवति। न हि भ्रमरे श्यामत्वादिर्दोष, कमलिन्या शोणत्वादिर्वा गुणः येन स्तुतिः स्यात्। अतो वाच्यार्थस्य प्रतीयमानतादात्म्यं विशेष्यांशे विशेषणांशे चापेक्ष्यते।

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ५३६

प्रस्तुतांकुर का ध्वनि में अन्तर्भाव

अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुताकुर अलकार का निरूपण किया है। इस अलकार मे प्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति होती है —

"प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताकुर ।
कि भृङ्ग ! सत्या मालत्या केतक्या कण्टकेद्धया ।।"

—कुवलयानन्द २८।६७

वस्तुत इसे अलकार न मानकर ध्वनि मानना उचित होगा। इसका विवेचन अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रकरण मे किया जा चुका है।

ससन्देह

ससन्देह अलंकार की अवस्था मे कवि की चित्तवृत्ति सन्देह का रूप धारण करती है। कवि की इस सन्देहात्मक चित्तवृत्ति तथा लौकिक सन्देहात्मक चित्तवृत्ति मे भेद है। लौकिक सन्देहात्मक चित्तवृत्ति अनाहार्य अथवा वास्तविक होती है। कवि की सन्देहात्मक चित्तवृत्ति इसके विपरीत आहार्य अथवा कल्पनाजन्य होती है। इस चित्तवृत्ति की अवस्था मे कवि को प्रस्तुत वस्तु का व्यावहारिक ज्ञान न रहे ऐसी बात नही। उसे उसका व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहता है, परन्तु उसके किसी धर्म की अभिव्यक्ति के लिए वह उस प्रस्तुत वस्तु का उस धर्म से युक्त अन्य वस्तु के रूप मे सन्देह करता है। निम्नलिखित उदाहरण इसका समर्थक है—

"किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी।
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारानिधे ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३१

यहा कवि को प्रस्तुत स्त्री का ज्ञान है। वह वल्लरी तथा लहरिका के रूप मे उसका जो सन्देह करता है वह केवल उसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए करता है।

जहा यह सन्देह कवि का न होकर कविनिबद्ध पात्रो का होता है, वहा वह अनाहार्य अथवा वास्तविक भी हो सकता है। पात्रो के इस वास्तविक सन्देह का वर्णन करके कवि अपने भावो को पाठक तक पहुँचाने मे सफल होता है.—

"अय मार्तण्ड किं स खलु तुरगैः सप्तभिरित.।
.. . .
समालोक्याजौ त्वा विदधति विकल्पान् प्रतिभटा ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३१

यहा शत्रुसैनिको का सन्देह वास्तविक है।

इस प्रकार ससन्देह अलकार मे दो प्रकार का ज्ञान सम्भव है—आहार्य तथा अनाहार्य। जगन्नाथ ने इस मत का समर्थन किया है।[1]

---

१ "अय च क्वचिदनाहार्यः, क्वचिदाहार्यः। यत्र हि कविना परनिष्ठः सशयो निबध्यते प्रायशस्तत्रानाहार्यः। ‥ ‥ यत्र च स्वगत एव तत्राऽऽहार्यः।"

सन्देह मे प्रस्तुत वस्तु के ऐसे धर्म हमारी दृष्टि के विषय बनते हैं जो अन्य वस्तुओ मे साधारणरूप से देखने को मिलते है। धर्मो की इस साधारणता के कारण हमे उस वस्तु का उन अन्य वस्तुओ के रूप मे सन्देह होता है। सन्देह की अवस्था मे प्रस्तुत वस्तुओ का जिन जिन वस्तुओ के रूप मे सन्देह होता है उनमे प्रस्तुत वस्तु भी एक हो सकती है। उदाहरणत यदि स्थाणु की स्थूलता, दीर्घता आदि हमारी दृष्टि का विषय है तो हम इन स्थूलता, दीर्घता आदि धर्मो के आधार पर प्रस्तुत स्थाणु का ऐसी वस्तुओ के रूप मे सन्देह करेगे जिनमे ये धर्म विद्यमान है। इन वस्तुओ मे स्थाणु भी एक हो सकती है। अत प्रस्तुत स्थाणु के उपर्युक्त धर्मों के आधार पर हम सन्देह करेगे कि 'अय स्थाणुर्वा पुरुषो वा।' सन्देह की उपर्युक्त स्थिति शुद्ध सन्देह की स्थिति है। इस स्थिति मे जो चमत्कार-पूर्ण अभिव्यक्ति होती है वह शुद्ध ससन्देहालकार होती है।

व्यक्ति इस शुद्ध सन्देह की अवस्था तक ही सीमित नही रहता। उसका प्रयत्न इस अवस्था से निकल कर निर्णय की अवस्था तक पहुँचना होता है। इसके लिए वह प्रस्तुत वस्तु तथा अन्य वस्तुओ मे वैधर्म्य तत्त्व की खोज करता है। यह वैधर्म्यज्ञान अन्य वस्तुओ का निराकरण करके प्रस्तुत वस्तु के स्वरूपज्ञान मे सहायक होता है। यही कारण है कि बौद्धो ने वस्तु के ज्ञान की प्रक्रिया 'अतद्व्यावृत्ति' बताई है। हम प्रत्येक वस्तु के ज्ञान के लिए इस प्रक्रिया की यथार्थता स्वीकार न करे तो भी सन्देह की अवस्था से निर्णय की अवस्था तक पहुँचने के लिए तो इस प्रक्रिया के अवलम्बन की यथार्थता स्वीकार करनी ही पडेगी। इस प्रक्रिया की अवस्था मे जिस अलकार की अभिव्यक्ति होती है वह निश्चयगर्भ ससन्देह कहा गया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

"अय मार्तण्ड किं स खलु तुरगै सप्तभिरित

. ... ..

समालोक्याजौ त्वाँ विदधति विकल्पान् प्रतिभटा।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३१

यहाँ शत्रुसैनिको को प्रथम राजा का मार्तण्ड आदि के रूप मे सन्देह होता है, परन्तु बाद मे सप्ततुरग आदि वैधर्म्य तत्त्वो के ज्ञान के फलस्वरूप इन सन्देहो का क्रमश निराकरण हो जाता है।

निश्चयगर्भ सन्देह मे वस्तुत निश्चय न होकर एक सन्देह का निराकरण

होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे प्रतिभटो को यह निश्चय नही हुआ है कि यह राजा है, परन्तु उनके केवल इस सन्देह का निराकरण हुआ है कि यह सूर्य आदि है। अथवा हम यह कह सकते है कि प्रतिभटो को यह निश्चय हो जाता है कि अमुक वस्तु सूर्य आदि नही है। इस प्रकार निश्चयगर्भ सन्देह मे वस्तु के स्वरूप का निश्चय न होकर अन्य वस्तु के रूप मे उत्पन्न सन्देह का निराकरणमात्र होता है।

सन्देह मे निश्चय की ओर उन्मुख यह प्रक्रिया और आगे बढती है और इसका पर्यवसान निश्चय मे होता है। इस अवस्था मे अभिव्यक्त अलकार निश्चयान्त सन्देह कहा गया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

"किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्या ।
सशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिब्वोकैर्बकसहवासिना परोक्षे ॥"

—साहित्यदर्पण पृ० ५३१

इस प्रकार ससन्देह अलकार के तीन भेद होते है—शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त। इनमे प्रथम भेद मे वैधर्म्य उक्ति नही होती, परन्तु अन्य दो भेदो मे वह होती है। आलकारिको को प्राय यही मत मान्य है।

उद्भट का इससे कुछ मतभेद है। उन्होने निश्चयान्त सन्देह का निरूपण नही किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि निश्चयान्त-सन्देह मे निश्चयगर्भसन्देह के समान निश्चय प्रतीयमान न होकर वाच्य होता है। मम्मट का यही मत है।[1]

यह अवश्य है कि निश्चयगर्भ सन्देह मे निश्चय व्यग्य होता है तथा निश्चयान्त सन्देह मे वह वाच्य होता है। परन्तु इस भेद के आधार पर निश्चयान्त भेद को ससन्देह अलकार की कोटि से बाहर करना उचित नही। ससन्देह अलकार मे चमत्कार का कारण सादृश्य पर आश्रित सन्देह होता है और वह इस निश्चयान्तभेद मे भी विद्यमान है। अत यह ससन्देह अलकार के अन्तर्गत ही आता है।

ससन्देह अलकार के मूल मे सादृश्य का होना आवश्यक है। जहा सन्देह सादृश्य के कारण उत्पन्न न होकर चिन्ता आदि के कारण उत्पन्न

१. "किं तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चय प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन।"
—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५६१

होता है वहां यह अलकार नही होता। जगन्नाथ ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

आलकारिको द्वारा इस अलकार की परिभाषा मे सादृश्य अथवा इसके पर्यायवाची शब्द का सन्निवेश भी इस बात का प्रमाण है कि सादृश्य इस अलकार के मूल मे है:--

"बुद्धिः सर्वातमनान्योन्याक्षेपिनानार्थसश्रया।
सादृश्यमूला वार्थस्पृक् सन्देहालकृतिर्मता॥" —चित्रमीमासा पृष्ठ ७३

"विषयो विषयी यत्र सादृश्यात् कविसम्मतात्।
सन्देहगोचरौ स्याताँ सन्देहालकृंतिश्च सा॥"

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २७४

ससन्देह के मूल मे विद्यमान यह सादृश्य एक प्रकार अथवा अनेक प्रकार का हो सकता है। जहाॅ सादृश्य एक प्रकार का होता है वहाँ एक ही साधारणधर्म प्रस्तुत वस्तु के अनेक वस्तुओ के रूप मे सन्देह का कारण होता है। 'किं लक्ष्मीरुर्वशी वेय रम्भा वा मेनकाथ वा"[2] इस उदाहरण मे एक ही साधारणधर्म सौन्दर्य लक्ष्मी आदि अनेक विकल्पो का कारण है। जहाॅ साधारणधर्म अनेक प्रकार का होता है वहाॅ एक साधारणधर्म को लेकर एक वस्तु का सन्देह होता है तथा अन्य साधारणधर्म को लेकर अन्य वस्तु का सन्देह होता है। 'अय मार्तण्ड कि ......' इस उदाहरण मे यही बात है। जगन्नाथ ने साधारणधर्म के इन दोनो प्रकारो को स्वीकार किया है।[3]

सन्देह के मूल मे विद्यमान सादृश्य के कारण हम प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तुओ के रूप मे देखते है। हम जब प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तुओ

---

१. "अधिरोप्य हरस्य हन्त चाप परिताप प्रशमय्य बान्धवानाम्।
परिणेष्यति वा न वा युवाय निरपायम् मिथिलाधिनाथपुत्रीम्॥
अत्र मिथिलास्थजनोक्तौ तच्चिन्ताभिव्यंजके सशयमात्रेऽतिव्याप्तिवारणाय साद्दश्यमूलेति।" --रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४०

२ चित्रमीमासा पृष्ठ ७१

३ "अस्मिंश्च सशये नानाकोटिषु क्वचिदेक एव समानो धर्मः। क्वचित् पृथक्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४६

के रूप मे देखते है तब हमे प्रस्तुत वस्तु की प्रतीति नही होती। सन्देह मे यह नही होता कि प्रस्तुत वस्तु की प्रतीति रहते हुए साम्य के कारण उसकी अन्य रूपो मे प्रतीति हो। परन्तु यह होता है कि साम्य के कारण हमे केवल अप्रस्तुत वस्तुओ की प्रतीति होती है। इस प्रकार सन्देह मे प्रस्तुत वस्तु का सर्वथा निगरण होता है। अत यहाँ आरोप न होकर अध्यवसान होता है।

जगन्नाथ का इससे मतभेद है। इन्होने सन्देह मे आरोप तथा अध्यवसान दोनो माने है।[1] इनका आरोपमूलक सन्देह का उदाहरण इस प्रकार है:—

"मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमाल ।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषिनिकरैरिति सशय प्रपेदे ॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४२

इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि जगन्नाथ ने रघुपति शब्द के द्वारा विषय के निर्देश को आरोप का आधार माना है। रघुपति का ज्ञान केवल कवि तथा पाठक को है ऋषियो को नही। इस प्रकार जगन्नाथ ने आरोप का निर्णय कवि तथा पाठक को लक्ष्य करके किया है। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण मे सन्देह का सीधा सम्बन्ध ऋषियो से है। अत उनको लक्ष्य करके आरोप अथवा अध्यवसान का निर्णय किया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। जहा तक ऋषियो का सम्बन्ध है उन्हे प्रतीति राम की न होकर केवल 'मरकतमणिमेदिनीधर' अथवा तमाल की होती है। अत उनके दृष्टिकोण से यहा आरोप न होकर अध्यवसान है।

कभी कभी ससन्देह मे किसी वस्तु का अन्य वस्तुओ मे सन्देह न होकर कतिपय वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे सन्देह होता है। रुद्रट ने इस प्रकार के सन्देहो का उल्लेख किया है —

"गमनमधीत हंसैस्त्वत्तः सुभगे त्वया नु हसेभ्य ।"

—काव्यालंकार ८।६६

यहा नायिकागमन तथा हंसगमन मे अध्येता कौन है तथा अध्यापक

---

१. "एवमारोपमूलोऽयं संदेहालकार । अध्यवसानमूलोऽपि दृश्यते ॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४२

कौन है, इस विषय मे सन्देह है। यह सन्देह नायिकागमन तथा हंसगमन मे सादृश्य के कारण है।

ससन्देह अलकार का उल्लेख प्राय सभी आलकारिको ने किया है। अर्वाचीन आलकारिको ने प्राय इस अलकार के तीनो भेदो का उल्लेख किया है। प्राचीन आलकारिको मे ऐसी बात नही। भामह की परिभाषा तथा उदाहरण निश्चयगर्भ सन्देह के है।[1] भट्टि का उदाहरण भी निश्चयगर्भ सन्देह के अन्तर्गत आता है।[2] दण्डी ने सन्देह का अन्तर्भाव [illegible] किया है।

"न पद्मस्येन्दुनिग्राह्यस्येन्दुलज्जाकरी द्युति ।
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा ।।" —काव्यादर्श २।२७

यह निर्णयोपमा निश्चयान्तसन्देह कही जा सकती है।

उद्भट ने शुद्ध तथा निश्चयगर्भ इन दो सन्देहो का उल्लेख किया है। वामन की परिभाषा तथा उदाहरण शुद्ध सन्देह के है। रुद्रट ने तीनो भेदो का निरूपण किया है। भोज ने सन्देह के अनेक भेदो का उल्लेख किया है। इन्होने सन्देह के प्रथम एकवस्तुविषय तथा अनेकवस्तुविषय ये दो भेद किए है और फिर अनेकवस्तुविजय के शुद्ध तथा मिश्र ये दो भेद किए है।[3] एकवस्तुविषय की परिभाषा सन्देह की सामान्य परिभाषा के समान है। अनेकवस्तुविषय की परिभाषा मे साधारण अन्तर है:—

"तत्रैकविषयोऽनेको यस्मिन्नेकत्र शक्यते ।
यस्मिन्नेकमनेकत्र सोऽनेकविषय स्मृत ।।"

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४२

---

१ "उपमानेन तत्त्व च भेद च वदतः पुनः ।
ससन्देहं वच स्तुत्यै ससन्देह विदुर्यथा ।।"
"किमय शशी न स दिवा विराजते । कुसुमायुधो न धनुरस्य कौसुमम् ।।"

—भामहालङ्कार ३।४३, ४४

२. देखिए भट्टिकाव्य १०।६८

३. "अर्थयोरतिसादृश्याद्यत्र दोलायते मनः ।
तमेकानेकविषयं कवय. संशयं विदु ।।" —सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४१
अनेकवस्तुविषयो द्विधा शुद्धो मिश्रश्च । —सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४४६

इस सन्देह मे एक वस्तु का अनेक स्थानो पर सन्देह होता है। सन्देह के उदाहरण 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' मे हमे एक वस्तु मे स्थाणु तथा पुरुष इन दोनो का सन्देह होता है। प्रस्तुत सन्देह मे हमारे सम्मुख दो वस्तुए होती है और हमे यह निश्चय नही होता कि इन दोनो मे पुरुष कौनसा है। इस सन्देह मे हमे यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि इन दो अथवा अधिक वस्तुओ मे एक पुरुष अवश्य है। हमे सन्देह केवल यही होता है कि इन वस्तुओ मे कौनसी वस्तु पुरुष है। प्रथम सन्देह मे हम सम्मुख स्थित वस्तु के किसी धर्म को लेकर उस वस्तु का उन वस्तुओ मे सन्देह करते है जिनमे वह धर्म है। यहा पुरुष के किसी धर्म को इन दोनो वस्तुओ मे देखकर उस पुरुष का दोनो स्थानो पर सन्देह करते है। इसे भोज ने शुद्ध कहा है।

यदि हमे यह ज्ञान है कि सम्मुख स्थित वस्तुओ मे से एक पुरुष है तथा अन्य स्थाणु है तो हम यह सन्देह करते है कि इनमे से कौनसी वस्तु पुरुष है तथा कौनसी स्थाणु है। इसे भोज न मिश्र कहा है।

वितर्कालंकार का सन्देह में अन्तर्भाव

भोज ने वितर्कालकार का निरूपण किया है —

"ऊहो वितर्क सन्देहनिर्णयान्तरविष्ठित ।
द्विधासौ निर्णयान्तश्चानिर्णयान्तश्च कीर्त्यते ॥"

——सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३९

यह अलकार वितर्क पर आश्रित होता है। वितर्क सशय तथा निर्णय की मध्य अवस्था है। सशय के बाद अनिर्णय की अवस्था मे व्यक्ति जो ऊहापोह करता है वही वितर्क है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है ——

"अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद ।
शृङ्गारैकरस स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर ।
वेदाभ्यासजड कथ नु विषयव्यावृत्तकौतुहलो
निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि ॥"

—काव्यप्रकाश १०।४२०

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि अलकार की दृष्टि से वितर्क को संशय से भिन्न समझना उचित नही। उपर्युक्त उदाहरण मे वितर्क के कारण के रूप मे सशय विद्यमान है तथा चमत्कार का कारण वितर्क न होकर सशय ही है।[2]

भोज ने वितर्क के जिन भेदो का वर्णन किया है उनका सन्देह मे अन्तर्भाव किया जा सकता है। वितर्क के उन्होने दो भेद बताए है——निर्णयान्त तथा अनिर्णयान्त। निर्णयान्त के पुन तीन भेद किए है——निर्णयान्त तत्त्वानुपाती, निर्णयान्त अतत्त्वानुपाती तथा उभयात्मक। अनिर्णयान्त के इन्होंने

---

१. "सशयोत्तरमनिर्णये ऊहो वितर्क ।"——बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

२ "वितर्ककारणत्वेन व्याप्यत्र सशयाङ्गीकारेण तस्यैवालकारत्वात् सतोऽपि वितर्कस्य वर्णनीयोत्कर्षानाधायकत्वेनालकारत्वाभावाच्च सन्देहेनैव तस्या उत्कर्षसिद्धे ।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

तीन भेद किए हैं—मिथ्या, अमिथ्या तथा उभयात्मक।[1] उपर्युक्त श्लोक निर्णयान्त अतत्त्वानुपाती का उदाहरण है। इसका अन्तर्भाव सन्देह में हो ही गया है। इसी प्रकार अन्य भेदों का भी सन्देह में अन्तर्भाव हो सकता है।

१ "तत्त्वानुपात्यतत्त्वानुपाती यश्चोभयात्मक।
स निर्णयान्त इतरो मिथ्यामिथ्योभयात्मक॥"—सरस्वतीकण्ठाभरण ३।४०

भ्रान्तिमान्

भ्रान्तिमान् मे चमत्कार का कारण भ्रान्ति होती हे। भ्रान्ति मे एक वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। यह सादृश्य, चिन्ता आदि अनेक कारणो से सम्भव है, परन्तु भ्रान्तिमान के मूल मे विद्यमान भ्रान्ति के लिए आवश्यक है कि यह केवल सादृश्य पर आश्रित होनी चाहिए। चिन्ता आदि पर आश्रित भ्रान्ति भ्रान्तिमान् अलकार का कारण नही हो सकती। यही कारण है कि निम्नलिखित उदाहरण मे भ्रान्तिमान् अलकार नही माना गया हैं —

"सगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सगमस्तस्या ।
सगे सैव तथैव त्रिभुवनमपि तन्मय विरहे ।"—साहित्यदर्पण पृ० ५३२

यहा त्रिभुवन मे प्रिया की भ्रान्ति सादृश्य के कारण न होकर विरहभावना के अतिशय के कारण है। अत यहा भ्रान्तिमान् अलकार नही है। भ्रान्तिमान् की निम्नलिखिति परिभाषाओ से भी यह स्पष्ट है कि इस अलकार के मूल मे सादृश्य का होना आवश्यक है —

"साम्यादतस्मिस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थित"

—साहित्यदर्पण १०। ३६

"भ्रान्तिमान् अन्यसवित्तत्तुल्यदर्शने" —काव्यप्रकाश १०–२००

प्रश्न उठ सकता है कि सादृश्य के अतिरिक्त अन्य कारणो पर आश्रित भ्रान्ति को आलकारिको ने भ्रान्तिमान् अलकार का आधार क्यो नही माना। आलकारिको ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नही दिया है। इसका उत्तर निम्नलिखित हो सकता है —

सादृश्य पर आश्रित भ्रान्ति के कारण बाह्य होते है तथा सादृश्य से इतर कारणो पर आश्रित भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते है। मुख तथा कमल के सादृश्य के कारण भ्रमर को मुख मे कमल की जो भ्रान्ति होती है उसके कारण मुख मे विद्यमान सौन्दर्य आदि हे। ये कारण बाह्य है। इसके विपरीत उपर्युक्त उदाहरण मे विरही को जो भ्रान्ति होती है उसका कारण उसकी मानसिक दशा है। यह एक आन्तरिक कारण है। जब भ्रान्ति के कारण बाह्य होते है तब वे भ्रान्ति के विषय मे विद्यमान रहते है। अत इस दशा मे चमत्कार का कारण भ्रान्ति ही होता है। परन्तु

जब भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते है तब वे भ्रान्ति के विषय मे न रहकर दर्शक की चित्तवृत्ति मे रहते है। अत इस दशा मे चमत्कार का कारण भ्रान्ति न होकर दर्शक की चित्तवृत्ति होता है। इस चित्तवृत्ति का ज्ञान वर्णित भ्रान्ति से अवश्य होता है, परन्तु हमारे चमत्कार का विषय भ्रान्ति न होकर वर्णित मानसिक दशा होती है।

भ्रान्तिमान मे यह भ्रान्ति कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होती है। कवि को यह भ्रान्ति नही हो सकती। कवि का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करना होता है। यदि उसे स्वय उस वस्तु मे अन्य वस्तु की भ्रान्ति हो जाए तो वह उस वस्तु का वर्णन पाठक तक कैसे पहुँचा सकता है। अत भ्रान्ति कविनिबद्ध पात्र को होती है। इस भ्रान्ति का आश्रय लेकर कवि का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु की सफल अभिव्यञ्जना करना होता है।

प्रश्न उठ सकता है कि ससन्देह मे जिस प्रकार कवि का अ हार्य सन्देह सम्भव है उस प्रकार भ्रान्ति मे कवि की आहार्य भ्रान्ति कैसे सम्भव नही। इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है —

सन्देह की अवस्था मे प्रस्तुत वस्तु का जिन वस्तुओ मे सन्देह होता है उनमे प्रस्तुत वस्तु भी एक हो सकती है। अत सन्देह के साथ साथ प्रस्तुत वस्तु का वर्णन सम्भव है। परन्तु भ्रान्ति मे प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तु समझ लेने के कारण प्रस्तुत वस्तु का वर्णन सम्भव नही। अत प्रस्तुत वस्तु के वर्णन को अपना उद्देश्य बनाने वाले कवि के साथ भ्रान्ति को जोडना उचित नही।

संशय की अवस्था मे कवि को यह पता होता है कि उसका यह ज्ञान सशयात्मक है। अत वह इस ज्ञान को वास्तविक समझकर इसे अपनी प्रवृत्ति का आधार नही बनाता। इस ज्ञान मे यथार्थता की बुद्धि केवल उन्ही धर्मो तक सीमित रहती है जो सशय के दोनो अथवा अधिक पक्षो मे सामान्य रूप मे विद्यमान है। अत कवि इन्ही धर्मों को अपने वर्णन का आधार बनाता है। इस प्रकार प्रस्तुत वस्तु के वर्णन के साथ साथ कवि के लिए सशय का आश्रय लेना सम्भव है। भ्रान्ति मे ऐसी बात नही होती। भ्रान्ति जिस व्यक्ति को होती है वह व्यक्ति अपनी इस भ्रान्ति को भ्रान्ति न समझकर यथार्थज्ञान ही समझता है। अत यदि कवि को ऐसा ज्ञान हो तो उसके लिए प्रस्तुत वस्तु का वर्णन ही सम्भव नही।

इस प्रकार भ्रान्ति का सम्बन्ध कवि से न होकर कविनिबद्ध पात्र से होता है। कविनिबद्ध पात्र से सम्बन्ध होने के कारण भ्रान्ति का यह ज्ञान अनाहार्य होता है। जगन्नाथ की निम्नलिखित परिभाषा इसकी समर्थक है —

"सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चय सादृश्य-प्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्ति । सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन् वाक्य-सदर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान् ।" —रसगगाधर पृष्ठ ३५३

अनाहार्य ज्ञान प्रवृत्ति का निमित्त होता है। इस ज्ञान की दशा मे पात्र प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तु समझकर उसके अनुसार आचरण करता है।

"कपाले मार्जार पय इति करांल्लेढि शशिन—
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी सकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥" —चित्रमीमासा पृ० ७५

यहा चन्द्रिका प्रस्तुत है तथा मार्जार आदि पात्र हैं। ये पात्र चन्द्रिका को दूध आदि समझकर लेहन आदि के लिए प्रवृत्त होते है।[1]

यहा चन्द्रिका मे दूध की भ्रान्ति का कारण चन्द्रिका का श्वेत वर्ण है। यह श्वेत वर्ण चन्द्रिका तथा दूध मे समान रूप से विद्यमान है। अत प्रथम की द्वितीय रूप मे भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति के बाद मार्जार की दूध के प्रति प्रवृत्ति दूध मे विद्यमान माधुर्य आदि गुणो के कारण होती है। आहार्य ज्ञान मे ऐसी बात नही होती। मुख मे जब कमल का आहार्य ज्ञान होता है तब कमल का यह ज्ञान कवि की प्रवृत्ति का कारण नही बनता। मुख मे कमल की प्रतीति के बाद कवि कमल मे विद्यमान गुणो को अपनी प्रवृत्ति का आधार नही बनाता। कवि उस मुख की ओर निरन्तर देखता अवश्य है, परन्तु उसकी यह दर्शनक्रिया कमल मे विद्यमान गुणो के फलस्वरूप न होकर मुख मे विद्यमान सौन्दर्यगुण के कारण होती है। यह सौन्दर्यगुण कमल मे भी है, परन्तु कवि की दर्शनक्रिया का कारण कमल का सौन्दर्य न होकर मुख का सौन्दर्य है। कवि की दर्शनक्रिया मुख की ओर कमल की

---

१ "अत्र लेहनादिप्रवृत्तिपर्यन्तोक्ते स्वारसिक एव विभ्रम कविप्रतिभया चन्द्रिकोत्कर्षद्योतनाय निबद्ध ।" —चित्रमीमासा पृष्ठ ७५

प्रतीति से पूर्व ही उन्मुख हो जाती हैं और यह दर्शनक्रिया ही मुख मे कमल की प्रतीति का कारण बनती है।

भ्रान्तिमान् मे प्रस्तुत वस्तु मे अन्य वस्तु की भ्रान्ति प्रस्तुत वस्तु मे विद्यमान ऐसे धर्म के कारण होती है जो अन्य वस्तु मे भी रहता है। प्रस्तुत वस्तु मे विद्यमान इस धर्म की सत्ता अन्य अनेक वस्तुओ मे सम्भव है। अत यदि दर्शक अनेक है तो उन्हे एक ही वस्तु मे उस धर्म को लेकर क्रमश अनेक भ्रान्तिया हो सकती हे। निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है —

"सकेतकुञ्जगमन प्रति सचलन्तीमालोक्य सुभ्रू भवती गहनेऽन्धकारे।
चाम्पेयकोरकमयी स्रगिति द्विरेफा, सौदामिनीति कलयन्तु मुद मयूरा।"
—रसगगाधर पृ० ३५३

जगन्नाथ के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण मे भ्रान्तिमान् न होकर उल्लेख अलकार है। इनके अनुसार भ्रान्तिमान् मे केवल एक भ्रान्ति होनी चाहिए। जहा भ्रान्तिया एक से अधिक होगी वहा भ्रान्तिमान् अलकार नही हो सकता।[1]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसगत प्रतीत नही होता। भ्रान्ति के एकत्व तथा अनेकत्व के आधार पर अलकारभेद की कल्पना उचित नही। भ्रान्ति के अनेकत्व से भ्रान्ति का भ्रान्तित्व नष्ट नही होता। दूसरे यदि भ्रान्ति की अनेकता को पृथक् अलङ्कार का आधार माना जाता है तो आरोप आदि की अनेकता को भी पृथक् अलङ्कार का आधार मानना पडेगा। परन्तु यह उचित नही। यही कारण है कि विश्वेश्वर ने जगन्नाथ के उपर्युक्त मत की आलोचना की है।[2]

कभी कभी भिन्न भिन्न वस्तुओ के सम्पर्क मे आने के कारण एक ही वस्तु मे एक ही दर्शक को अनेक प्रकार की भ्रान्तिया होती हे। विश्वेश्वर ने इसका उल्लेख किया हे।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है —

---

१ "लक्षणे चात्रैकत्व विवक्षितम्। अन्यथा वक्ष्यमाणानेकग्रहीतृकानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रान्तिसमुदायात्मन्युल्लेखेऽतिप्रसगापत्ते।"

—रसगगाधर पृष्ठ ३५४

२ "एतेन-उक्तस्थले उल्लेखालकारस्वीकारात् भ्रान्तिमत्येकत्वं विवक्षणीयम्-इत्यपास्तम्॥" —अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ३८६

३ "क्वचिदेकस्मिन्नेवानेकप्रकारको यथा मम"—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ३८८

"हाराग्रे हीरबुद्ध्यै भुजगपतिफने दीपरत्नोपलब्ध्यै ।

पार्वत्या कल्पमाने प्रनिफलिततया पातु पीयूषरश्मि ।।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ३८८

यहा भिन्न भिन्न स्थानो के सम्पर्क मे आने के कारण एक ही चन्द्रमा का अनेक प्रकार ग्रहण होता है।[1]

प्राचीन आलकारिको मे भामह, भट्टि, उद्भट तथा वामन ने इस अलकार का उल्लेख नही किया है। दण्डी ने इसे उपमा का एक भेद कहा है तथा इसका नाम मोहोपमा रखा है —

"शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुख त्वन्मुखाशया ।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता ।।" —काव्यादर्श २ । २५

रुद्रट ने इस अलकार का उल्लेख किया है। भोज ने इसका सविस्तर वर्णन किया है। इन्होने इसका नाम भ्रान्ति रखा है। इन्होने भ्रान्ति के अतत्त्वे तत्त्वरूपा तथा तत्त्वे अतत्त्वरूपा ये दो भेद करके इनके पुन अनेक भेद किए हैं। अतत्त्वे तत्त्वरूपा तथा तत्त्वे अतत्त्वरूपा मे वस्तुत भेद नही। दोनो मे 'अतस्मिस्तद्बुद्धि' ही होती है। अतत्त्वे तत्त्वरूपा के तो शब्दार्थ से ही यह स्पष्ट है कि इसमे अतत् को तत् समझ लिया जाता है। तत्त्वे अतत्त्वरूपा मे भी यही बात होती है। जिस वस्तु मे भ्रान्ति होती है उसको तत् समझ-कर भ्रान्ति का विश्लेषण किया जाए तो वह तत्त्वे अतत्त्वरूपा होती है और यदि जिस वस्तु की भ्रान्ति होती है उसको तत् समझकर विश्लेषण किया जाय तो वह अतत्त्वे तत्त्वरूपा होती है। भोज के 'तत्त्वे अतत्त्वरूपा' के निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"स मुग्धमृगो मृगतृष्णिकाभिस्तथा दूनस्त्वदाशाभि ।
यथा सद्भावमयीष्वपि नदीषु पराङ्मुखो जात ।।"

—सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ३६५

यहा नदी मे मृगतृष्णा की भ्रान्ति हुई है। भोज के अनुसार यहा नदी को नदी न समझकर उसमे इतर वस्तु समझा जा रहा है। अत यहा तत्त्वे अतत्त्वरूपा है।

---

१ "अत्रैकस्मिश्चन्द्रे पार्वत्यास्तत्तत्स्थानभेदेनानेकप्रकारक ज्ञानम् ।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ३८८

हम इसकी अन्यरूप से भी व्याख्या कर सकते है। नदी मृगतृष्णा नही है। अत उसे मृगतृष्णा समझना अतत् को तत् समझना है। इस प्रकार इस उदाहरण को भी अतत्त्वे तत्त्वरूपा का उदाहरण कहा जा सकता है।

अतत्त्वे तत्त्वरूपा के भोज ने अबाधिता, बाधिता एव कारणबाधिता भेद किए है तथा तत्त्वे अतत्त्वरूपा के हानहेतु, उपादानहेतु तथा उपेक्षाहेतु भेद किए है --

"अतत्त्वे तत्त्वरूपा या त्रिविधा सापि पठ्यते।
अबाधिता बाधिता च तथा कारणबाधिता ॥"--३। ३६

"अतत्त्वरूपा तत्त्वे या सापि त्रैविध्यसिद्धये।
हानोपादानयोर्हेतुरुपेक्षायाश्च जायते ॥" --सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३७

अबाधिता मे भ्रान्ति बनी रहती है। बाधिता तथा कारणबाधिता मे उसका निराकरण हो जाता है। निश्चयान्तसन्देह मे जिस प्रकार सन्देह का निराकरण हो जाता है उसी प्रकार यहा भ्रान्ति का निराकरण होता है। हानोपादानादि भेद चमत्कारयुक्त नही।

भोज ने भ्रान्तिमान, भ्रान्तिमाला, भ्रान्तेरतिशय तथा भ्रान्त्यनध्यवसाय का उल्लेख किया है तथा इन्हे भ्रान्ति का ही रूप माना है।[1] अत इनके पृथक् निरूपण की आवश्यकता नही।

---

१ भ्रान्तिमान, भ्रान्तिमाला च भ्रान्तेरतिशयश्च य।
भ्रान्त्यनध्यवसायश्च भ्रान्तिरेवेति मे मतम् ॥"—सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३८

स्मरण

स्मरण अलङ्कार मे सादृश्य के आधार पर एक वस्तु से अन्य वस्तु का स्मरण चमत्कार का कारण होता है।[1]

प्रश्न उठ सकता है कि स्मरण का आश्रय तो अनेक अलकारो मे लिया जाता है। उपमा को ही ले, इसके उदाहरण 'मुख कमलमिव सुन्दरम्' मे मुख को देखकर कमल हमारी स्मृति का विषय बनता है तथा स्मृति के विषय बने हुए इस कमल से सम्मुख विद्यमान मुख का सादृश्य प्रतीत होता है। अत स्मरण के आधार पर पृथक् अलङ्कार मानने की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है—उपमा आदि मे स्मरण का आश्रय अवश्य लिया जाता है, परन्तु इनमे चमतकार का कारण स्मरण न होकर सादृश्य आदि होता है । उपर्युक्त उदाहरण मे मुख को देखकर कमल का स्मरण अवश्य होता है, परन्तु चमत्कार का कारण कमल का स्मरण न होकर मुख तथा कमल का सादृश्य होता है। स्मरण मे इसके विपरीत चमत्कार का कारण स्मरण होता है। उपमा मे हमारी दृष्टि सादृश्य पर केन्द्रित रहती है। परन्तु स्मरण मे वह स्मर्यमाण वस्तु पर केन्द्रित रहती है।

सादृश्य के आधार पर जिस वस्तु का स्मरण होता है उसके लिए प्रस्तुत वस्तु के सदृश होना आवश्यक है या नही इस विषय मे आलङ्कारिको मे मतभेद है। कुछ के अनुसार इस वस्तु का प्रस्तुत वस्तु के समान होना आवश्यक है। निम्नलिखित उक्तियो का यही आशय है:—

---

१ "भोज ने सादृश्य के अतिरिक्त अदृष्ट तथा चिन्ता आदि को भी स्मरणालङ्कार का आधार माना है —

"सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम् ।
स्मरण प्रत्यभिज्ञानस्वप्नाद्यपि न तद्वहि. ।।"

भोज का यह मत उचित नही। ससन्देह तथा भ्रान्तिमान् मे जिस प्रकार सादृश्य के अतिरिक्त चिन्ता आदि अन्य कारण चमत्कार के जनक नहीं होते उसी प्रकार वे यहा भी चमत्कार के जनक नही कहे जा सकते ।

"सदृशानुभवाद्व वस्त्वन्तरस्मृति स्मरणम्"—अलङ्कारसर्वस्व सू० १४
"वस्त्वन्तर सदृशमेव" —अलङ्कारसर्वस्व पृ० ३०

"केचित्तु सदृशज्ञानोद्बुद्धसस्कारजन्य सदृशविषयकमेव स्मरणमलङ्कार"
—रसगगाधर पृ० २८७

अन्य आलङ्कारिको के अनुसार इस वस्तु के लिए प्रस्तुत वस्तु के समान होना आवश्यक नही। इनके अनुसार प्रस्तुत वस्तु के सदृश वस्तु से असदृश वस्तु का जो स्मरण होता है वह भी इस अलङ्कार के अन्तर्गत आता है। इस असदृश वस्तु का स्मरण प्रथम दो वस्तुओ के सादृश्य के कारण अवश्य होता है परन्तु यह स्वय उन वस्तुओ के समान नही होती।

"एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्पमालोक्य सगरगत कुरुवीरसैन्यम्।
सस्मार तल्पमहिपुगवकायकान्त निद्रा च योगकलिता भगवान्मुकुन्दः॥"
—रसगगाधर पृ० २८७

यहा तल्प तथा निद्रा का स्मरण पयोधि के स्मरण पर आश्रित है तथा पयोधि का स्मरण सेना तथा पयोधि के सादृश्य पर आश्रित है। इस प्रकार तल्प तथा निद्रा का स्मरण किसी न किसी प्रकार सादृश्य पर आश्रित है ही, परन्तु स्वय तल्प तथा निद्रा का उन वस्तुओ से कोई सादृश्य नही जिनके सादृश्य पर इनका स्मरण आश्रित है। जगन्नाथ का यही मत है। वे लिखते है—

"अत्र तल्पनिद्रयो. स्मरण यद्यपि न तल्पनिद्रासादृश्यदर्शनोद्बुद्धसस्कार-प्रयोज्यम्, तथापि सैन्यगतपयोधिसादृश्यदर्शनोद्बुद्धपयोधिविषयकसस्कारजन्य-पयोधिस्मरणाधीनत्वाद्भवत्येव यत्किञ्चित्सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसस्कारप्रयोज्यम्।"
—रसगगाधर पृ० २८७

यहा तल्प तथा निद्रा के स्मरण को स्मरणालङ्कार के अन्तर्गत करने का जगन्नाथ का प्रयत्न सर्वथा उचित है, परन्तु सादृश्य के बाद दर्शन शब्द का सन्निवेश उचित नही। जगन्नाथ का विचार है कि हमे प्रथम दो वस्तुओ मे सादृश्य का ज्ञान होता है और तब उनके सादृश्यज्ञान के आधार पर प्रथम वस्तु से द्वितीय वस्तु का स्मरण होता है। स्मरणालङ्कार की उनकी निम्नलिखित परिभाषा का यही अर्थ है—

"सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः ।"

—रसगंगाधर पृ० २८७

परन्तु यह सम्भव नही । दो वस्तुओ के सादृश्यज्ञान के लिए आवश्यक है कि प्रथम वस्तु के अतिरिक्त द्वितीय वस्तु की भी उपस्थिति हो । जब तक स्मरण के द्वारा द्वितीय वस्तु की उपस्थिति ही नही होगी तब तक दोनो वस्तुओ के सादृश्य का ज्ञान कैसे सम्भव है । यह अवश्य है कि स्मरण के द्वारा द्वितीय वस्तु की उपस्थिति प्रथम वस्तु के साथ उसके सादृश्य के कारण होती है, परन्तु इस सादृश्य का हमे द्वितीय वस्तु के स्मरण से पूर्व ज्ञान नही होता । प्रथम वस्तु को देखकर उसके सदृश द्वितीय वस्तु का स्मरण स्वतः हो जाता है"। इसके स्मरण के लिए दोनो वस्तुओ के सादृश्यज्ञान की अपेक्षा नही ।

यदि जगन्नाथ को उपर्युक्त परिभाषा मे ज्ञान शब्द का सन्निवेश करना है तो उन्हे 'सादृश्य' के स्थान पर 'सदृश' अथवा 'सदृश वस्तु' शब्द कर देना चाहिए । ऐसा करने से उपर्युक्त दोष नही होगा । हमे पहले प्रथम सदृश वस्तु का ज्ञान होगा और इससे इसके समान द्वितीय वस्तु का स्मरण हो जाएगा । उसके स्मरण के लिए दोनो वस्तुओ के सादृश्यज्ञान की आवश्यकता नही होगी । रुय्यक आदि ने ऐसा ही किया है —

"सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्"

—अलङ्कारसर्वस्व सू० १४

"सदृशदर्शनात्स्मरणं स्मृतिः" —काव्यानुशासन अ० ६ सू० २४

स्मरणालङ्कार मे एक अन्य विषय को लेकर भी आलङ्कारिको मे मत-भेद है । वे सब यह तो स्वीकार करते है कि इस अलङ्कार मे एक वस्तु से अन्य वस्तु का स्मरण होता है परन्तु यह स्मरण प्रथम वस्तु के अनुभव के फलस्वरूप होता है अथवा उसके स्मरण से भी यह सम्भव है इस विषय को लेकर उनमे मतभेद है । रुय्यक आदि के अनुसार इसके लिए प्रथम वस्तु के अनुभव की आवश्यकता है । यही कारण है कि इन्होने अपनी परिभाषा मे अनुभव शब्द का सन्निवेश किया है । जगन्नाथ आदि इसके विपरीत यह मानते है कि अनुभव के अतिरिक्त स्मरण से भी काम चल सकता है । इसी-लिए उन्होने अपनी परिभाषा मे ज्ञान शब्द का सन्निवेश किया है । ज्ञान मे अनुभव तथा स्मरण दोनो आ जाते है ।

कतिपय आलङ्कारिको ने अपनी परिभाषाओ मे अनुभव अथवा ज्ञान शब्द का सन्निवेश न करके दर्शन शब्द का सन्निवेश किया है —

"यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृति. स्मरणम्"

—काव्यप्रकाश १० । १९९

"वस्तुविशेष दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम् ।
कालान्तरानुभूत वस्त्वन्तरमित्यद स्मरणम् ।।"

—रुद्रट काव्यालङ्कार ८ । १०९

दर्शन अनुभव का प्रकार अवश्य है परन्तु यह अनुभव की अपेक्षा सीमित है। दर्शन नेत्रेन्द्रिय का व्यापार है। अनुभव मे इसके अतिरिक्त श्रोत्रादि इन्द्रियो के श्रवणादि व्यापार सम्मिलित है।

इस प्रकार स्मरण की परिभाषाओ मे दर्शन अनुभव अथवा ज्ञान शब्द के सन्निवेश के द्वारा हम स्मरण मे ज्ञान की परिधि का क्रमिक विकास देखते है। इन शब्दो के सन्निवेश के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि ज्ञान शब्द का सन्निवेश ही उचित है। केवल दर्शन को स्मरण का आधार मानना उचित नही क्योकि दर्शन के अतिरिक्त श्रवण आदि अनुभव के अन्य प्रकार भी स्मरण के कारण होते है।

केवल अनुभव को भी स्मरण का आधार मानना उचित नही। व्यक्ति सदा किसी वस्तु का अनुभव करके ही तत्सदृश अन्य वस्तु का स्मरण करे ऐसी बात नही, अपितु कभी कभी ऐसा भी होता है कि वह किसी वस्तु का स्मरण करके भी तत्सदृश अन्य वस्तु का स्मरण करता है। इसी बात को लक्ष्य करके जगन्नाथ ने रुय्यक की परिभाषा का खण्डन किया है —

"यदपि 'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्व-रत्नाकरयो स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्, तदपि न । सदृशस्मरणादुद्बुद्धेन सस्कारेण जनिते स्मरणे अव्याप्ते ।" —रसगगाधर पृ० २९२, २९३

निम्नलिखित उदाहरण मे यही बात है,—

'सन्त्येवास्मिञ्जगति बहव पक्षिणो रम्यरूपा—
स्तेषा मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।
यैरध्यक्षैरथ निजसख नीरद स्मारयद्भि
स्मृत्यारूढ भवति किमपि कृष्णाभिधानम् ।।'

—रसगगाधर पृ० १९३

यहा भगवान् कृष्ण का स्मरण जलधर के अनुभव के कारण न होकर उसके स्मरण के कारण हुआ है।

भामह, भट्टि, दण्डी, उद्भट तथा वामन आदि प्राचीन आलङ्कारिको ने इस अलङ्कार का उल्लेख नही किया है। रुद्रट ने इसका निरूपण किया है। अर्वाचीन आलकारिको मे प्राय सभी ने इसका निरूपण किया है।

"रुद्रट के कतिपय अलंकारों का विवेचन"

रुद्रट ने सादृश्यमूलक अलकारो की कोटि मे कतिपय अन्य अलकारो का निरूपण किया है । ये मत, उत्तर, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, आक्षेप, प्रत्यनीक, पूर्व, समुच्चय तथा साम्य है।[1] इन अलकारो की परिभाषाओ तथा उदाहरणो पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इन अलङ्कारो मे से कतिपय का तो अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कारो मे अन्तर्भाव किया जा सकता है तथा कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत ही नही आते ।

मतम् की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम् ।
ब्रूयादथोपमान तथा विशिष्ट स्वमतसिद्धम् ॥—काव्यालकार ८ । ६९

यथा —मदिरामदभरपाटलमलिकुलनीलालकालिधम्मिलम् ।
तरुणीमुखमिति यदिद कथयति लोक समस्तोऽयम् ॥

मन्येऽहमिन्दुरेप स्फुटमुदयेऽरुणरुचि स्थितै पश्चात् ।
उदयगिरौ छद्मपरैर्निशातमोभिर्गृहीत इव ॥

—काव्यालकार ८ । ७०, ७१

इस परिभाषा तथा उदाहरण से स्पष्ट है कि मत का अन्तर्भाव उत्प्रेक्षा मे किया जा सकता है। उत्प्रेक्षा मे एक वस्तु की अन्य वस्तु मे सम्भावना होती है। यहा भी मुख की सम्भावना इन्दु मे की गई है।

उभयन्यास की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमाया स्वरूपतोऽपेतो ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यास स विज्ञेय ॥—काव्यालकार ८ । ८५

यथा —सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरला ।
सन्ति कियन्तस्तरव सुस्वादुसुगन्धिचारुफला ॥—काव्यालकार ८।८६

---

१ उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुति· सशय समासोक्ति ।
मतमुत्तरमन्योक्ति प्रतीपमर्थान्तरन्यास ॥
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ता ।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदा ॥ —काव्यालकार ८ । २, ३

इस परिभाषा तथा उदाहरण से स्पष्ट है कि उभयन्यास का अन्तर्भाव प्रतिवस्तूपमा मे किया जा सकता है। प्रतिवस्तूपमा के समान यहा साधुओ तथा वृक्षो के क्रमश 'विरला' तथा 'सन्ति कियन्त' इन धर्मो मे वस्तु-प्रतिवस्तुभाव विद्यमान है।

समुच्चय की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

'सोऽय समुच्चय स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्य ।
अनिवादिर्द्रव्यादि सत्युपमानोपमेयत्वे ॥'

यथा —जालेन सरसि मीना हिम्रैरेणा वने च वागुरया ।
ससारे भूतमृजा स्नेहेन नराश्च बध्यन्ते ॥

—काव्यालकार ८। १०३, १०४

यहा जालादि करणो, सरस् आदि अधिकरणो, हिम्र आदि कर्ताओ तथा मीनादि कर्मो का एक बन्धन धर्म से सम्बन्ध है। अत इसका अन्तर्भाव दीपकादि मे किया जा सकता है।

साम्य के दो प्रकार बताए है। प्रथम प्रकार की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हे —

अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम् ।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम् ॥

यथा —अभिसर रमण किमिमा दिशमैन्द्रीमाकुल विलोकयसि ।
शशिन करोति कार्य सकल मुखमेव ते मुग्धे ॥

—काव्यालकार ८। १०५, १०६

यहा मुख का सादृश्य चन्द्र से दिखाया है। 'मुख चन्द्रमा का कार्य करता है' इस वाक्य का अर्थ यही है कि मुख मे चन्द्रमा के समान प्रकाशकारित्व नामक गुणविशेष है। अत इसका अन्तर्भाव उपमा मे किया जा सकता है।

साम्य के द्वितीय प्रकार की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

सर्वाकार यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम् ।
उपमेयोत्कर्षकर कुर्वीत विशेषमन्यत्तत् ॥

यथा —मृग मृगाङ्क सहज कलङ्क बिभर्ति तस्यास्तु मुख कदाचित् ।
आहार्यमेव मृगनाभिपत्रमियानशेषेण तयोर्विशेष ॥

—काव्यालकार ८। १०७, १०८

यहा 'इयानशेषेण तयोर्विशेष' इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि मुख तथा चन्द्र मे केवल एक तत्त्व को छोडकर अन्य सब तत्त्व समान रूप से विद्यमान हे। इस प्रकार यहा साधर्म्य एव वैधर्म्य इन दोनो तत्त्वो के विद्यमान होने से उपमा है। इसका निरूपण दण्डो की अतिशयोपमा का उपमा मे अन्तर्भाव करते समय किया जा चुका है।

उत्तर की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हे —

यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तर ज्ञेयम्॥
यथा —कि मरण दारिद्रच को व्याधिजीवित दरिद्रस्य।
क स्वर्ग सन्मित्र सुकलत्र सुप्रभु सुसुत॥

—काव्यालकार ८।७२, ७३

रुद्रट ने वास्तवमूलक उत्तर का भी निरूपण किया है।[1] उस उत्तर मे इस उत्तर को पृथक् कोटि मे रखने का रुद्रट ने यही कारण बताया है कि इस उत्तर मे ओपम्य होता हे। 'तत्तुल्यम्' शब्द के परिभाषा मे सन्निवेश से यह स्पष्ट है। अब प्रश्न उठता है कि यहा चमत्कार का कारण इस प्रकार का उत्तर है अथवा औपम्य है। यदि चमत्कार का कारण उत्तर है तो इस आशिक भेद के होते हुए भी इसे प्रथम उत्तर के अन्तर्गत रखना ही उचित होगा। परन्तु यदि यहाँ चमत्कार का कारण उत्तर न होकर औपम्य है तो इसे रूपक के अन्तर्गत रखना उचित होगा। आलङ्कारिको ने प्राय उत्तर को सादृश्यमूलक नही माना है ओर उपर्युक्त उदाहरण मे भी चमत्कार का कारण सादृश्य न होकर इस प्रकार का उत्तर देना ही है। अत इसे सादृश्यमूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत रखना उचित नही।

अर्थान्तरन्यास की परिभाषा निम्नलिखित है —

धर्मिणमर्थविशेष सामान्य वाभिधाय तत्सिद्धचै।
यत्र सधर्मिकमितर न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यास॥ —काव्यालकार ८।७९

इस परिभाषा मे यह स्पष्ट है कि अर्थान्तरन्यास मे चमत्कार

---

१ उत्तरवचनश्रवणादुन्नयन यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तर स्यात्प्रश्नादप्युत्तर यत्र॥ —काव्यालङ्कार ७।९३

समर्थ्यसमर्थकभाव के कारण होता है। आलङ्कारिको ने भी अर्थान्तरन्यास मे समर्थ्यसमर्थकभाव ही माना है। अत. सादृश्यमूलक अलङ्कारो मे इसका सन्निवेश उचित नही।

आक्षेप की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात्स आक्षेप ॥

यथा —जनयति सतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्र दहति हिमानी हि भूमिरुह ॥

—काव्यालङ्कार ८। ८९, ९०

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यहा चमत्कार का कारण प्रथम एक बात को कहकर पुन उसका निषेध करना है। यहा 'जनयति सतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि मे' के लिए पहले चित्रम् शब्द का प्रयोग करके पुन 'अथवा किमत्र चित्रम्' के द्वारा उसी का निषेध किया गया है। यहा 'जनयति सतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि' तथा 'दहति हिमानी हि भूमिरुह' मे सादृश्य अवश्य है, परन्तु यह सादृश्य यहा प्रधान न होकर कथित वस्तु के निषेध मे सहायकमात्र है। अन्य आलङ्कारिको ने भी आक्षेप मे निषेधजन्य चमत्कार ही स्वीकार किया है। अत इसे सादृश्यमूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत रखना उचित नही।

प्रत्यनीक की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमान तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीक तत् ॥

यथा —यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम्।
मम तत्र किमापतित तपसि सिताशो यदेव माम् ॥

—काव्यालकार ८। ९२, ९३

इस उदाहरण मे चमत्कार का कारण मुख तथा चन्द्र का सादृश्य नही अपितु नायिका के मुख का प्रतिकार करने मे असमर्थ चन्द्र के द्वारा नायिका से सम्बद्ध नायक का प्रतिकार करना ही चमत्कार का हेतु है। अन्य आलङ्कारिको ने भी प्रत्यनीक मे यही बात मानी है। अत इसे सादृश्यमूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत रखना उचित नही।

पूर्व की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है —

यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य ।
अभिधान प्राग्भवत सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम् ।।

यथा—काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्व वियोगिनीवदनम् ।
गलदविरलसलिलभर पश्चादुपजायते गगनम् ।।

—काव्यालङ्कार ८ । ९७, ९८

इस परिभाषा तथा उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पूर्व अन्य आलङ्कारिको की कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही ।

"सूर्य देवी उषसम् रोचमाना मर्य न योषाम् अभि एति पश्चात् ।"

—ऋग्वेद १ । ११५ । २

उषस्-विषयक मन्त्रो मे यह बात विशेषत देखने को मिलती है । वहा पर उषस् को कन्या, युवती आदि विभिन्न रूपो मे देखा गया है —

"अभ्रातेव पु स एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरीणीते अप्स ॥"

—ऋग्वेद १ । १२४ । ७

"कन्येव तन्वी शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
सस्मयमाना युवति पुरस्तादाविर्वक्षासि कृणुषे विभाती ॥"

—ऋग्वेद १ । १२३ । १०

वैदिक काल मे उपमा का वह सश्लिष्ट चित्र देखने को नही मिलता जो काव्यकाल मे मिलता है । परन्तु सश्लिष्ट चित्र का इस समय सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नही । ऋग्वेद मे जहा एक क्रिया का सादृश्य अन्य क्रिया से दिखाया गया है, वहा वे क्रियाए प्राय दो वस्तुओ से सम्बद्ध दिखाई गई है । इस प्रकार दो वस्तुओ से सम्बद्ध क्रिया का अन्य दो वस्तुओ से सम्बद्ध क्रिया के साथ सादृश्य दिखाकर एक सश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया गया है —

"परा मे यन्ति धीतय गाव न गव्यूती अनु ।
इच्छन्ती उरुचक्षसम् ।" —ऋग्वेद १ । २५ । १६

यहा बुद्धियो का वरुण की ओर जाना उपमेय है तथा गौओ का गोष्ठ की ओर जाना उपमान है । इस प्रकार यहा बुद्धि तथा वरुण इन दो वस्तुओ से सम्बद्ध गमनक्रिया का गौ तथा गोष्ठ इन दो वस्तुओ से सम्बद्ध गमनक्रिया से सादृश्य दिखाया गया है । सम्बन्ध से यहा यह तात्पर्य नही कि दोनो वस्तुओ मे इस क्रिया का वृत्तित्व है । परन्तु इमसे केवल इतना तात्पर्य है कि इन दो वस्तुओ मे से एक मे क्रिया की वृत्ति है तथा वह क्रिया अन्य वस्तु को लक्ष्य करके हो रही है । उपर्युक्त उदाहरण मे बुद्धि तथा गौ मे गमनक्रिया का वृत्तित्व है तथा यह क्रिया क्रमश वरुण तथा गोष्ठ को लक्ष्य करके हो रही है । इस प्रकार यहा प्रधानतः एक क्रिया का सादृश्य अन्य क्रिया से दिखाकर उस क्रिया से सम्बद्ध बुद्धि तथा वरुण का सादृश्य क्रमश' गौ तथा गोष्ठ से दिखाया गया है तथा एक सश्लिष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित किया गया है ।

ऋग्वेद मे मालोपमा का भी प्रयोग देखने को मिलता है —

" न य वराय मरुताम्ऽइव स्वन सेना इव सृष्टा दिव्या यथा अशनि ।"

—ऋग्वेद १ । १४३ । ५

यहा अग्नि का सादृश्य मरुत्स्वन, सेना तथा वज्र मे दिखाकर अग्नि मे विद्यमान दुर्वारत्व धर्म का आधिक्य बताया गया है।

ऋग्वेद मे उपमा के अतिरिक्त रूपक, अतिशयोक्ति आदि अन्य अलङ्कारो का भी प्रयोग हुआ है —

"स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ।"

—वैदिक साहित्य पृ० १८

यहा वाक् पर वज्र का आरोप किया गया है।

निम्नलिखित मन्त्र मे अतिशयोक्ति अलङ्कार है.—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥"

—ऋग्वेद १ । १६४ । १६

यहा जीवात्मा तथा परमात्मा का दो प्रकार के पक्षियो के द्वारा निगरण हो गया है। जो पक्षी स्वादु पिप्पल को खाता है उसके द्वारा उस जीवात्मा का निगरण हुआ है जो फलो का उपभोग करता है, तथा जो पक्षी फल को नही खाता उसके द्वारा उस परमात्मा का निगरण हो गया है जो फलो का उपभोग नही करता।

यास्क के अनुसार ऋग्वेद मे जहा इन्द्र तथा वृत्र के युद्ध का वर्णन है वहा वस्तुत युद्ध का वर्णन न होकर वर्षणकर्म का वर्णन है। यास्क के अनुसार वृत्र का अर्थ मेघ है तथा वज्र के द्वारा वृत्र की जो हत्या की जाती है वह ज्योति तथा जल के सम्पर्क मे आने के कारण वृष्टि का होना है।[1] इस प्रकार ऐसे स्थलो मे इन्द्रवृत्र-युद्ध के बहाने वैज्ञानिक वर्षा का वर्णन है। अत यहा अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार है।

ऋग्वेद मे अन्य अनेक स्थलो पर भी इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग देखने को मिलते हे। वहा पर अप्रस्तुत का वर्णन करके प्रस्तुत की ओर सकेत किया गया है। अत वहा भी अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार है।

---

१ "तत्को वृत्र. ? मेघ इति नैरुक्ता, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका । अपाच ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ।"

—वैदिक साहित्य पृष्ठ २२१

रामायण एवं महाभारत काल

इस काल मे उपमानो का क्षेत्र वैदिक काल की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है। स्थावर तथा जगम जगत् की प्राय सभी वस्तुए उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुई हे। समुद्र, पर्वत, नक्षत्र, पशु, पक्षी आदि सभी उपमान की कोटि मे आ गए हे। इन उपमानो का प्रयोग भिन्न भिन्न साधारणधर्मो को दृष्टि मे रखकर हुआ है। गम्भीरता के लिए समुद्र का, स्थिरता के लिए हिमवान् का, अस्थिरता के लिए ग्रीष्मकालीन नदीस्रोत का तथा क्षमा के लिए पृथ्वी का प्रयोग हुआ है। विस्तार के लिए आकाश तथा सागर का, एव उन्नति के लिए गिरि, मेरुशृ ग आदि का प्रयोग हुआ है। वायु तथा गरुड वेग के उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुए हे। सौन्दर्य के लिए अनेक उपमानो का प्रयोग हुआ है। इनमे चन्द्र, श्री, कन्दर्प आदि प्रसिद्ध है।[1]

ग्रहो मे अनेक ग्रह उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुए हे। चन्द्र तथा सूर्य का प्रयोग प्राय देखने को मिलता है। इनमे चन्द्र का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ मे तथा सूर्य का प्रयोग तेज के अर्थ मे हुआ है।[2]

अनेक देवता भी भिन्न भिन्न धर्मो के उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुए हे। विष्णु वीरता के, धनद त्याग के, इन्द्र शक्ति तथा सम्मान के, यम भयकरता के तथा बृहस्पति बुद्धि के उपमान हे।[3]

---

१ "समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव।" —बालकाण्ड
"चल हि तव सौभाग्य नद्या स्रोत इवोष्णगे।" —अयोध्याकाण्ड
"तेजसाऽऽदित्यसकाश क्षमया पृथिवीसम
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपम॥" —सुन्दरकाण्ड
आकाशमिव दुष्पार सागर प्रेक्ष्य वानरा। —किष्किन्धाकाण्ड
चैत्यप्रासादमाप्लुत्य मेरुशृ गमिवोन्नतम्। —सुन्दरकाण्ड
सुपर्णमिव चात्मान मेने स कपिकुञ्जर। —सुन्दरकाण्ड
जगामाकाशमाविश्य सुपर्ण पवनो यथा। —युद्धकाण्ड
देवताभिस्समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी। —बालकाण्ड

२ तेजसाऽऽदित्यसकाश प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम्। —अयोध्याकाण्ड

३ विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शन।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापर॥ —बालकाण्ड

इन उपमानो के प्रयोग के लिए केवल एक ही वस्तु का ध्यान रखा गया है और वह है उपमेय तथा उपमान की साधारणधर्मता। उपमान की चेतनता अचेतनता, मूर्तता अथवा अमूर्तता का विषय उपमानचयन के विषय के अन्तर्गत नही आता। अत उसका यहा ध्यान नही रखा गया है। यही कारण है कि हमे यहा चेतन वस्तुओ के अचेतन उपमान तथा अचेतन वस्तुओ के चेतन उपमान देखने को मिलते हे। इसी प्रकार मूर्त वस्तुओ के अमूर्त उपमान तथा अमूर्त वस्तुओ के मूर्त उपमान प्रयुक्त हुए हे —

"समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव।"

यहा उपमेय राम चेतन है परन्तु उसके उपमान समुद्र तथा हिमवान् अचेतन ह।

"तेजसा आदित्यसकाश क्षमया पृथिवीसम ।"

यहा उपमेय राम चेतन वस्तु है, परन्तु उसके उपमान आदित्य तथा पृथिवी अचेतन हे।

जहा उपमेय तथा उपमान मे से एक वस्तु चेतन तथा अन्य अचेतन होती है वहा साधारणधर्म प्राय एक वस्तु मे प्रधानत प्रयुक्त होता है तथा अन्य मे उसका प्रयोग उपचार से होता है। उपर्युक्त उदाहरणो मे गाम्भीर्य, स्थैर्य तथा तेज प्रधानत अचेतन वस्तुओ के धर्म है। अत समुद्र आदि के साथ इनका प्रयोग प्रधानत हुआ है तथा राम के साथ गौणतः हुआ है। इसके विपरीत क्षमा प्रधानत चेतन वस्तु का धर्म है। अत उपमेय के अर्थ मे इसका प्रयोग प्रधानत हुआ है तथा उपमान पृथिवी के अर्थ मे इसका प्रयोग गौणत हुआ है।

"प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुता गता।" —सुन्दरकाण्ड

यहा उपमेय मूर्त तथा उपमान अमूर्त है।

इस काल मे शरीर के विभिन्न अवयवो के लिए विभिन्न उपमानो का प्रयोग हुआ है। जिन अवयवो के लिए उपमान का प्रयोग हुआ है उनमे नेत्र प्रमुख है। इसकी तुलना प्राय कमल से की गई है। यथा—

ऋषिभि· पूजितस्सम्यग् यथेन्द्रो विजयी पुरा। —बालकाण्ड

तेन वाक्येन सहृष्टा तमभिप्रायमागतम्।

व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम्। —अयोध्याकाण्ड

बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपम । —सुन्दरकाण्ड

राजीवलोचन , कमलपत्राक्षम्, राजीवताम्राक्ष , कमललोचने, पद्मपत्रनिभेक्षणम् आदि ।[1]

उपमानो का क्षेत्र केवल द्रव्यो तक ही सीमित हो ऐसी बात नही, अपितु गुण तथा कर्म भी उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुए है —

"यथाऽमृतस्य सप्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ।
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य च ॥
प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदय ।
तथैवागमन मन्ये स्वागत ते महामुने ॥" —बालकाण्ड

कभी कभी केवल वस्तु उपमान के रूप मे प्रयुक्त न होकर अवस्थाविशेष मे विद्यमान वह वस्तु उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुई है । उदाहरणत केवल अग्नि उपमान के रूप मे प्रयुक्त नही हुई है अपितु धूए से रहित अग्नि अथवा जलती हुई अग्नि उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुई है —

"त दृष्ट्वा भीमसकाश ज्वलन्तमिव पावकम् ।" —बालकाण्ड
"प्रजज्वाल रणे भीष्मो विधूम इव पावक ॥" —भीष्मपर्व

यहा उपमान पावक को उपर्युक्त अवस्थाओ मे दिखाने के कारण साधारणधर्म तेज मे उत्कर्ष आ गया है । परन्तु उपमान की प्रत्येक अवस्था साधारणधर्म के उत्कर्ष का कारण हो ऐसी बात नही । उपमान की कतिपय अवस्थाए जहा साधारणधर्म मे उत्कर्ष लाती है वहा उसकी कतिपय अवस्थाए उसमे अपकर्ष भी ला देती है । और कभी कभी तो ऐसा होता है कि उपमान जिस साधारणधर्म की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है उपमान की विशेष अवस्था उस धर्म से सर्वथा विपरीत अर्थ का द्योतन कराती है। उदाहरणत अग्नि का धर्म तेज है । अत उपमान के रूप मे इसका प्रयोग प्राय उपमेय के उत्कर्ष का द्योतक है । परन्तु इसी अग्नि के साथ श्मशान शब्द जुड जाने से यह अग्नि उपमेय की हेयता की सूचक बन जाती है —

"लुब्धं महीपति न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजा ।"—अरण्यकाण्ड

इसी प्रकार अग्नि के साथ शाम्यन्, गतार्चिष् शब्दो के जुडने से साधारणधर्म तेज मे अपकर्ष आ गया है —

"शरतल्पगतो भीष्म शाम्यन्निव हुताशन ।" —शान्ति पर्व

"त तथा पतित सख्ये गतार्चिषमिवानलम् ।" —किष्किन्धाकाण्ड

चन्द्रमा की विशेष अवस्थाओ का भी यत्र तत्र उपमान के रूप मे प्रयोग हुआ है। उदाहरणत. उपमान के रूप मे केवल चन्द्र का प्रयोग न होकर परिपूर्णचन्द्र, प्रतिपच्चन्द्र आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। ऐसा करने से साधारणधर्म सौन्दर्य मे उत्कर्ष आ गया है। निम्नलिखित उदाहरण इसके परिचायक है —

"अपश्यन्ती तव मुख परिपूर्णशशिप्रभम् ।" —अयोध्याकाण्ड

"तेजसा आदित्यसकाश प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ।" —अयोध्याकाण्ड

कही कही एक वस्तु उपमान के रूप मे प्रयुक्त न होकर परस्पर-सम्बद्ध अनेक वस्तुए उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुई है। ये परस्पर-सम्बद्ध अनेक वस्तुए एक सश्लिष्ट वस्तु के रूप मे है। जहां उपमान इस प्रकार की सश्लिष्ट वस्तु के रूप मे है वहा उपमेय भी इसी प्रकार का है। अत ऐसी दशा मे एक सश्लिष्ट वस्तु का अन्य सश्लिष्ट वस्तु से सादृश्य दिखाया गया है। इस प्रकार के सादृश्यविधान के द्वारा एक सश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है और वह चमत्कार का कारण होता है।

"दशग्रीवो रथस्थस्तु राम वज्रोपमै शरै ।
आजघान महाघोरै धाराभिरिव तोयद ॥" —युद्धकाण्ड

यहा रावण के द्वारा शरो का प्रहार उपमेय है तथा मेघ के द्वारा धाराओ का प्रहार (निपातन) उपमान है। ये उपमेय तथा उपमान सश्लिष्ट वस्तुए है। सादृश्यविधान प्रधानत इन्ही सश्लिष्ट वस्तुओ मे है। इन सश्लिष्ट वस्तुओ के अनेक अंग है। उपमेय के अग रावण, शर तथा प्रहार है। रावण कर्ता है, शर साधन है तथा प्रहार क्रिया है। उपमान के अग मेघ, धारा तथा प्रहार (निपातन) है। मेघ कर्ता है, धारा साधन है तथा प्रहार (निपातन) क्रिया है। उपमेय के इन अगो का भी उपमान के इन अगो से क्रमश. सादृश्य है, परन्तु यह सादृश्य गौण है तथा प्रधान सादृश्य का कारण है।

कही कही यह संश्लिष्ट वस्तु सम्बन्धविशेष का रूप धारण करती है। ऐसी दशा मे दो वस्तुओ के सम्बन्ध का सादृश्य अन्य दो वस्तुओ के सम्बन्ध से दिखाया गया है —

"प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलाऽसि मे दृढम् ।।" —युद्धकाण्ड

यहा राम के प्रति सीता के सम्बन्ध का सादृश्य नेत्र के प्रति दीप के सम्बन्ध से दिखाया गया है ।

सश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने के लिए अनेक स्थलो पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव का भी आश्रय लिया गया है —

"तत प्रदीप्तलागूल सविद्युदिव तोयद ।" —सुन्दरकाण्ड

"अवतीर्णौ गदाहस्तावेकश्रृगाविवाचलौ ।" —आदिपर्व

यहा प्रथम उदाहरण मे हनुमात् का सादृश्य मेघ से दिखाया गया है । इस सादृश्य का कारण प्रदीप्तलागूल तथा विद्युत् का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है । प्रदीप्तलागूल तथा विद्युत् भिन्न वस्तुए है । परन्तु इन दोनो मे पीत वर्ण तथा दीर्घ आकार साधारणधर्म के रूप मे विद्यमान है । अत दोनो मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है । यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव हनुमान् तथा मेघ के सादृश्य का कारण है । इस बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण यहा एक सश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है ।

इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण मे गदा तथा शृंग मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा वह एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है ।

रामायण तथा महाभारत मे यत्र तत्र मालोपमा का भी प्रयोग हुआ है —

"शोषण सागरस्येव मन्दरस्येव चालनम् ।
नभसः पतन चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च ।
अश्रद्धेयमह मन्ये विनाश शार्ङ्गधन्वनः ।।" —मौसलपर्व

यहा कृष्णजी का विनाश उपमेय है तथा सागर का शोषण, मन्दराचल का चालन आदि उपमान है । साधारणधर्म यहा असम्भाविता है । इस साधारणधर्म की दृष्टि से उपर्युक्त उपमान अत्यन्त उपयुक्त बन पडे है ।

"तेजसाऽऽदित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसम ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपमः ।।" —सुन्दरकाण्ड

यहा एक ही उपमेय के आदित्य, पृथिवी आदि अनेक उपमान है ।

पूर्वोक्त उदाहरण से इसमे कुछ अन्तर है। वह यह है कि पूर्व उदाहरण मे साधारणधर्म केवल एक है परन्तु यहा वे अनेक है।

अनन्वय का निम्नलिखित उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है—

"गगन गगनाकार सागरस्सागरोपम ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥" युद्धकाण्ड

इस उदाहरण की श्रेष्ठता इसी से स्पष्ट है कि अनेक आलकारिको ने अनन्वय के उदाहरण के रूप मे इसे उद्धृत किया है।

असम अलकार का निम्नलिखित उदाहरण भी अत्यन्त उत्तम है—

"न बाह्वो सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ।
त्रिषु लोकेषु वै राम न भवेत्सदृशस्त्वया ॥" —बालकाण्ड

रामायण तथा महाभारत मे रूपक का प्रायः प्रयोग हुआ है। सागर पर वस्त्र का आरोप करके मही को सागराम्बरा कहा गया है। इससे मही का स्त्र्युचित स्वरूप सम्मुख आ उपस्थित होता है। इसी प्रकार शोक पर सागर का आरोप करके शोक की गम्भीरता स्पष्टत. अभिव्यक्त की गई है। निम्नलिखित श्लोक रूपक का सुन्दर उदाहरण है—

"रामचन्द्रमस दृष्ट्वा ग्रस्त रावणराहुणा ।
उपगम्याब्रवीद्रामम् अगस्त्यो भगवानृषिः ।" —युद्धकाण्ड

यहा राम पर चन्द्रमा का तथा रावण पर राहु का आरोप है।

मालारूपक के उदाहरण भी यत्र तत्र मिलते है—

"राजा सत्य च धर्मश्च राजा कुलवता कुलम् ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥" —अयोध्याकाण्ड

यहा राजा पर सत्य, धर्म आदि का आरोप किया गया है।

कही कही पर धर्म आदि उपमानो के साथ विग्रहवान् आदि शब्द जोड दिए गए है—

"रामो विग्रहवान् धर्मः साधु .... सत्यपराक्रम" —अरण्यकाण्ड

ऐसा करने से उस सम्भावित बाधप्रतीति का निराकरण हो जाता है जो मूर्त वस्तु पर अमूर्त के आरोप से सम्भव है।

उत्प्रेक्षा का इन ग्रन्थो मे प्रचुर प्रयोग हुआ है —

"कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्ध प्रदहन्निव चक्षुषा।" —अयोध्याकाण्ड

"इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जित त्रिभुवन त्वया।
स्मरद्भिरेव तद्वैरम् इन्द्रियैरेव निर्जित. ॥" —युद्धकाण्ड

प्रथम उदाहरण मे 'सक्रोध पश्यन्' विषय है। यह विषय अनुपात्त है। इसकी सम्भावना प्रदहन् मे की गई है। द्वितीय उदाहरण मे इन्द्रियो के द्वारा रावण के जीते जाने का कारण वस्तुत' रावण की इन्द्रियपरायणता है। परन्तु यहा कारण इन्द्रियो के द्वारा पूर्व वैर के स्मरण को बताया गया है। इस प्रकार यहा एक वस्तु की सम्भावना'अन्य वस्तु मे की गई है।

कही कही उपमान के साथ अपर शब्द लगाकर सम्भावना की गई है—

"इक्ष्वाकूणा कुले जात साक्षाद्धर्म इवापर ।" —बालकाण्ड

"सर्वप्रियकरस्तस्य बहिः प्राण इवापर ॥" —बालकाण्ड

इन अलकारो के अतिरिक्त अन्य अलकारो के उदाहरण भी कही कही मिलते है। अतिशयोक्ति का उदाहरण निम्नलिखित है —

"एष विग्रहवान् धर्म.··· · ·" —बालकाण्ड

यहा उपमेय का सर्वथा निगरण हो गया है।

अप्रस्तुतप्रशमा का उदाहरण इस प्रकार है —

"क कृष्णसर्पमासीनम् आशीविषमनागसम्।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया॥' —अरण्यकाण्ड

यहा प्रस्तुत का वर्णन न करके अप्रस्तुत का वर्णन किया गया है। सन्देह का उदाहरण इस प्रकार है —

"का त्वं काञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनी।
ह्री कीर्तिश्श्रीश्शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने।
मूर्तिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी॥" —अरण्यकाण्ड

"काव्यकाल"

इस काल मे उपमानो का क्षेत्र पूर्व की अपेक्षा भी विस्तृत हो गया है। चल तथा अचल जगत् की ऐसी कोई वस्तु नही जो किसी न किसी रूप मे उपमान के रूप मे प्रयुक्त न हुई हो। प्रत्येक वस्तु मे अपनी विशेषता होती है। इसी विशेषता को दृष्टिगत करके कवियो ने उस वस्तु को उपमान के रूप मे प्रयुक्त किया है। महाकवि कालिदास इसी काल मे हुए। उनकी उपमाए "उपमा कालिदासस्य" की उक्ति से प्रसिद्ध है। कालिदास की उपमाओ की इस प्रसिद्धि का कारण उपमानो की उपयुक्तता तथा सश्लिष्ट चित्रण आदि है।

उपमानो की उपयुक्तता दो वस्तुओ पर निर्भर करती है—उपमानचयन के क्षेत्र के विस्तार पर तथा कवि की निरीक्षणशक्ति पर। उपमानचयन का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण कवि को अपनी निरीक्षणशक्ति के बल पर उसमे उस धर्म से युक्त उपमान की सहज ही प्राप्ति हो जाती है जिसकी अभिव्यञ्जना वह उपमेय मे करना चाहता है। कालिदास मे ये दोनो बाते है। कालिदास की निरीक्षणशक्ति तो प्रसिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त उनके उपमानों का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है।

उपमानो के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए कालिदास ने पदार्थों के समन्वय तथा भावजगत् अथवा विचारजगत् एवं कल्पनाजगत् का आश्रय लिया है। पदार्थो के समन्वय मे उन्होने दो या अधिक वस्तुओ को सयुक्त रूप से उपमान के रूप मे प्रयुक्त करके उपमेय का चित्र सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करते समय उन्होने उपमेय तथा उपमान के रूप मे प्रयुक्त वस्तुओ का पृथक् पृथक् रूप से सादृश्य दिखाने के अतिरिक्त उन वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध के सादृश्य को भी ध्यान मे रखा है। इस प्रकार उपमेय के समस्त चित्र का सादृश्य उपमान के समस्त चित्र से दिखाया गया है:—

"पुष्प प्रवालोपहित यदि स्यान्मुक्ताफल वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुच स्मितस्य॥"

—कुमारसम्भव १।४४

यहा ताम्रौष्ठ तथा स्मित का क्रमश प्रवाल तथा पुष्प अथवा विद्रुम

तथा मुक्ताफल के साथ सादृश्य दिखाने के अतिरिक्त यह भी दिखाया गया है कि ताम्रौष्ठ एव स्मित मे आधाराधेयभाव उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रवाल तथा पुष्प अथवा विद्रुम तथा मुक्ताफल मे हो।

कालिदास के उपमानो का क्षेत्र प्रत्यक्ष जगत् तक ही सीमित नही अपितु परोक्ष जगत् भी उसके अन्तर्गत आ गया है। यह परोक्ष जगत् भावो अथवा विचारो का जगत् है। इसमे श्रद्धा, ज्ञान, धर्म उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुए है —

"बभौ च सा तेन सता मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना।"

—रघुवश २। ६६

यहा गौ का सादृश्य श्रद्धा से दिखाया गया है। यह श्रद्धा परोक्ष जगत् की वस्तु है।

दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के सिद्धान्त इस भावजगत् अथवा विचार-जगत् के अन्तर्गत आ जाते हे। बुद्धि की अव्यक्त से उत्पत्ति, स्मृति के द्वारा श्रुति का अनुसरण, राजा के द्वारा रक्षित भूमि के षष्ठाश का ग्रहण आदि विभिन्न शास्त्रो के सिद्धान्त इसी विचारजगत् के अन्तर्गत आते हे। इनका भी यत्र तत्र उपमान के रूप मे प्रयोग हुआ है।

"ब्राह्म सर कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति।"

—रघुवश १३। ६०

"तस्या खुरन्यासपवित्रपासुमपासुलाना धुरि कीर्तनीया।
मार्ग मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थ स्मृतिरन्वगच्छत्।"

—रघुवश २। २

"वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मात.।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तु षष्ठाशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥"

—रघुवश २। ६६

कालिदास उपमानो के चयन के लिए काल्पनिक जगत् की ओर भी उन्मुख हुए है। इस जगत् के उपमानो की सत्ता व्यावहारिक जगत् मे देखने को नही मिलती। ये केवल कविकल्पना की सृष्टि होते है —

"ऐरावत स्फटिकशैलसोदरम्।" —कुमारसम्भव १४। ५

"तेजोभिर्दिनपतिशतसर्वमा ै॥" —कुमारसम्भव १०। ६०

उपमानो के क्षेत्र का यह विस्तार उपयुक्त उपमान के चयन मे अत्यन्त सहायक हुआ है। उदाहरणत 'ऐरावत स्फटिकशैलसोदरम्' मे उपमेय ऐरावत मे श्वेतता तथा विशालता ये दो धर्म दिखाने अभीष्ट है। विशालता-धर्म के लिए शैल के रूप मे उपमान लोक मे विद्यमान है। शैल मे विशालताधर्म हम प्रत्यक्ष लोक मे देखते है। परन्तु श्वेतताधर्म इस लौकिक शैल मे नही होता। इस धर्म को दिखाने के लिए कवि ने कल्पना का आश्रय लेकर स्फटिक-शैल की सृष्टि की है। इस काल्पनिक स्फटिक शैल के द्वारा विशालता के साथ साथ उस श्वेतताधर्म की भी अभिव्यक्ति हो जाती है जो लौकिक शैल से सम्भव नही।

'तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानै.' मे तेज की अधिकता दिखाना कवि को अभीष्ट है। तेज के उपमान के रूप मे सूर्य लोक मे विद्यमान है। परन्तु एक सूर्य को उपमान के रूप मे प्रयुक्त करने से तेज के उस आधिक्य की अभिव्यक्ति नही हो सकती जो कवि को अभीष्ट है। अत उसने एक स्थान पर सौ सूर्यो की कल्पना करके उन्हे उपमान के रूप मे प्रयुक्त किया है। ऐसा करने से उस तेज की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है जो अन्यथा सम्भव नही।

उपमान चयन के लिए भाव-जगत् का आश्रय उपमान की उपयुक्तता के लिए होता है। प्रत्यक्ष जगत् मे साधारणधर्म की यह प्रतीति उपमान की प्रतीति से प्राय पृथक् होती है। परन्तु भावजगत् मे उन दोनो की प्रतीति मे भेद नही होता। प्रत्यक्ष जगत् मे उपमान से किसी धर्म की अभिव्यक्ति इसलिए होती है क्योकि उस धर्म की उस उपमान मे सत्ता है। भावजगत् मे इसके विपरीत धर्म ही उपमान का रूप धारण करता है। उदाहरणत प्रत्यक्ष जगत् मे वीरता, शूरता आदि की अभिव्यक्ति के लिए सिह आदि का उपमान के रूप मे प्रयोग किया जाएगा। परन्तु भाव-जगत् मे ये शूरता आदि ही उपमान बन जाएगे। इस प्रकार प्रथम दशा मे जहा यह कहा जाएगा कि वह सिह के समान है अथवा सिह है वहा द्वितीय दशा मे कह दिया जाएगा कि वह साक्षात् अथवा मूर्तिमान् शौर्य है। प्रथम प्रयोग मे उपमान सिह से शौर्यधर्म की प्रतीति होती है, परन्तु द्वितीय प्रयोग मे यह शौर्य ही उपमान बन गया है। इस प्रकार इस द्वितीय प्रयोग मे उपमान तथा साधारणधर्म मे कोई अन्तर नही रहता। कालिदास का निम्नलिखित उदाहरण इसी प्रकार का है:—

'व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध सालप्राशुर्महाभुज ।
आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रित ॥" —रघुवश १ । १३

यहा उपमेय मे जिस क्षात्र धर्म की अभिव्यक्ति अभीष्ट है उसे ही उपमान बना दिया गया है ।

अचेतन वस्तुओ पर चेतनता का आरोप सादृश्यविधान की उपयुक्तता मे अत्यन्त सहायक हुआ है । कालिदास ने प्रकृति की विभिन्न वस्तुओ पर चेतनता का आरोप करके उन्हे स्त्री अथवा पुरुष के रूप मे देखा है । रात्रि को कालिदास ने स्त्री के रूप मे देखा है तथा चन्द्र को पुरुष के रूप मे देखा है । इसी प्रकार लताओ आदि को इन्होने स्त्री के रूप मे तथा पादप आदि को पुरुष के रूप मे देखा है । इस मानवीकरण के द्वारा सादृश्यविधान मे अत्यन्त चारुता आ गई है ।

"अगुलीभिरिव केशसचय सन्निगृह्य तिमिर मरीचिभि ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचन चुम्बतीव रजनीमुख शशी ॥"
—कुमारसम्भव ८।६३

यहा अचेतन रजनी का चेतन नायिका से तथा अचेतन शशी का चेतन नायक से सादृश्य व्यग्य है । यह सादृश्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है ।

कालिदास ने जहा दो वस्तुओ मे सादृश्य दिखाया है वहा वह सादृश्य प्रत्येक सम्भव दृष्टि से घटता है । इससे वह सादृश्य अत्यन्त उपयुक्त तथा सुन्दर बन पडा है ।

"तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजा प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रै पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदय नाथमिवौषधीनाम् ॥"
रघुवश २ । ७३

यहा राजा दिलीप का सादृश्य नवोदित चन्द्र से दिखाया गया है । यह सादृश्य अनेक प्रकार से घटता है—उत्सुकतापूर्ण दर्शन के द्वारा, शरीर की कृशता के द्वारा तथा सौन्दर्य के द्वारा । इन तीनो धर्मों मे से प्रथम दो वाच्य है तथा तृतीय व्यग्य है । यहा प्रधानत सादृश्य यद्यपि प्रथम साधारणधर्म के कारण ही है, परन्तु अन्तिम दोनो धर्म उसमे सहायक है तथा उसके उत्कर्षक है ।

कालिदास ने अपने सादृश्यविधान के द्वारा अनेक स्थलो पर एक

सश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया है। इस सश्लिष्ट चित्र के लिए उन्होने बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव, वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्धो का सादृश्य आदि अनेक उपाय अपनाए है। निम्नलिखित श्लोक सावारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उत्कृष्ट उदाहरण है —

"वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्त मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥"

—रघुवश १३। २

यहा अम्बुराशि का सादृश्य आकाश से दिखाया गया है। इसके लिए सेतु तथा छायापथ एव फेन तथा तारागण के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आश्रय लिया गया है। सेतु तथा फेन समुद्र के धर्म है तथा छायापथ एव तारागण आकाश के धर्म है। इनमे प्रथम दो धर्मो का क्रमश अन्तिम दो धर्मो से सादृश्य है। अत समुद्र तथा आकाश मे सादृश्य है। इस सादृश्य के अतिरिक्त स्वच्छता, नीलवर्णता एव विस्तार के कारण भी समुद्र तथा आकाश मे सादृश्य है। स्वच्छता का तो 'शरत्प्रसन्नम्' विशेषण के रूप मे आकाश मे निर्देश भी है। इन धर्मो के द्वारा उत्पन्न सादृश्य पूर्व धर्मो से उत्पन्न सादृश्य मे सहायक है। इस सादृश्यविधान के द्वारा हमारे सम्मुख सश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है जिसमे समुद्र तथा आकाश का अपने निर्दिष्ट धर्मो के साथ एक चित्र खिच जाता है।

कालिदास ने अनेक स्थलो पर सश्लिष्ट वस्तुओ का सादृश्य दिखाया है। इस सादृश्यविधान के समय सश्लिष्ट वस्तुओ की अगभूत विभिन्न वस्तुओ का पृथक् पृथक् प्रसिद्ध सादृश्य दिखाना अनिवार्य नही। परन्तु कालिदास ने इसका भी ध्यान रखा है। इससे सादृश्यविधान मे अत्यन्त चारुता आ गई है।

"तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥"

—रघुवश २। ३९

यहा प्रधानत सादृश्य 'एषा गौ मे तृप्त्यै अलम्' तथा 'चान्द्रमसी सुधा सुरद्विषस्तृप्त्यै अलम्' मे है। अत इसका अर्थ है कि यह गौ मेरी तृप्ति के लिए उसी प्रकार पर्याप्त है जिस प्रकार चान्द्रमसी सुधा राहु की तृप्ति के लिए पर्याप्त हो। यहा गौ तथा चन्द्रिका एव सिह तथा राहु मे विद्यमान

प्रसिद्व सादृश्य का भी ध्यान रखा गया है। गौ तथा चन्द्रिका मे कोमलता प्रसिद्व साधारणधर्म है एव सिह तथा राहु मे भयङ्करता प्रसिद्ध साधारणधर्म हे। इससे प्रस्तुत प्रधान सादृश्य मे अत्यन्त चारुता आ गई है।

पारस्परिक सम्बन्धो के सादृश्य के उदाहरण भी कालिदास मे यत्र तत्र मिलते है। ये सम्बन्ध अनुकूलभाव, प्रतिकूलभाव, कार्यकारणभाव आदि अनेक रूपों मे विद्यमान है। निम्नलिखित उदाहरण मे कार्यकारणभावरूप सम्बन्धो का सादृश्य है —

'पयोधरै पुण्यजनाङ्गनाना निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्या ।
ब्राह्म सर कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥"

—रघुवश १३ । ६६

यहा सरयू तथा मानसरोवर के पारस्परिक सम्बन्ध का सादृश्य बुद्धि तथा अव्यक्त के पारस्परिक सम्बन्ध से दिखाया गया है। सरयू मानसरोवर से उत्पन्न होती है। अत इन दोनो मे कार्यकारणसम्बन्ध है। यही बात बुद्धि तथा अव्यक्त के साथ है। अत सरयू तथा मानस के सम्बन्ध का सादृश्य बुद्धि तथा अव्यक्त के सम्बन्ध से है।

इन विशेषताओ के अतिरिक्त कालिदास मे प्राय वे सभी विशेषताए मिलती है जो वाल्मीकि मे है। उपमा की दृष्टि से कालिदास तथा बाल्मीकि मे पर्याप्त साम्य है। परन्तु कालिदास इस दृष्टि मे वाल्मीकि से आगे बढ गए दिखाई देते है। वाल्मीकि ने जहा सीधा सादा वर्णन किया है, कालिदास ने उसे सादृश्यविधान के द्वारा अत्यन्त सुन्दर बना दिया है। वाल्मीकि तथा कालिदास के निम्नलिखित श्लोको की तुलना से यह स्पष्ट है'—

"असौ सुतनु शैलेन्द्रश्चित्रकूट प्रकाशते।" —रामायण

"धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्क ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्त ककुद्मानिव चित्रकूट ॥"

—रघुवश १३ । ४७

बाल्मीकि का चित्रकूट का उपर्युक्त वर्णन अत्यन्त सीधा सादा है। परन्तु कालिदास ने विभिन्न धर्मों से युक्त उसका सादृश्य विभिन्न धर्मों से युक्त ककुद्मान् के साथ बिम्बप्रतिबिम्बभाव के द्वारा दिखाकर उसे अत्यन्त सुन्दर बना दिया है।

इस काल मे कालिदास के समान भारवि, माघ आदि ने भी उपमाओ का प्रचुर प्रयोग किया है। इनकी उपमाओ मे भी प्राय: वे ही विशेषताए है जो कालिदास की उपमाओ मे है। परन्तु ये इस दृष्टि से कालिदास के समकक्ष नही कहे जा सकते।

इस काल मे शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन विस्तार से मिलता है। शरीर के विभिन्न अवयवो एव क्रियाओ के लिए विभिन्न उपमानो का प्रयोग हुआ है। मुख, नेत्र, भ्रू, दान्त आदि का सादृश्य क्रमश चन्द्र अथवा कमल, कमल अथवा भृङ्ग, भृङ्गावली, दाडिम आदि से दिखाया गया है। शरीर का कोई अवयव ऐसा नही जिसका कोई उपमान न हो।

शरीर के कतिपय अवयवो तथा क्रियाओ का सादृश्य अन्य पशु पक्षियो के उन्ही अवयवो तथा क्रियाओ से दिखाया गया है। उदाहरणत नेत्र का सादृश्य मृगनेत्र से, ग्रीवा का सादृश्य कच्छप की ग्रीवा से, वाणी का हस शुक आदि की वाणी से तथा गमन का हस हस्ती आदि के गमन से दिखाया गया है। मृगाक्षी, गजगमना कोकिलवाणी आदि शब्दो का इस काल मे प्रचुर प्रयोग मिलता है।

अनेक अमूर्त वस्तुओ मे वर्णविशेष की कल्पना करके उनका सादृश्य ऐसी मूर्त वस्तुओ से दिखाया गया है जिनमे वह वर्णविशेष विद्यमान है। यश मे श्वेतवर्ण की कल्पना करके उसका सादृश्य दुग्ध आदि से दिखाया है। इसी प्रकार अनुराग आदि मे रक्त आदि वर्णों की कल्पना करके उनका सादृश्य उस उस वर्ण से युक्त वस्तु से दिखाया है।

इस काल मे कतिपय लेखको ने केवल शब्दसादृश्य के आधार पर उपमा का विधान किया है। इन लेखको मे सुबन्धु आदि गद्यलेखक अत्यन्त प्रसिद्ध है। वर्षाकाल का विभिन्न वस्तुओ से सादृश्य दिखाते हुए सुबन्धु लिखते है —

"एकदा तु कतिपयमासापगमे काकलीगायन इव समृद्धनिम्नगानद, सायन्तनसमय इव नर्तितनीलकण्ठ —समाजगाम वर्षासमय।"

—वासवदत्ता

यहा वर्षासमय का सादृश्य काकलीगायन आदि विभिन्न वस्तुओ से दिखाया गया है। वस्तुत इस प्रकार के सादृश्य को हम सादृश्य नही कह सकते। उपर्युक्त उदाहरण मे हम लेखक के भाषा के अधिकार तथा उसके

मानसिक व्यायाम की सराहना करते है, परन्तु सादृश्य के लिए जिस साधारणधर्म की आवश्यकता है उसका यहा अभाव होने के कारण हम ऐसे उदाहरणो को उपमा के अन्तर्गत नही कर सकते ।

उपमा के अतिरिक्त अन्य सादृश्यमूलक अलकारो का भी इस काल मे प्रचुर प्रयोग हुआ है । उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, समासोक्ति आदि सभी अलकारो का प्रयोग हमे यत्र तत्र देखने को मिलता है ।

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में सादृश्यमूलक अर्थालंकारों का विकास

भरत मुनि के नाटचशास्त्र मे सर्वप्रथम हमे केवल तीन अलकारो का निरूपण मिलता है। ये उपमा, रूपक तथा दीपक हे। अत इन अलकारो को हम सादृश्यमूलक अर्थालकारो के विकास की प्रथम अवस्था कह सकते हे। विकास की प्रथम अवस्था मे इन अलकारो का निरूपण स्वाभाविक था। इसका कारण यह है कि सादृश्यमूलक अलकारो का विकास बहुत कुछ अशो मे साधारणधर्म के विभिन्न भेदो के आधार पर हुआ है। साधारणधर्म का जो भेद वस्तुओ का सादृश्य बताने मे सीधा सहायक होता है उस पर आश्रित अलंकार की ओर ध्यान सबमे पहले जाता है। साधारणधर्मो के भेदो मे अनुगामी भेद को हम सादृश्य मे सीधा सहायक कह सकते है।[1] वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न तथा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्मो के नाम क्रमश इसके बाद आते है। साधारणधर्म की अनुगामिता की दशा मे साधारणधर्म का एक ही रूप उपमेय तथा उपमान मे रहता है। अत उससे उपमेय तथा उपमान मे सादृश्य का बोध अपेक्षाकृत शीघ्र होता है। वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न तथा बिम्बप्रतिबिम्ब भावापन्न साधारणधर्मो मे यह बात नही। उपमा, रूपक तथा दीपक मे साधारणधर्म की अनुगामिता होती है। अत इन अलकारो का सर्वप्रथम निरूपण स्वाभाविक था।

उपमा तथा दीपक मे साधारणधर्म की अनुगामिता की दृष्टि से तो कोई भेद नही, परन्तु उनमे एक अन्य भेद है। वह यह है कि उपमा मे हमारा ध्यान सीधे सादृश्य पर केन्द्रित होता है, परन्तु दीपक मे वह प्रथम एकधर्माभिसम्बन्ध की ओर जाता है और तब सादृश्य का ज्ञान होता है। अत हम कह सकते है कि उपमा का आविर्भाव दीपक से पहले हुआ है। निरुक्त तथा अष्टाध्यायी आदि प्राचीन व्याकरणग्रन्थो मे उपमा-सम्बन्धी वर्णन इस बात को पुष्ट करता है।

उपमा तथा रूपक मे साधारण अन्तर है। वह यह है कि उपमा मे साधर्म्य का क्षेत्र सीमित होता है, परन्तु रूपक मे वह उपमेय तथा

---

१. देखिए उपमाप्रकरण

उपमान के समस्त धर्मो को अपने अन्तर्गत कर लेता है। इस प्रकार उपमा का साधर्म्य रूपक मे तादूप्य मे परिणत हो जाता है। अत हम कह सकते है कि रूपक का आविर्भाव उपमा के कुछ बाद हो गया होगा। यास्क के निरुक्त मे जहा उपमा का निरूपण किया गया है वहा अर्थोपमा अथवा लुप्तोपमा का भी वर्णन है। यह लुप्तोपमा परवर्ती आलङ्कारिको के रूपकालङ्कार से भिन्न नही।

नाटयशास्त्र के बाद भामह का काव्यालङ्कार हमारे सामने आता है। इसमे रूपक, दीपक, उपमा, व्यतिरेक, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशसा, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव का निरूपण है। नाटयशास्त्र के तीन अलङ्कारो के बाद भामह ने अकेले इतने अधिक अलङ्कारो का आविष्कार कर डाला हो यह विश्वसनीय प्रतीत नही होता। निश्चय ही अलङ्कारो की इस सख्यावृद्धि मे अनेक आलङ्कारिको ने योग दिया होगा। स्वय भामह ने भी अपने पूर्ववर्ती मेधावी आदि अनेक आलङ्कारिको का उल्लेख किया है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि नाटयशास्त्र तथा भामह के काव्यालङ्कार के बीच अलङ्कारो के विकास की कई अवस्थाए रही होगी। परन्तु वे प्रबन्धरूप मे इस समय प्राप्य नही है।

भामह ने अलङ्कारो का जो निरूपण किया है वह सब अलङ्कारो को एक समुदाय मे रखकर नही किया। परन्तु उन्हे विभिन्न समुदायो मे बाटकर किया है। रूपक, दीपक तथा उपमा को भामह ने प्रथम समुदाय मे रखा है।[1] व्यतिरेक, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति द्वितीय समुदाय मे आते है।[2] तृतीय समुदाय मे उत्प्रेक्षा का सन्निवेश है[3] तथा चतुर्थ समुदाय मे शेष सादृश्यमूलक अलङ्कारो को रखा है।[4] इसमे यदि हम यह अनुमान लगाए कि इन विभिन्न समुदायो मे अलङ्कारो

---

१ अनुप्रासः सयमको रूपक दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्कारा· पञ्चवाऽन्यैरुदाहृता· ॥ —काव्यालङ्कार २–४

२. आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती च षडलङ्कृतयोऽपरा ॥ —काव्यालङ्कार २। ६६

३ यथासख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वय विदु·। —काव्यालङ्कार २। ८८

४ देखिए काव्यालङ्कार तृतीय परिच्छेद।

को रखने से भामह का तात्पर्य अलंकारो के विकास की विभिन्न अवस्थाओ की ओर सकेत करना था तो अनुचित न होगा। अत इस अनुमान का सहारा लेकर हम अलङ्कारो का विकास दिखाने का प्रयत्न करते है।

नाट्यशास्त्र मे उपमा तथा रूपक का निरूपण हो चुका था। जैसा हम ऊपर दिखा आए हे उपमा से रूपक तक आने की प्रक्रिया साधर्म्य के ताद्रूप्य मे परिणत होने की प्रक्रिया है। उपमा मे एक या अधिक साधारणधर्मो के आधार पर साधर्म्य होता है। रूपक के लिए आवश्यक है कि उपमा मे विद्यमान इस साधर्म्य का क्षेत्र आगे बढे तथा परम विस्तृत होकर वह ताद्रूप्य का रूप धारण कर ले। परन्तु यह आवश्यक नही कि साधर्म्य का यह क्षेत्र प्रत्येक दशा मे आगे ही बढे। कभी कभी इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है। ऐसी दशा मे जिस साधारणधर्म के आधार पर वस्तुओ मे साधर्म्य होता है उसमे मात्राभेद के कारण वस्तुओ मे वैधर्म्य हो जाता है। उदाहरणत मुख तथा कमल मे यदि सौन्दर्य साधारणधर्म है तो इन दोनो मे से किसी एक मे सौन्दर्य की मात्रा अन्य मे विद्यमान सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक होगी। इस प्रकार इस मात्राभेद के फलस्वरूप दोनो वस्तुओ मे वैधर्म्य होगा। साधर्म्य के साथ वैधर्म्य के सन्निवेश की यह प्रक्रिया साधर्म्य की ताद्रूप्य मे परिणतिसम्बन्धिनी प्रक्रिया की विरोधी है। इस दशा मे अभिव्यक्त अलङ्कार का नाम आलङ्कारिको ने व्यतिरेक रखा। उपमा तथा रूपक के आविर्भाव के बाद आलङ्कारिको का ध्यान शीघ्र ही इस अलकार की ओर गया होगा। यही कारण है कि इस अलकार का उल्लेख भामह ने द्वितीय वर्ग मे किया है।

यह तो हुई साधर्म्यविस्तारसम्बन्धिनी प्रक्रिया की विरोधी प्रक्रिया। परन्तु यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो तो साधर्म्य ताद्रूप्य मे परिणत हो जाता है। ताद्रूप्य पर आने पर यह प्रक्रिया समाप्त नही होती परन्तु आगे बढती है। ताद्रूप्य मे वस्तुओ के समस्त धर्मो मे तो एकता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु उन वस्तुओ का अस्तित्व पृथक् बना रहता है। अत सादृश्य से आरम्भ होने वाली प्रक्रिया और आगे बढती हे तथा वस्तुओ के भेदाभाव मे आकर पर्यवसित होती है। भेदाभाव की इस स्थिति मे अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इस अलंकार का आविर्भाव रूपक के बाद हुआ होगा क्योकि भामह ने अलङ्कारो के द्वितीय वर्ग मे इस अलकार

का उल्लेख किया है। यहा यह बात अवश्य है कि भामह ने अतिशयोक्ति की परिभाषा भेदाभाव न करके लोकातिक्रान्तगोचरता की है। यह लोकातिक्रान्तगोचरता केवल भेदाभाव की स्थिति मे ही नही होती अपितु उपमा आदि सभी अलङ्कारो मे होती है। परन्तु क्योकि उपमा मे आरम्भ होने वाली सादृश्यप्रतीति का पर्यवसान भेदाभाव वाली स्थिति मे आकर होता है। अत यदि इस स्थिति मे लोकातिक्रान्तगोचरता की चरम सीमा मानकर इस स्थिति को लोकातिक्रान्तगोचरता का नाम दिया जाए तो अनुचित न होगा।

ताद्रूप्य से भेदाभाव तक आने के लिए सादृश्यप्रतीति की एक प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया को हम भेदाभावोन्मुखी प्रक्रिया कह सकते है। इस स्थिति मे विषय निगीर्यमाण होता है। भेदाभाव की स्थिति मे आकर वह निगीर्ण हो जाता है।[1] इस भेदाभावोन्मुखी प्रक्रिया मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है। यह सम्भव है कि आलङ्कारिको का ध्यान पहले भेदाभाव की स्थिति पर गया हो और बाद मे उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व होने वाली प्रक्रिया की ओर गया हो। यही कारण है कि भामह ने उत्प्रेक्षालङ्कार का सन्निवेश तृतीय वर्ग मे किया है।

उत्प्रेक्षालङ्कार के आविर्भाव के आसपास ही रूपक से आंशिक भेद के आधार पर अपह्नुति का आविर्भाव हो गया होगा।[2] भामह ने इसका सन्निवेश चतुर्थ वर्ग मे किया है।

उपमा के आधार पर अनन्वय तथा उपमेयोपमा अलङ्कार का आविर्भाव हुआ होगा। उपमा मे उपमेय को उपमान के समान कहा जाता है। ये उपमेय तथा उपमान पृथक् पृथक् होते है। इसको देखकर आलङ्कारिको के ध्यान मे यह बात आई होगी कि यह आवश्यक नही कि उपमेय तथा उपमान प्रत्येक दशा मे भिन्न भिन्न ही हो। कभी कभी उसी वस्तु का उसी से भी सादृश्य सम्भव है। इस दशा मे उत्पन्न चमत्कार उन्हे उपमाजन्य चमत्कार से भिन्न दिखाई दिया। उपमा मे

---

१ इसका विवेचन पूर्व किया जा चुका है।

२ रूपक तथा अपह्नुति के भेद का विवेचन अपह्नुति के प्रकरण मे किया जा चुका है।

तो सादृश्यप्रतीति थी, परन्तु यहा उन्हे द्वितीयसादृश्यव्यवच्छेद दिखाई दिया। इसके आधार पर उन्होने अनन्वय नामक पृथक् अलङ्कार का आविर्भाव किया।

इसी प्रकार उपमा मे एक वस्तु का द्वितीय वस्तु से सादृश्य देखकर आलङ्कारिको के यह ध्यान मे आया होगा कि यदि इस द्वितीय वस्तु का सादृश्य पुन प्रथम वस्तु से दिखाया जाए तो क्या स्थिति हो। इस दशा मे उन्हे भिन्न चमत्कार भी दिखाई दिया। यह तृतीयसादृश्यव्यवच्छेद के रूप मे था। अत उन्होने इसके आधार पर उपमेयोपमा नामक पृथक् अलङ्कार का आविर्भाव किया।

दीपक के आधार पर तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति नामक दो अलकारो का आविर्भाव हुआ। दीपक मे एक धर्म से सम्बद्ध वस्तुए प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत होती हे। सादृश्यविधान मे वस्तुओ का अधिकतर यही रूप होता है। अत इस रूप मे विद्यमान वस्तुओ के एकधर्माभिसम्बन्ध की ओर आलकारिको का ध्यान पहले जाना स्वाभाविक था। परन्तु इसके बाद उनका ध्यान एकधर्माभिसम्बन्ध के उस रूप की ओर गया होगा जिसमे सम्बद्ध वस्तुए प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत हो। इसके आधार पर उन्होने तुल्ययोगिता की कल्पना की। इसके साथ साथ उन्होने एक धर्म से सम्बद्ध वस्तुओ की ऐसी स्थिति की भी कल्पना की जिसमे कुछ वस्तुए धर्म से प्रधानत तथा अन्य गौणत सम्बद्ध हो। इसके आधार पर सहोक्ति अलकार का आविर्भाव हुआ। भामह ने इन दोनो अलकारो का निरूपण चतुर्थ वर्ग मे किया है।

अब तक जिन सादृश्यमूलक अलकारो का आविर्भाव बताया गया है उनमे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो अभिधा के विषय है। परन्तु कभी कभी ऐसा भी सम्भव है जब उन दोनो मे से एक वाच्य हो तथा अन्य व्यग्य हो। ऐसी स्थिति मे समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशसा अलकार माने गए। भामह ने इन दोनो का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त अलकारो का आविर्भाव साधारणधर्म की अनुगामिता को लक्ष्य करके बताया गया है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव-रूप साधारणधर्म के आधार पर अलकारो का आविर्भाव अभी शेष है।

भामह ने साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव पर आश्रित प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उसे स्वतन्त्र अलकार न मानकर उपमा के अन्तर्गत माना है। उद्भट ऐसे प्रथम आलकारिक है जिन्होने प्रतिवस्तूपमा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की।

साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर आश्रित दृष्टान्त अलकार की सत्ता स्वीकार करने वाले भी प्रथम आलकारिक उद्भट है।

सादृश्यमूलक अलकारा के विकास का एक आधार ज्ञान के विभिन्न रूप हे। ये विभिन्न रूप सन्देह, भ्रान्ति तथा स्मरण है। इनके आधार पर क्रमश ससन्देह, भ्रान्तिमान् तथा स्मरण अलकार का आविर्भाव हुआ। इन अलकारो मे ससन्देह का आविर्भाव सर्वप्रथम हुआ। इसका उल्लेख भामह ने किया है। ससन्देह अलकार का अन्य दो अलङ्कारो से पूर्व आविर्भाव स्वाभाविक था। इस अलङ्कार मे दर्शक का ध्यान सन्देह मे विद्यमान विकल्पो पर समान रूप से रहता है। परन्तु स्मरण मे ध्यान उपमानरूप स्मर्यमाण वस्तु पर तथा भ्रान्तिमान् मे केवल उपमान पर केन्द्रित रहता है। सन्देह मे विद्यमान विकल्पो पर समान रूप से ध्यान केन्द्रित होने के कारण उनमे सादृश्य की प्रतीति सरलता से होती है। स्मरण तथा भ्रान्तिमान् मे ऐसी बात नही। सम्भवत इसी कारण से स्मरण तथा भ्रान्तिमान् का आविर्भाव रुद्रट के समय मे जाकर हुआ।

सादृश्यमूलक अलङ्कारो का आविर्भाव दिखाने के बाद अब हम इन अलङ्कारो का एक एक करके विस्तार दिखाते है।

उपमा:—उपमा का विस्तार दो प्रकार से हुआ—कुछ अशो मे उपमान के स्वरूप के आधार पर तथा अधिक अशो मे साधारणधर्म के भेदो के आधार पर। उपमान के स्वरूप के आधार पर विस्तार आरम्भिक स्थिति मे हुआ। इस स्थिति मे उपमान के दो रूप आलकारिको के सामने प्रधानतः आए—उपमान का उत्कर्षापकर्षादिसम्बन्धी रूप तथा उपमान का अनेकत्वसम्बन्धी रूप। नाटयशास्त्र मे उपमान के उत्कर्षापकर्ष के आधार पर प्रशसोपमा तथा निन्दोपमा का निरूपण हुआ। दण्डी तथा वामन ने नाटयशास्त्र की इस परम्परा का अनुसरण किया।[1] परन्तु बाद मे इसका

१ इसका निरूपण उपमा के प्रकरण मे हो चुका है।

आदर नही हुआ। यही कारण है कि परवर्ती आलङ्कारिको ने इसका अनुमरण नही किया।

उपमान की अनेकता के आधार पर मालोपमादि का निरूपण नाटचशास्त्र मे तो नही मिलता, परन्तु भामह से पहले इसका निरूपण हो गया होगा। इन पूर्वनिरूपित मालोपमा आदि को देखकर ही भामह के द्वारा यह कथन सम्भव था कि मालोपमादि विस्तार अच्छा नही।[1]

दण्डी ने उपमान के अनेकत्व पर आश्रित मालोपमा, समुच्चयोपमा तथा बहूपमा का निरूपण किया है।[2] मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने भी मालोपमा का उल्लेख किया है। परन्तु उद्भट, हेमचन्द्र, रुय्यक, दीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने इसका उल्लेख नही किया। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उपमा के इस भेद का भी आलङ्कारिको मे विशेष आदर नही हुआ। जिन आलङ्कारिको ने इसका निरूपण किया है उन्होने ऐसा परम्परा के निर्वाह की दृष्टि से ही किया होगा।

उपमा के उपर्युक्त भेदो का आलङ्कारिको मे आदर न होना स्वाभाविक था। इसका कारण यह है कि सादृश्य का सीधा सम्बन्ध उपमान से न होकर साधारणधर्म से होता है। उपमा मे उपमान का हमे जो औचित्य दिखाई देता हे वह इसलिए नही कि वह उपमान स्वत अच्छा है परन्तु इसलिए कि उसमे वह धर्म प्रसिद्ध रूप से विद्यमान है जिसकी उपमेय मे अभिव्यक्ति कवि को अभीष्ट है। अत इस साधारणधर्म को पृथक रखकर उपमान का रूप उपमा मे विचारणीय नही।

साधारणधर्म के भेदो के आधार पर उपमान का विस्तार महत्त्वपूर्ण है। साधारणधर्म के अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभाव, बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि अनेक भेद होते है। इनके अनुसार उपमा मे सादृश्यविधान अनेक प्रकार का होता है। साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर सादृश्य दिखाने की स्थिति मे यदि बिम्ब एव प्रतिबिम्ब मे विद्यमान अवयवो का

---

१ मालोपमादि सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा।

—काव्यालकार २। ३८

२ इसका निरूपण उपमा के प्रकरण मे हो चुका है।

पृथक् पृथक् सादृश्य दिखा दिया जाए तो वही सादृश्यविधान सावयवोपमा का रूप धारण कर लेता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है —

"पाण्ड्योऽयमसार्पितलम्बहार क्लृप्तागरागो नवचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानु सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराज ।।"

—चित्रमीमासा पृ० ११

यह साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण है। इसमे पाण्ड्य का सादृश्य अद्रिराज से दिखाया गया है। इस सादृश्य का आधार है पाण्ड्य मे धर्मो के रूप मे विद्यमान हार तथा चन्दन एव अद्रिराज मे धर्मो के रूप मे विद्यमान निर्भर तथा बालातप का बिम्बप्रतिबिम्बभाव। इस बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उद्देश्य यह नही कि हार तथा चन्दन की क्रमश निर्झर तथा बालातप के साथ पृथक् रूप मे सादृश्यप्रतीति हो, परन्तु इसका उद्देश्य इतना ही है कि हार तथा चन्दन से युक्त होने के कारण पाण्ड्य का सादृश्य निर्झर तथा बालातप से युक्त अद्रिराज के साथ प्रतीत हो। यदि यहा इवादि के उपादान के द्वारा हार का निर्झर के साथ तथा चन्दन का बालातप के साथ पृथक् पृथक् सादृश्य बताया जाए तो यही उदाहरण सावयवोपमा का उदाहरण हो जाएगा। इस प्रकार सावयवोपमा के भेद भी साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूपान्तर कहे जा सकते है।

साधारणधर्म के इन भेदो को ध्यान मे रखकर उपमा का विभाजन दण्डी के समय से ही आरम्भ हो गया था। दण्डी ने इन भेदो का नाम साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर आश्रित उपमा अथवा सावयवोपमा आदि न रखकर वाक्यार्थोपमा रखा है। परन्तु इस वाक्यार्थोपमा मे उन्होने जिन तत्त्वो का सन्निवेश किया है उन्हे देखते हुए ये भेद साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर आश्रित उपमा के भेदो से भिन्न नही। दण्डी ने वाक्यार्थोपमा के दो भेद किए है। एक मे इव का प्रयोग होता है तथा द्वितीय मे अनेक इवो का।[1] प्रथम का उदाहरण दण्डी ने इस प्रकार दिया है --

"त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति ।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पकजम् ।।" —काव्यादर्श २–४४

१ एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा। —काव्यादर्श २–४३

इस उदाहरण को हम उपमा मे साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण कह सकते हे ।

अनेक इव वाला दण्डी का वाक्यार्थोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है —

नलिन्या इव तन्वग्यास्तस्या पद्ममिवाननम् ।
मया मधुव्रतेनेव पाय पायमरम्यत ॥ —काव्यादर्श २–४५

इसे सावयवोपमा का उदाहरण कह सकते है ।

साधारणधर्म के भेदो के आधार पर उपमा का यह विस्तार शनै शनै बढता गया तथा दीक्षित एव जगन्नाथ के समय मे यह अपने उत्कर्ष पर पहुॅच गया । इसका विवेचन उपमा के प्रकरण मे किया जा चुका है ।

आलकारिको ने उपमा के भेदो का विस्तार एक अन्य प्रकार मे किया है । यह प्रकार है उपमा मे विद्यमान समस्त तत्त्वो का उपादान अथवा उनमे से एक या अधिक का लोप । प्रथम दशा मे पूर्णोपमा कही गई है तथा द्वितीय दशा मे लुप्तोपमा । उपमा मे सादृश्य की प्रतीति उपमा मे विद्यमान तत्त्वो के द्वारा ही होती है । अत यह निश्चित है कि जहा उपमा मे इन समस्त तत्त्वो का उपादान होता है वहा सादृश्यप्रतीति मे स्पष्टता होती है । परन्तु जहा इन तत्त्वो मे से एक अथवा अधिक का लोप होता है वहा यह स्पष्टता नही होती । अत हम कह सकते हे कि उपमा का उपर्युक्त विभाजन सादृश्यप्रतीति की इसी स्पष्टता अथवा अस्पष्टता को लक्ष्य करके हुआ ।

सादृश्यप्रतीति की इस स्पष्टता तथा अस्पष्टता के आधार पर उपमा-विभाजन के बीज हमे दण्डी मे ही मिलते हे । दण्डी ने धर्मोपमा तथा वस्तूपमा इन दो उपमाभेदो का उल्लेख किया है । प्रथम भेद मे दण्डी के अनुसार साधारणधर्म का उपादान होता है । परन्तु द्वितीय भेद मे उसका उपादान नही होता । उद्भट ने उपर्युक्त आधार पर पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा का विस्तृत विवेचन किया है । परन्तु इस विवेचन के समय उनका दृष्टिकोण एक आलकारिक का न रहकर एक वैयाकरण का हो गया है । उन्होने पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा के श्रौती तथा आर्थी एव वाक्यगा, समासगा तथा

तद्धितगा आदि जो भेद किए है उनका प्रधानत सम्बन्ध व्याकरण से है। तद्धितगा उपमा तो व्याकरण के नियमो का प्रदर्शन सा बन गई है।

उद्भट के द्वारा उपमा के इस विवेचन मे व्याकरण को आधार बनाने का कारण था पाणिनि आदि प्रसिद्ध वैयाकरणो के द्वारा व्याकरण के सादृश्यसम्बन्धी नियमो का विवेचन। इन नियमो का विवेचन करके इन वैयाकरणो ने सादृश्यसिद्धान्त को विकसित किया तथा अलकारशास्त्र को कुछ अशो तक प्रभावित भी किया। व्याकरण का अलकारशास्त्र पर यह प्रभाव कालान्तर मे भी उपमा के इन व्याकरणसम्बन्धी भेदो के रूप मे चलता रहा। इसका विवेचन उपमा के प्रकरण मे किया जा चुका है।

उपमेयोपमा—उपमेयोपमा का विस्तार प्रधानत साधारणधर्म के भेदो के आधार पर हुआ है। यह विस्तार हमे दीक्षित तथा जगन्नाथ के ग्रन्थो मे दिखाई देता है। जगन्नाथ की निम्नलिखित उक्ति से यह स्पष्ट है—

"उक्तधर्मा तावदनुगाम्यादिभि प्रागुक्तैर्धर्मैरनेकधा।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ १९७

उपमेयोपमा का विस्तार साधारणधर्म के उपादान तथा अनुपादान के आधार पर भी इन आलकारिको ने किया है। जगन्नाथ ने इसी आधार पर उपमेयोपमा के उक्तधर्मा तथा व्यक्तधर्मा दो भेद किए है।[1]

अनन्वय—अनन्वय मे अनुगामी साधारणधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म सम्भव नही। अत इसका साधारणधर्म के भेद की दृष्टि से विस्तार नही हुआ। परन्तु जगन्नाथ ने इसके पूर्ण तथा लुप्त ये दो भेद करके पुन इनके अनेक भेद किए है।[2]

व्यतिरेक—व्यतिरेक का विस्तार दण्डी के समय मे आरम्भ हो गया था। दण्डी ने व्यतिरेक के शब्दोपात्तसादृश्यव्यतिरेक तथा प्रतीयमान सादृश्यव्यतिरेक ये दो भेद करके इन दोनो के पुन अनेक भेद किए है।[3]

---

१. इय द्विविधा उक्तधर्मा व्यक्तधर्मा च। —रसगङ्गाधर

२. स च पूर्णो लुप्तश्चेति तावद्द्विविध। पूर्णस्तूपमावत् षड्विधोऽपि सम्भवति। —रसगङ्गाधर

३. शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकोऽयमीदृश।
प्रतीयमानसादृश्योऽप्यस्ति सोऽनुविधीयते॥ —काव्यादर्श २-८९

परन्तु परवर्ती आलकारिको पर इस दृष्टि मे दण्डी का इतना प्रभाव नही पडा जितना उद्भट का पडा है। मम्मट आदि परवर्ती आलकारिको ने उद्भट द्वारा दिखाई हुई दिशा का ही अवलम्बन किया तथा व्यतिरेक के विस्तार को युक्तिसगत रूप दिया।

उद्भट ने आरम्भ मे व्यतिरेक के दो भेद किए। ये निमित्त की अदृष्टि तथा दृष्टि है।[1] मम्मट ने इन्ही का विस्तार करके इनकी सख्या चार कर दी। निमित्त की अदृष्टि का तो उन्होने उद्भट के समान एक ही भेद रखा, परन्तु निमित्त की दृष्टि के उन्होने तीन भेद कर दिए। ये इस प्रकार है —उपमेय के उत्कर्ष का उपादान; उपमान के अपकर्ष का उपादान तथा इन दोनो का उपादान।

उद्भट ने निमित्तदृष्टि का एक ही भेद किया है और उसका जो उदाहरण दिया है उसमे उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के अपकर्ष इन दोनो का उपादान है।[2] परन्तु उद्भट ने वैधर्म्यदृष्टान्त नामक व्यतिरेक के एक अन्य भेद का उल्लेख किया है। इस भेद का उन्होने जो उदाहरण दिया है उसमे उपमान के अपकर्ष का उपादान है।[3] सम्भवत मम्मट ने वैधर्म्यदृष्टान्त के आधार पर उपमान के अपकर्ष को भी व्यतिरेक का एक पृथक् निमित्त माना और उद्भट के निमित्तदृष्टि व्यतिरेक के तीन भेद कर दिए। परन्तु इन भेदो मे केवल उपमेय के उत्कर्षोपादान अथवा केवल उपमान के अपकर्षोपादान वाले भेदो को मम्मट ने निमित्तोपादानसम्बन्धी भेद न कहकर निमित्तानुपादानसम्बन्धी भेद कहा। जहा पर

---

१ निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्या व्यतिरेको द्विधा तु स ।

—काव्यालकारसारसग्रह पृष्ठ ३७

२ उपात्तनिमित्तस्तु —

पद्म च निशि नि श्रीक दिवा चन्द्र च निष्प्रभम् ।

स्फुरच्छायेन सतत मुखेनाध प्रकुर्वतीम् ॥ —काव्यालकारसारसग्रह पृष्ठ ३८

३ यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वित ।

व्यतिरेकोत्र सोपीष्टो विशेषापादनान्वयात् ॥

यथा—शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेपि तपसि स्थितम् ।

समुद्वहन्ती नापूर्व गर्वमन्यतपस्विवत् ॥ —काव्यालङ्कारसारसग्रह पृष्ठ ३९

यहा गर्वसमुद्वहन की दृष्टि से अन्य तपस्वी का उमा से अपकर्ष है।

केवल उपमेय के उत्कर्ष का उपादान था वहा मम्मट ने उस उपात्त निमित्त की दृष्टि से विचार न करके उस उपमान के अपकर्ष की दृष्टि से विचार किया जिसका वहा अनुपादान था और इस प्रकार उस भेद का नाम निमित्तोपादान न रखकर निमित्तानुपादान रख दिया। इसी प्रकार जहा केवल उपमान के अपकर्ष का उपादान था वहा मम्मट ने उस उपात्त निमित्त की दृष्टि से विचार न करके उस उपमेय के उत्कर्ष की दृष्टि से विचार किया जिसका वहा अनुपादान था और इस प्रकार उस भेद का नाम निमित्तोपादान न रखकर निमित्तानुपादान रख दिया। परन्तु यह तो दृष्टिकोण का साधारण अन्तरमात्र है। इससे मूलसिद्धान्त मे कोई अन्तर नही आता।

उद्भट ने अपने वैधर्म्यदृष्टान्त की परिभाषा मे इवादि शब्दो का सन्निवेश किया है। सम्भवत इन्ही शब्दो को आधार बनाकर मम्मट आदि ने कालान्तर मे औपम्य की शाब्दता, आर्थता तथा आक्षिप्तता ये तीन उपभेद और कर दिए।

उद्भट ने व्यतिरेक की परिभाषा मे उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के उत्कर्ष इन दोनो तत्त्वो का उल्लेख किया है। परन्तु इन तत्त्वो के आधार पर उन्होने व्यतिरेक के दो भेद नही किए। रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि परवर्ती आलकारिको ने इन तत्त्वो के आधार पर भेद किए है।

रूपक का विस्तार—रूपक का विस्तार बहुत कुछ उपमा के समान ही साधारणधर्म के भेदो के आधार पर हुआ है। जगन्नाथ के रसगगाधर मे यह विस्तार अपने उत्कर्ष को पहुँच गया है। इसका विवेचन रूपक के प्रकरण मे किया जा चुका है।

अपह्नुति का विस्तार—अपह्नुति का विस्तार रुय्यक के समय से प्रारम्भ हो गया था। इसका विवेचन अपह्नुति के प्रकरण मे किया जा चुका है। रुय्यक ने इस विस्तार के जो आधार अपनाए वे युक्तिसगत नही थे। अत जगन्नाथ ने इनके अनुसार अपह्नुति के भेद नही किए। जगन्नाथ ने उपमा के समान अपह्नुति के सावयवा आदि भेद

किए हे । दीक्षित ने भी इन सावयवा आदि भेदो का उल्लेख किया है। अपह्नुति के भेदोपभेद करने मे दीक्षित सबसे बढ गए है। इन्होने अपह्नुति के पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति आदि भेद किए है। इन भेदो का अपह्नुति के प्रकरण मे निराकरण किया जा चुका है।

उत्प्रेक्षा:—उत्प्रेक्षा का विस्तार उद्भट के समय से आरम्भ हो गया था। रुय्यक, विश्वनाथ आदि परवर्ती आलङ्कारिको ने सम्भवत उद्भट के उत्प्रेक्षानिरूपण को आधार बनाकर उत्प्रेक्षा का विस्तार किया है। उद्भट ने इवादि के प्रयोग की दशा मे वाच्योत्प्रेक्षा मानी है।[1] इससे इस बात का सकेत मिलता है कि इवादि के अप्रयोग की दशा मे वे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मानते है। परवर्ती आलङ्कारिको ने भी इस प्रकार उत्प्रेक्षा के वाच्योत्प्रेक्षा तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ये दो भेद स्वीकार किए है।

उद्भट ने प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत वस्तु के गुण अथवा क्रिया के अध्यास को उत्प्रेक्षा कहकर उत्प्रेक्षा की परिभाषा मे गुण अथवा क्रिया का उल्लेख किया है।[2]

उद्भट ने उत्प्रेक्षा के विवेचन मे भाव तथा अभाव का उल्लेख किया है।[3] इसी के आधार पर रुय्यक आदि ने उत्प्रेक्षा का भावाभिमानत, अभावाभिमानत. भेदो मे विभाजन किया है।

जात्यादिसम्बन्धी तथा भावादिसम्बन्धी भेदो का सादृश्य की दृष्टि से महत्त्व नही। परन्तु इस प्रकार का विवेचन उद्भट ने कर दिया था। अत परवर्ती आलकारिको ने इसके आधार पर उत्प्रेक्षा का विस्तार कर दिया ।

अतिशयोक्ति:—अतिशयोक्ति का विस्तार उद्भट के समय से आरम्भ हो गया था। मम्मटकृत अतिशयोक्ति के भेदो का आधार बहुत कुछ अशो मे उद्भटकृत अतिशयोक्ति के भेद ही है। मम्मट ने अतिशयोक्ति

---

१. वाच्येवादिभिरुच्यते—काव्यालकारसारसग्रह पृष्ठ ४८

२ अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ।

—काव्यालकारसारसग्रह पृष्ठ ४६

३. लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानत.—काव्यालङ्कारसारसग्रह पृष्ठ ४७

का केवल एक भेद जोडा है। यह है प्रस्तुत का अप्रस्तुत के द्वारा अध्यवसान । यह भेद महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह सादृश्य के विकास की चरम अवस्था का द्योतक है। बाद मे रुय्यक आदि द्वारा किए हुए अतिशयोक्ति के भेदो मे मम्मटकृत अतिशयोक्ति के भेदो से विशेष अन्तर नही। अतिशयोक्ति के इस विस्तार का निरूपण अतिशयोक्ति के प्रकरण मे किया जा चुका है।

दीपक का विकास.—भरतमुनि के अनुसार शब्दो का एक वाक्य से योग दीपक है। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

'नानाविकरणार्थाना शब्दाना सप्रकीर्तितम् ।
एकवाक्येन सयोगात्तद्दीपकमिहोच्यते ॥' —नाटयशास्त्र

शब्दो का एक वाक्य से योग होने पर उन शब्दो से सूचित पदार्थों मे परस्पर क्या सम्बन्ध होगा, इसके विषय मे उन्होने कुछ नही कहा। भामह ने भी इस सम्बन्ध मे कोई प्रकाश नही डाला। उन्होने दीपक की कोई स्पष्ट परिभाषा न करके इसके आदि, मध्य तथा अन्त ये तीन भेद कर दिए।[1] दीपक का यह विभाजन करते समय वे भरत की परिभाषा से प्रभावित प्रतीत होते है क्योकि किसी शब्द की आदि, मध्य तथा अन्त मे स्थिति से अभिप्राय वाक्य का आदि, मध्य तथा अन्त ही है। भामह ने आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक के जो उदाहरण प्रस्तुत किए है उनमे चमत्कार की दृष्टि से भेद है।[2] परवर्ती आलकारिको के अनुसार वे क्रमश मालादीपक, कारकदीपक तथा क्रियादीपक के उदाहरण है। परन्तु भामह ने उन उदाहरणो मे इस प्रकार के किसी भेद का उल्लेख नही किया। भामह की दृष्टि दीपक के वाक्यविषयक स्वरूप तक सीमित थी। अत अन्य दृष्टि से उपर्युक्त उदाहरण मे विद्यमान भेद की ओर उनका ध्यान नही गया। दण्डी की दृष्टि भी दीपक के

---

१. आदिमध्यान्तविषय त्रिधा दीपकमिष्यते ।

अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् । —काव्यालङ्कार २—२५, २६

२ देखिए काव्यप्रकाश दीपकप्रकरण

वाक्यविषयक स्वरूप तक सीमित रही। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

'जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।

सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपक यथा॥' —काव्यादर्श २—९७

उद्भट ऐसे प्रथम आलकारिक हे जिहोने दीपक के लिए सादृश्य को आवश्यक बताकर पदार्थो के एकधर्माभिसम्बन्ध को दीपक का स्वरूप बताया। निम्नलिखित परिभाषा इसकी द्योतक है —

"आदिमध्यान्तविषया प्राधान्येतरयोगिन।

अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपक विदु॥"

—काव्यालकारसारसग्रह पृ० १५

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि परम्परा से चले आते हुए आदिमध्यादि भेदो की उपेक्षा उद्भट भी न कर सके।

मम्मट आदि ने उद्भट का अनुसरण करते हुए दीपक की परिभाषा मे एकधर्माभिसम्बन्ध का सन्निवेश किया। उन्होने भामह के दीपक के उदाहरण मे विद्यमान चमत्कारभेद को भी पहचाना। इसीलिए उन्होने कारकदीपक तथा मालादीपक का पृथक् उल्लेख किया। परन्तु इतना होते हुए भी वे अपने कारकदीपक तथा मालादीपक को दीपक के क्षेत्र से बाहिर न कर सके। इसका कारण यही हो सकता है कि वे प्राचीन आलङ्कारिको की पूर्ण उपेक्षा नही करना चाहते थे।

समासोक्ति:—इस अलंकार का वर्तमान स्वरूप सर्वप्रथम उद्भट ने प्रस्तुत किया। उनके द्वारा की हुई समासोक्ति की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है —

प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणै.।

अप्रस्तुतार्थकथन समासोक्तिरुदाहृता॥

—काव्यालकारसारसग्रह पृ० ४१

जिन समान विशेषणो के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है वे धर्म, क्रिया आदि के रूप मे होते है। परन्तु उद्भट ने धर्म, क्रियादि शब्दो का प्रयोग न करके विशेषण शब्द का प्रयोग किया

है। कदाचित् उद्भट के द्वारा इस विशेषण शब्द के प्रयोग को देखकर परवर्ती आलकारिक भी समासोक्ति की परिभाषा मे विशेषण शब्द का प्रयोग करते रहे। मम्मट ने 'श्लिष्टैर्भेदकै' कहकर विशेषण के पर्यायवाची भेदक शब्द का प्रयोग किया। परन्तु उसे श्लिष्ट कहकर उसके क्षेत्र को सकुचित कर दिया। रुय्यक ने उद्भट का अनुसरण करके समासोक्ति के इस सकुचित रूप को पुन विस्तृत किया। उन्होने विशेषणश्लिष्टता की स्थिति मे समासोक्ति स्वीकार अवश्य की परन्तु इस विशेषणश्लिष्टता को समासोक्ति का आवश्यक अग न कहकर उसका प्रकारमात्र माना।[1] रुय्यक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया कि विशेषण धर्म तथा कार्य के रूप मे होता है।[2] परन्तु इतना होते हुए भी समासोक्ति की परिभाषा मे उन्होने इन शब्दो का प्रयोग नही किया। विश्वनाथ ही सम्भवत ऐसे आलङ्कारिक है जिन्होने समासोक्ति की परिभाषा मे कार्यशब्द का उल्लेख किया —

"समासोक्ति समैर्यत्र कार्यलिगविशेषणै ।
व्यवहारसमारोप प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन ॥"

—साहित्यदर्पण

अप्रस्तुतप्रशसा —इस अलंकार का विस्तार मम्मटादि के समय से प्रारम्भ हुआ। इस विस्तार का आधार उद्भटकृत अप्रस्तुतप्रशसा की परिभाषा प्रतीत होती है। उद्भट ने अपनी परिभाषा मे प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी शब्द का सन्निवेश किया है। इस शब्द से उद्भट का यह अभिप्राय है कि अप्रस्तुत वाच्यार्थ व्यग्य प्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध होना चाहिए। इन दोनो अर्थों के इस सम्बन्ध का क्या स्वरूप हो इस विषय मे उद्भट ने कुछ नही कहा। मम्मट ने इस विषय पर प्रकाश डाला तथा कार्यकारणभाव,

---

१. तदेव श्लिष्टविशेषणसमुत्थापितैका।

—अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ११३

२ साधारणविशेषणसमुत्थापिता तु धर्मकार्यसमारोपाभ्याम् द्विभेदा।

—अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ११३

सामान्यविशेषभाव एव सारूप्य इन सम्बन्धप्रकारो को गिनाकर सम्बन्ध का स्वरूप निश्चित किया।[1]

---

१ कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ —काव्यप्रकाश

चतुर्थ अध्याय

'सादृश्य के मूल में रहस्य'

विभिन्न वस्तुओ मे हमे सादृश्य क्यो दिखाई देता है, इसका उत्तर यही है कि समस्त वस्तुओ के मूल मे समान तत्त्व विद्यमान है। ये तत्त्व कितने है इस विषय मे दार्शनिको मे मतभेद है, परन्तु वे सब इस बात से सहमत है कि उनकी एक सीमा है। अत जिन वस्तुओ मे इन तत्त्वो की दृष्टि से साम्य होता है वे परस्पर सदृश होती है।

न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार समस्त पदार्थो का छ अथवा सात श्रेणियो मे विभाजन किया गया है। ये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव है।[1] गुण, कर्म आदि की सत्ता स्वतन्त्र रूप मे न होकर द्रव्यो पर आश्रित होती है।[2] ये गुणादि द्रव्यो मे रहकर उन्हे एक विशेष स्वरूप प्रदान करते है। द्रव्य का अस्तित्व गुणो के सद्भाव के पूर्व भी होता है, परन्तु उस समय द्रव्य के विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। यह स्थिति निर्विकल्पक ज्ञान की होती है।[3] इस स्थिति मे पदार्थ के विषय मे 'इद किञ्चित्' के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता। पदार्थो की यह स्थिति सादृश्यज्ञान की स्थिति के अन्तर्गत नही

---

१ "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावा. सप्त पदार्था ॥" —तर्कसग्रह

"अर्था षट् पदार्था. । ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया. ।"

—तर्क भाषा पृष्ठ ६०

तदेव षट्पदार्था द्रव्यादयो वर्णिता । एते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव । इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्यो अभावरूप. सप्तम. पदार्थ प्रतिपाद्यते ।"

—तर्कभाषा पृष्ठ ७७

२ "सामान्यवानसमवायिकारणमस्पन्दात्मा गुण. । स च द्रव्याश्रितः ।"

—तर्कभाषा पृष्ठ ६७

"चलनात्मक कर्म । गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति ।" —तर्कभाषा पृष्ठ ६७

३ "ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पक नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञान जायते ।" —तर्कभाषा पृष्ठ ३२

आती। सादृश्य का क्षेत्र तो तब से आरम्भ होता हे जब स्वरूपविशेष से सम्पन्न वस्तुए हमारी दृष्टि का विषय बनती है। यह तभी होता है जब द्रव्य गुणो से सम्पन्न हो जाता है। यह स्थिति सविकल्पक ज्ञान की होती है।[1] इस स्थिति मे द्रव्यो मे जिन गुणो अथवा क्रियाओ की सत्ता होती है वे चौईस गुणो तथा पाच क्रियाओ के ही अन्तर्गत आते है।[2]

गुण तथा क्रियाओ की सख्या के इस प्रकार सीमित होने के कारण हमारी दृष्टि के विषय बनने वाले द्रव्यो मे गुणादि की साधारणता के आधार पर सादृश्य सर्वथा स्वाभाविक है।

सामान्य पदार्थ की कल्पना भी इस बात का प्रमाण है कि वस्तुओ के मूल मे सादृश्य विद्यमान है। सामान्य पदार्थ एक प्रकार का साधारणधर्म है। साधारणधर्म जिस प्रकार अनेक वस्तुओ मे विद्यमान रहकर उन वस्तुओ के सादृश्य का आधार होना है उसी प्रकार सामान्य पदार्थ अनेक वस्तुओ मे विद्यमान रहकर उन वस्तुओ के सादृश्य का आधार होता है। उदाहरणत गोत्व को ले। यह गोत्वजाति कतिपय अवयवो के रूप मे समस्त गौओ मे विद्यमान रहती है तथा उन गौओ के सादृश्य का कारण होती है।

अन्य साधारणधर्मो से जाति मे यह अन्तर है कि अन्य साधारणधर्म जिन वस्तुओ मे विद्यमान रहते हे उन वस्तुओ के अन्य वस्तुओ से व्यावर्तक नही होते, परन्तु जाति जिन वस्तुओ मे विद्यमान रहती है उन वस्तुओ की अन्य वस्तुओ से व्यावर्तक भी होती है। इसके अतिरिक्त अन्य साधारणधर्मो से जाति मे यह भी भेद है कि जाति नित्य होती हे।[3] परन्तु अन्य साधारणधर्मो के लिए ऐसा होना आवश्यक नही। उदाहरणत गोत्व-जाति गौ मे सदा विद्यमान रहेगी। गौ का जब तक अस्तित्व है तब तक

---

१ "यदा निर्विकल्पकज्ञानानन्तर सविकल्पक ज्ञान नामजात्यादियोजनात्मक डित्थोऽय श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते तदा इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष करणम्।" —तर्कभाषा पृष्ठ ३२

२ "रूपरसगन्धस्पर्श सस्काराश्चतुर्विंशतिरेव गुणा.।"—तर्कभाषा पृष्ठ ६७

"उत्क्षेपणापक्षेपणाकुचनप्रसारणगमनानि पच कर्माणि।"—तर्कसग्रह पृष्ठ ५

३ "नित्यमेकमनेकानुगत सामान्यम्।"—तर्कसग्रह पृष्ठ ७७

गोत्वजाति उसमे रहेगी। परन्तु स्थूलता आदि धर्मो के साथ यह बात नही। एक गौ का स्थूलता धर्म कुछ समय बाद कृशता मे परिवर्तित हो सकता है। परन्तु इतने से इस बात मे कोई अन्तर नही आता कि जाति है एक प्रकार का साधारणधर्म ही तथा ऐसा होने के नाते वह वस्तुओ के सादृश्य का कारण है।

अन्य साधारणधर्मो से जाति के इस आशिक भेद का कारण यह है कि जाति जिन अवयवो की ओर सकेत करती है उनमे एक या अधिक अवयव ऐसे होते हे जो केवल उसी जाति से युक्त वस्तुओ मे होते है।

उदाहरणत गोत्वजाति जिन अवयवो की ओर सकेत करती है उनमे 'सास्ना' का होना आवश्यक है, क्योकि यह अवयव अन्य पशुओ से गौओ का विभेदक है। इसलिए गोत्व की परिभाषा 'सास्नादिमत्त्व गोत्वम्'[1] की गई है। प्रत्येक साधारणधर्म मे यह बात नही होती। उदाहरणत दो सीग, चार पैर आदि अवयव समस्त गौओ मे साधारणरूप से विद्यमान हे। परन्तु ये अवयव गौओ के अन्य पशुओ से व्यावर्तक नही। अत ये अवयव गोत्व-जाति का रूप धारण नही कर सकते।

समान जाति के कारण जिन वस्तुओ मे साधर्म्य होता हे उनमे जाति के स्वरूप के अन्तर्गत न आने वाले अन्य अवयवो के द्वारा वैधर्म्य होता है। उदाहरणत गौओ मे सास्ना आदि के कारण साधर्म्य होता है, परन्तु स्थूलता तथा वर्ण आदि के कारण वैधर्म्य होता है। इस प्रकार जाति वस्तुओ के सादृश्य का आधार होती है।

सादृश्य का आधार होने के कारण जाति को वस्तुओ के तादात्म्य का आधार मानना उचित नही। जाति वस्तुओ के तादात्म्य का आधार तो तब हो सकती हे जब वस्तुओ के समस्त धर्म जाति के अन्तर्गत आ जाए। परन्तु ऐसा नही होता।

एक जाति का अनेक अवान्तर जातियो मे विभक्त हो जाना इस बात का प्रमाण हे कि जाति तादात्म्य का कारण न होकर सादृश्य का कारण होती है। उदाहरणत एक ही पशुत्वजाति गोत्व आदि अनेक जातियो मे

---

१. 'लक्षणा त्वसाधारणधर्मवत्त्वम् यथा गो सास्नादिमत्त्वम्। तर्कभाषा पृष्ठ २७

व्यावहारिक दृष्टि वस्तु के सूक्ष्म धर्मो की ओर न जाकर प्राय उसके स्थूल धर्मों तक ही सीमित रहती है।

व्यावहारिक जगत् मे भी अनेक स्थलो पर हमे इन गुणो के फलस्वरूप सादृश्य दिखाई देता है। उदाहरणत दो वस्तुओ को स्थिर देखकर अथवा अस्थिर देखकर हमे इस स्थिरता अथवा अस्थिरता रूप साधारणधर्म के आधार पर इन वस्तुओ मे सादृश्य दिखाई देता है। ये स्थिरता तथा अस्थिरता क्रमश तमस् तथा रजस् गुण के स्वरूप है।[1] इस प्रकार ये दोनो गुण उपर्युक्त वस्तुओ के सादृश्य के कारण है। इन दोनो गुणो के समान प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण भी सादृश्य का आधार हो सकता है।

प्रश्न उठ सकता है कि समस्त वस्तुओ की तीन गुणो से उत्पत्ति मानने पर भी यह मानने का क्या आधार है कि वे वस्तुए परस्पर सदृश होगी। यह भी सम्भव है कि तीनो गुण ऐसी वस्तुओ को उत्पन्न करे जिनका उन गुणो से कोई सादृश्य न हो और फलत वे परस्पर सर्वथा विसदृश हो। इस प्रकार सृष्टि की वस्तुओ का परस्पर सदृश होना आवश्यक नही।

इसके उत्तर मे साख्य का कहना है कि कारण हर किसी कार्य को उत्पन्न नही करता, परन्तु केवल ऐसे कार्यों को उत्पन्न करता है जो कारण मे पहले से विद्यमान रहते है। साख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। सत्कार्यवाद के अनुसार सत् वस्तु से ही सत् वस्तु उत्पन्न होती है। "सत सज्जायते"[2] इस उक्ति का यही आशय है। अत जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका पहले से अस्तित्व होता है। यह अस्तित्व अव्यक्त रूप मे होता है। इस प्रकार जो वस्तु उत्पन्न होती है वह कोई नवीन वस्तु नही होती, परन्तु जो वस्तु पहले अव्यक्त थी वही अब व्यक्त रूप धारण करती है।[3] प्रकृति का अव्यक्त

---

१ "'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था ।'
'रज प्रवर्तकत्वात्सर्वत्र लघु सत्त्व प्रवर्तयेद् यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत, तमोनियत तु क्वचिदेव प्रवर्तयतीति भवति तमो नियमार्थम्' ।"

—साख्यतत्त्वकौमुदी पृष्ठ २७४

२ "कार्यात्कारणमात्र गम्यते। सन्ति चात्र वादिना विप्रतिपत्तय। तथा हि—केचिदाहु · · 'सत सजायते' इति वृद्धा ।"—साख्यतत्त्वकौमुदी पृष्ठ २२३

३ "तस्मात्कारणव्यापारादूर्ध्वमिव तत प्रागपि सदेव कार्यमिति। कारणाच्चास्य सतोऽभिव्यक्तिरेवावशिष्यते ।" —साख्यतत्त्वकौमुदी पृष्ठ २३५

नाम इसी तथ्य का सूचक है।[१] निम्नलिखित कारिका सत्कार्यवाद का स्पष्टत प्रतिपादन करती है —

'असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥'' —साख्यकारिका ९

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि की समस्त वस्तुए जिन तीन गुणो से उत्पन्न होती हे उनमे वे पहले से ही अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती हे। अत इन वस्तुओ का इन गुणो के सदृश होना स्वाभाविक है। गुणो से इन वस्तुओ का सादृश्य होने के कारण यह भी स्वत सिद्ध हे कि ये वस्तुए परस्पर सदृश है।

न्यायवैशेषिक दर्शन साख्य के सत्कार्यवाद को नही मानता। परन्तु इस बात को तो यह भी स्वीकार करता है कि एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य परस्पर सदृश होने हे। यह दर्शन आरम्भवाद को मानता है। आरम्भवाद के अनुसार कार्य की सत्ता कारण मे पहले से नही होती, परन्तु एक नई ही वस्तु कार्य के रूप मे अस्तित्व मे आती है। उदाहरणत मृत्तिका से जिस घट का जन्म होता है उसका मृत्तिका मे पूर्वभाव न होकर प्रागभाव होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि कारण तथा कार्य मे कोई सादृश्य न हो। कार्य मे जिन गुणो की उत्पत्ति होती है वह कारण के गुणो के फलस्वरूप ही होती है। 'कारणगुणा कार्यगुणा् आरभन्ते'[२] इस उक्ति का यही आशय है। इस प्रकार कारण तथा कार्य मे गुणसाम्य होता है। यह गुणसाम्य दोनो मे सादृश्य का आधार है। कारण तथा कार्य मे सादृश्य होने के कारण एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्यो मे सादृश्य होना स्वाभाविक है।

वेदान्त दर्शन

वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से वस्तुओ के सादृश्य का प्रश्न ही नही उठता। वेदान्त विवर्तवाद को मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल एक ब्रह्म का ही अस्तित्व है। बाकी समस्त ससार इस ब्रह्म का विवर्तमात्र है। उसका यथार्थत. कोई अस्तित्व नही। 'एकस्य सतो

१ ''तद्विपरीत श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ।'' —साख्यकारिका २

२ ''कार्यगता रूपादय स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्त इति न्यायादित्येवमुत्पत्तिः ।''—तर्कभाषा पृष्ठ ६३

विवर्त कार्यजात न वस्तु सत्' इस उक्ति का यही आशय है। इस प्रकार इन समस्त वस्तुओ का यथार्थत कोई अस्तित्व न होने के कारण उनके पारस्परिक सादृश्य का प्रश्न ही नही उठता। परन्तु वेदान्त इस व्यावहारिक जगत् की सर्वथा उपेक्षा कर सका हो ऐसी बात नही। इसे भी प्रातिभासिक रूप मे इस जगत् का अस्तित्व स्वीकार करना पडा है। इसी जगत् की उत्पत्ति के लिए वेदान्त ने माया तत्त्व की कल्पना की है। यह माया तत्त्व अनिर्वचनीय भले ही हो यह कोई तत्त्व अवश्य है, इसका अपना एक अस्तित्व है तथा सत्त्व, रजस् एव तमस् इन तीन गुणो से यह निर्मित है।[1]

इस माया के सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणो से सृष्टि की समस्त वस्तुओ की उत्पत्ति होती है। अत इन वस्तुओ मे गुणसाम्य के आधार पर सादृश्य होना स्वाभाविक है।

जैन एव बौद्ध दर्शन

पदार्थो के सादृश्य का विवेचन अब तक जिन दार्शनिक विचारधाराओ के आधार पर किया गया है वे पदार्थो के एक निश्चित स्वरूप का मानकर चलती है। न्यायवैशेषिकादि तो पदार्थो के निश्चित स्वरूप मे तात्त्विक दृष्टि से विश्वास करते ही है वेदान्त भी व्यावहारिक दृष्टि से उनका एक निश्चित स्वरूप मानता है। इन विचारधाराओ के अतिरिक्त दो विचारधाराए ऐसी भी है जिनमे से एक पदार्थो का स्वरूप निश्चित तथा अनिश्चित दोनो मानती है तथा अन्य उनका स्वरूप सर्वथा अनिश्चित मानती है। पहली विचारधारा जैनदर्शन की है तथा द्वितीय विचारधारा बौद्धदर्शन की है। यहा यह प्रश्न उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि पदार्थो के निश्चित स्वरूप की दशा मे तो उनमे विद्यमान धर्मो की साधारणता के आधार पर उन पदार्थो का सादृश्य सम्भव है परन्तु उनका स्वरूप निश्चित न होने पर उनमे सादृश्य किस प्रकार सम्भव है।

पदार्थो के स्वरूप को निश्चित तथा अनिश्चित मानने की दशा मे इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है—पदार्थो के निश्चित तथा अनिश्चित अशो

---

१ "अज्ञान तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक भावरूप यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च।"

—वेदान्तसार पृष्ठ ८

मे से हम उनके निश्चित अशो को लेकर उनमे धर्मसाधारणता के आधार पर सादृश्य स्थापित कर सकते हैं। जैन-दर्शन मे यही बात है। इस दर्शन मे द्रव्य की परिभाषा 'गुणपर्यायवद्'[1] की गई है। गुण द्रव्य का निश्चित अथवा स्थिर अश है तथा पर्याय उसका अनिश्चित अथवा अस्थिर अश है। निश्चित अश के लिए जैन-दर्शन ध्रौव्य शब्द का प्रयोग करता है तथा अनिश्चित अश के लिए 'उत्पादव्यय' का प्रयोग करता है। यही कारण है कि उसने सत् की परिभाषा "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्"[2] की है। इस दशा मे हम पदार्थों के ध्रुवाश को लेकर उनमे सादृश्य स्थापित कर सकते है।

बौद्धमतानुसार पदार्थो के स्वरूप को सर्वथा अनिश्चित मानने की अवस्था मे सादृश्यसिद्धि इस प्रकार सम्भव है --

इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि पदार्थ का एक निश्चित स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित नही होता, परन्तु पदार्थ का ज्ञान जिन विभिन्न ज्ञान-स्वरूपो मे से होकर जाता है वे तो एक परम्परा के रूप मे हमारे सम्मुख रहते ही है। इस प्रकार इस अवस्था मे हमारे सम्मुख विभिन्न स्वरूप-परम्पराए होती है। इन स्वरूपपरम्पराओ मे अवयवसाधारणता के आधार पर सादृश्य-सिद्धि सम्भव है।

बौद्ध दर्शन सन्तानवाद के रूप मे इन स्वरूप परम्पराओ अथवा तज्जन्य ज्ञान-परम्पराओ मे विश्वास करता है। यह सत्य है कि बौद्धदर्शन क्षणिकवाद को मानता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि ज्ञान के क्षणिक होने के कारण इन ज्ञान-परम्पराओ का परम्पराओ के रूप मे ज्ञान न रहे, क्योकि बौद्ध-दर्शन मे सस्कार को स्वीकार किया गया है। इस संस्कार के फलस्वरूप हमे पूर्व ज्ञानो की सहायता से ज्ञानपरम्परा का ज्ञान हो सकता है।

इसके अतिरिक्त बौद्धदर्शन मे सघातवाद को भी माना गया है। सघात विभिन्न स्वरूपो अथवा तज्जन्य ज्ञानो का एक समुदाय है। अत यह स्पष्ट है कि क्षणिकवाद के द्वारा बौद्धदर्शन का उद्देश्य ज्ञानो को विशृ खल करना नहीं अपितु ज्ञानो की शृ खला अथवा परम्परा को एक रूप मे न समझकर परम्परा के रूप मे समझना है। बौद्धदर्शन मे सविकल्पक ज्ञान का निषेध करके निर्विकल्पक ज्ञान की जो स्थापना की गई है उसका भी केवल इतना

---

१ त० सू० ५-३७ भारतीय दर्शन पृष्ठ १६०

२ त० सू० ५-२९ भारतीय दर्शन पृष्ठ १६०

ही प्रयोजन हो सकता है कि सविकल्पक ज्ञान मे नाम, जाति आदि से युक्त वस्तु के ज्ञान को जो एक ज्ञान समझा जाता है वह वस्तुत एक ज्ञान न होकर ज्ञान की परम्परामात्र है। इस प्रकार बौद्धदर्शन का उद्देश्य अवयवी अथवा अवयविज्ञान का निराकरण करना है, अवयवसघात अथवा सघातज्ञान का निराकरण करना नही। हम केवल इतना कह सकते है कि अवयवसमुदाय के अतिरिक्त एक अवयवी की पृथक् सत्ता नही यह नही कि उम अवयवसमुदाय की ही सत्ता नही। अत अवयवसघात की सत्ता मानने के कारण विभिन्न सघातो मे अवयवसामान्य के आधार पर सादृश्य सम्भव है।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अलंकारशास्त्र के मूल संस्कृत-ग्रन्थ:—

श्रीभरतमुनिविरचित नाट्यशास्त्र, काव्यमाला ४२, प० केदारनाथ द्वारा सम्पादित, द्वितीय सस्करण, निर्णयसागर प्रेस मुम्बई १९४३

भामहविरचित काव्यालकार काशीसस्कृतसीरिजपुस्तकमाला ६१ प० वटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित, चोखम्बा सस्कृतसीरिज आफिस, विद्याविलास प्रेस १९८५

दण्डिविरचित काव्यादर्श, पण्डितरंगाचार्यशास्त्रिविरचित प्रभाख्या-व्याख्यासहित, भाण्डारकार-प्राच्य-विद्यामन्दिर मुद्रणालय १९३८

भट्टिकाव्य, जयमगला टीका, निर्णयसागर यन्त्रालय मुम्बई १९३४

उद्भटप्रणीत काव्यालकारसारसग्रह, इन्दुराजविरचित लघुवृत्तिसमेत, नारायणदास बनहट्टी द्वारा सशोधित १९२५

वामनविरचित काव्यालकारसूत्रवृत्ति, कामधेनु सहित, नारायणनाथ कुलकर्णी द्वारा सम्पादित, ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना १९२७

रुद्रटप्रणीत काव्यालकार, काव्यमाला २, नमिसाधुकृत टिप्पणी-सहित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९२८

आनन्दवर्धनविरचित ध्वन्यालोक, काशीसस्कृतसीरिज ग्रन्थमाला १३५, लोचन-बालप्रिया-दिव्याञ्जनादिसहित, चौखम्बा सस्कृत सीरिज आफिस बनारस सिटी

राजशेखरविरचित काव्यमीमासा, अनुवादक प० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्‌ पटना, प्रथम सस्करण १९५४

कुन्तकविरचित वक्रोक्तिजीवित

महिमभट्टविरचित व्यक्तिविवेक, काशीसस्कृतसीरिज पुस्तकमाला १२१, चौखम्बा सस्कृत सीरिज बनारस सम्वत् १९९३

भोजविरचित सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यमाला ९४, रामसिंहविरचित तृतीयपरिच्छेदान्त तथा जगद्धरविरचित चतुर्थपरिच्छेद टीका सहित, निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय १९३४

क्षेमेन्द्रविरचित औचित्यविचारचर्चा, हरिदास संस्कृत सीरिज २५, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस बनारस सिटी १९३३

मम्मटविरचित काव्यप्रकाश, भट्टवामनाचार्यविरचित बालबोधिनी टीकासहित, चतुर्थ आवृत्ति से सशोधित, पचम सस्करण, भण्डारकर-ओरियण्टल रिसर्च इन्सटीच्यूट, पूना १९३३

रुय्यकप्रणीत अलकारसूत्र, मखुकप्रणीत अलकारसर्वस्ववृत्ति, समुद्रबन्धकृतव्याख्यासहित, अनन्तशयनराजकीयमुद्रणयन्त्रालय १९१५

वाग्भटविरचित वाग्भटालकार, मेहरचन्द लक्ष्मणदास सैदमिट्ठा बाजार लाहौर सम्वत् १९९२

हेमचन्द्रविरचित काव्यानुशासन प्रथम पुस्तक, अलकारचूडामणि तथा विवेकसहित, रसिकलाल द्वारा सम्पादित, श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई

वाग्भटविरचित काव्यानुशासन, काव्यमाला ४३, निर्णयसागर प्रेस १९१५

विद्याधरविरचित एकावली

विद्यानाथविरचित प्रतापरुद्रीय, रत्नपणाख्या-व्याख्यासमन्वित, श्री बालमनोरमा सीरिज न० ३, बालमनोरमा प्रेस बम्बई १९२८

विश्वनाथविरचित साहित्यदर्पण, श्री रामचरण तर्कवागीश भट्टाचार्य-कृत विवृति सहित, षष्ठ सस्करण, निर्णयसागर मुद्रणालय १९३६

अप्पयदीक्षितविरचित कुवलयानन्द, वैद्यनाथसूरिविरचित अलकार-चन्द्रिका व्याख्या, निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय १९४७

अप्पयदीक्षितविरचित चित्रमीमासा, काव्यमाला ३८, तृतीय आवृत्ति, निर्णयसागर यन्त्रालय मुम्बई १९४१

जगन्नाथपण्डितराजविरचित रसगगाधर, नागेशभट्टकृत टीका सहित, मथुरानाथशास्त्रिविरचित सरला टीका सहित, षष्ठ सस्करण, निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय मुम्बई १९४७

कर्णपूरविरचित अलकारकौस्तुभ, सवितारायस्मृतिसरक्षण ग्रन्थमाला, वरेन्द्ररिसर्च, राजशाही बगाल १९३४

केशवमिश्रविरचित अलकारशेखर, काशीसस्कृत सीरिज ५६, चौखम्बा सस्कृत सोमाइटी ओफिस १९२७

विश्वेश्वरपण्डितविरचित अलकारकौस्तुभ, काव्यमाला ६६, निर्णय सागरयन्त्रालय मुम्बई १८९८

अरिसिह के सूत्रो सहित अमरचन्द्रयतिविरचित काव्यकल्पलतावृत्ति, काशीसस्कृत सीरिज ९० चौखम्बा सस्कृत सीरिज ओफिस १९३१

अमृतानन्द योगी विरचित अलङ्कारसग्रह एडियर लाइब्रेरी १९४९

अग्निपुराण, आनन्दाश्रमसस्कृतग्रन्थावलि ग्रन्थाङ्क ४१, आनन्दाश्रम-मुद्रणालय १९००

धनञ्जयविरचित दशरूपक, धनिकविनिर्मित अवलोकाख्यतिलक सहित, गुजराती प्रिटिग प्रेस बम्बई १९१४

भारतीय आलोचनाशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ

बलदेव उपाध्यायविरचित भारतीय साहित्यशास्त्र प्रथम खण्ड, ससार प्रेस काशीपुरा बनारस सम्वत् २००७

बलदेव उपाध्यायविरचित भारतीय साहित्यशास्त्र द्वितीय खण्ड, प्रसाद परिषद्‌ काशी सम्वत् २००५ प्रथम सस्करण

बलदेव उपाध्यायविरचित कवि और काव्य अभिनव भारती ग्रन्थमाला, बंगाल प्रिटिग वर्क्स १९४७

श्यामसुन्दरदासविरचित साहित्यालोचन, इडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग सम्वत् १९९५

नगेन्द्रविरचित रीतिकाव्य की भूमिका

रामशकरशुक्लविरचित अलंकारपीयूष, रामनारायणलाल पब्लिशर और बुकसेलर इलाहाबाद १९२८

रामशकरशुक्लविरचित अलङ्कारकौमुदी

प० रामगोविन्दत्रिवेदीविरचित वैदिकसाहित्य, ज्ञानपीठलोकोदय-ग्रन्थमाला-हिन्दी ग्रन्थाक ७, प्रथम सस्करण १९५०

डा० फतहसिहविरचित साहित्य और सौन्दर्य

History of Sanskrit Poetics Volume II by S K. De, Calcutta Oriental Press, Calcutta 1925.

Introduction to Sahitya Darpana by P V Kane Third edition 1951.

Some concepts of Alankara Sastra by V. Raghavan, the Adyar library 1942

Number of Rasas by V Raghavan, the Adyar Library Adyar, 1940

The Theories of Rasa and Dhvani by A. Sankaran, Published by the University of Madras 1929

Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics by P C. Lahiri, University of Dacca Ramna, Dacca 1937.

Comparative Aesthetics by K C Pandey, Chowkhamba Sanskrit Series Banaras, 1950

Psychological studies in Rasa by Rakesha Gupta, Banaras Hindu University Press Banaras, 1950

Highways and byways by S Kuppuswami Sastri, the Kuppuswami Sastri Research Institute Madras, 1945

History of Sanskrit Literature by S. N Das Gupta & S K De.

'उपमा कालिदासस्य' By K Chellappan Pillai Visva Bharati studies No 7

Poetics by Aristotle

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ

What is Art by Tolstoy

The Beautiful by Vernon Lee, Cambridge, at the University Press, 1913

Beauty and other forms of Value by Samuel Alexander

काव्य आदि

Hymns from the Rigveda edited by Peterson, 1937 Bombay Sanskrit Series No. XXXVI

Valmiki Ramayana condensed in the Poet's own words by Pt A. M Srinivasachariar Fifth edition, G A Natesan and Co, Madras.

Mahabharata condensed in the Poet's own words by Pt A M. Srinivasachariar, G. A Natesan and Co., Madras

कालिदासविरचित रघुवश
अश्वघोषविरचित बुद्धचरित
भारविविरचित किरातार्जुनीय
माघविरचित शिशुपालवध
जयदेवविरचित गीतगोविन्द

बृहत्स्तोत्ररत्नाकर, प० श्रीलाल उपाध्याय द्वारा सगृहीत मुम्बई १९३७

दण्डिविरचित दशकुमारचरित, मोरेश्वर रामचन्द्रकाले द्वारा टिप्पणी आदि से सस्कृत, शारदाक्रीडनमुद्रायन्त्रालय मुम्बई शकाब्द १८२२

बाणविरचित कादम्बरी पूर्वभाग, मोरेश्वर रामचन्द्रकाले द्वारा सशोधित, मुम्बई वैभव मुद्रायन्त्रालय मुम्बई शाके १८५०

सस्कृतगद्यमञ्जरी, सम्पादक और सग्रहकर्ता चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास साहित्यनिकेतन कानपुर १९५३

दर्शन-ग्रन्थ

वैशेषिक दर्शन

अन्नभट्टविरचित तर्कसग्रह, महादेव राजाराम बोडास की भूमिका तथा अग्रेजी अनुवाद सहित, बम्बई सस्कृत तथा प्राकृत सीरिज न० ५५,

केशवमिश्रविरचित तर्कभाषा, चिन्नभट्टविरचित टीका सहित, भण्डारकार प्राच्यविद्यासशोधनमन्दिर पूना

सदानन्दप्रणीत वेदान्तसार, कर्नल जे ए. जैकब द्वारा सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३४

ईश्वरकृष्णविरचित साख्यकारिका, प० शिवनारायणशास्त्रि-विरचित सारबोधिनी व्याख्या तथा टिप्पणी से युक्त, साख्यतत्त्व-कौमुदी से विभूषित, निर्णयसागर प्रेस १९४०

